प्रकाशक
श्री मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रथम बार : १६४८
मूल्य
साढ़े चार रुपए

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस, दिल्ली, १०-४८

दो शब्द

अपने कुछ संस्मरणों, या जीवन-प्रवाह के कुछ बहे-बिखरे जल-कणों को बाँधने का मैंने इन पृष्ठों में प्रयास किया है। जिन असंख्य जल-कणों ने मेरे प्रवाह को बनाया उनमें से किसे तो सामान्य कहा जाये, और किसे विशेष ? जल-कण तो सभी एक हैं। फिर भी, सुर-सरिता की स्तुति की जाती है; दूसरी सहस्रों नदियों की उपेक्षा। और गटर से बहनेवाले प्रवाह को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जल-कण उतरते तो सब ऊँचाई से ही हैं; पर अलग-अलग संसर्ग, भिन्न-भिन्न प्रयोग या साधन जगत् में किसीको तो वन्दनीय बना देते हैं और किसीको निन्दनीय। किन्तु सबसे बड़ी संख्या तो उन जल-कणों की होती है, जो आदि से अन्ततक सदा उपेक्षित ही रहते हैं। उनपर किसकी दृष्टि जाती है ?

सदात्माओं की जीवन-कथाएँ सामने आई हैं, और दुरात्माओं की भी। पर जिन करोड़ों के कार्यक्षेत्र सदा क्षुद्र और सीमित रहे, जिनके प्रवाह-पतित साधनों का मूल्य भी नहीं आँका गया, उनकी ओर कोई झाँकने भी नहीं जाता। स्वयं भी अपने विषय में उन्होंने मुँह नहीं खोला; हिम्मत भी नहीं पड़ी।

मुझ-जैसों को स्वभावतः सदा संकोच और भय रहा कि कहीं कोई यह न कह बैठे कि—"अच्छा ! ये क्षुद्र मानव भी अब 'आत्म-कथाकारों' की सूची में अपने नाम लिखाने जा रहे हैं ! यह इनकी धृष्टता और निर्लज्जता नहीं तो क्या है ?"

तब, मैं इसे आत्म-कथा का नाम नहीं दूँगा। यह तो जीवन की कुछ साधारण-सी घटनाओं और अनुभूतियों की एक

मामूली अभिव्यंजना है। जीवन के सहज प्रवाह को मैंने उसके सहज रूप में ही देखा है, इसलिए इसमें न तो कोई गहरी जीवन-समीक्षा मिलेगी, और न कोई ख़ास शोध या साधना ही।

लिख डालने का मन तो इसलिए हुआ कि ऐसी ही घटनाएँ शायद दूसरों के भी जीवन में घटी हों, अनुभूतियाँ भी शायद ऐसी ही हुई हों या आगे चलकर हों, तो मेरे जीवन-प्रवाह के उतार-चढ़ाव के साथ मिलान करना उनके लिए कदाचित् अच्छा ही होगा। तुलना का तो सदा आदर ही हुआ है। उपमेय और उपमान को एक दूसरे से काफ़ी मिला है। महत् और अल्प ने मिलकर कभी कुछ खोया नहीं। मानव-समाज को बड़ों से ही सब कुछ मिला हो ऐसी बात नहीं है, छोटों ने भी उसे बहुत कुछ दिया है। विनिमय जान में हुआ हो या अनजान में, उसके महत्त्व को कौन स्वीकार नहीं करेगा ?

जीवन को मैंने प्रवाह का रूपक देकर ग़लती नहीं की। प्रत्येक घटना भले ही अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हो, पर जीवन के साथ तो उसका 'एकरूपता' का ही सम्बन्ध है न ? प्रवाह का और काल का पृथक्करण कौन कर सकता है ? देखने-वाला भले ही जीवन को समय-समय पर आंशिक रूपों में देखता रहा हो—और मैंने भी स्वभावतः यही किया है, पर अपने आपमें तो जीवन का प्रवाह संपूर्णतया एक है अविच्छिन्न है। और अन्त में तो सारे ही प्रवाहों का प्रयास ज्ञात या अज्ञात रूप में उस महार्णव में अपने आपको मिला देने का है।

वियोगी हरि

विषय-सूची

: १ :

वे तीर्थ-स्वरूप

पुराना-सा वह कच्चा दरिद्र घर; सामने कंगूरेदार गढ़ी का खड़ा-पड़ा खंडहर। बिना जगत का खारा कुआँ, और उसके ऊपर सुबह-शाम पनिहारिनों की चखचख। बगल में छोटा सा शिवाला, और उसके पिछ-वाड़े सीताफल के पाँच-सात घने पत्तों के हरे-हरे झाड़। मोहल्ले की कच्ची, मगर साफ़-सुथरी गली। वह सारा दृश्य आज भी मेरी आँखों में वैसा ही झूल रहा है। पाँच साल का था, तब की भी मुझे कुछ-कुछ धुँधली-सी याद बनी हुई है।

मेरे नाना कंगूरेदार गढ़ी की बड़ी रोचक कहानी सुनाया करते थे। बाँदा के गोसाइंयों की गढ़ी थी वह। गोसाइंयों का तब बड़ा वैभव था। गढ़ी के सामने उनके मस्त हाथी झूमा करते थे। गृह-युद्ध के बाद ये लोग बाँदा से छतरपुर चले आये थे। यहाँ इनके भारी राजसी ठाटबाट थे। पर अब तो उन खंडहरों के अन्दर दिन में भी पैठते डर लगता था। रात को गढ़ी के टूटे कंगूरों पर उल्लू बैठते थे। उनका भयावना रोदन सुनकर मैं काँप जाता था। कुआँ भी वह डरावना लगता था। घर में कुछ कलह हुआ कि औरतें उसमें गिरने के लिए झट जा दौड़ीं! केवल एक शिवाला सुन्दर लगता था। जाड़ों में मोहल्लेभर के बच्चे

वहीं सवेरे की धूप में खेलते और पढ़ते थे। शिवरात्रि को हम लोग बड़े चाव से शिवजी का शृङ्गार किया करते थे। इस शिव-मन्दिर में तुलसी-कृत रामायण के मैंने दो-तीन नवाह्न-पारायण भी किये थे।

और उस कच्चे घर के साथ तो मेरी कितनी ही मधुर स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं। मोहल्ले में धनिकों के कई अच्छे पक्के मकान थे, एक-दो हवेलियाँ भी थीं। पर मेरे लिए तो वह कच्चा घर ही सब कुछ था। उस घर की एक-एक दीवार, छप्पर की एक-एक लकड़ी जैसे जीवन के अनेक संकेतों से भरी हुई थी। पूरे इक्कीस वर्षतक उस राममढ़ैया में मैंने बहुत-कुछ पाया। वहीं खेला, वहीं खाया। हँसा भी वहीं, रोया भी वहीं। वहाँ जनन देखे, और मरण भी देखा। मरण केवल अपने नाना का। उस मरण-दृश्य ने मुझे जो अनित्यता का अनुभव कराया वह अपूर्व था। उससे पहले मृत्यु का मैंने इतने समीप से दर्शन नहीं किया था। पर उसे मैं जोवन का स्वच्छ दर्शन क्यों न कहूँ ?

त्यौहार और उत्सव भी उस घर के खूब और वारवार याद आते हैं। तो दीवाली से शुरू करूँ। माँ और मेरी मामी दशहरे से ही लाल मिट्टी से और फिर गोबर से चौतरे और दीवारें लीपने-पोतने लगती थीं। सफेद मिट्टी लेने छुईखदान उनके साथ मैं भी जाया करता था। आँगन में गोबर के 'गोवर्द्धन देव' थापे जाते, और अन्नकूट की पूजा होती। कार्तिक का नहान भी कभी भूलने का नहीं। मोहल्लेभर की स्त्रियाँ तारों की छाँह में ही तालाबों पर नहाने चली जाती थीं। 'दहीरा लैकैं आजाऊँगी बड़े भोर' आदि उनके कातिक-नहान के गीत बड़े श्रुति-मधुर होते थे। कई स्थानों पर रासलीला भो होती थी। पूरा कार्तिक मास

उत्साह और उत्सव में बीतता था। मकरसंक्रान्ति के दिन, सिंघाड़ी नदी पर, बड़े लड़के हम लोग पर्वस्नान करने जाते थे। मेरी नानी संक्रान्ति पर नाना प्रकार के पकवान बनाया करती थीं। आषाढ़ में औरतें गाँव के बाहर, देवी-देवतों के मंदिरों के आसपास, गकड़ियाँ (बाटियाँ) खाने जातीं। साहैं (पके आम) वहाँ खूब चूसने को मिलती थीं। सावन की कजलियों की सवारी भी धूमधाम से निकलती थी। कृष्ण-जन्माष्टमी की झाँकी हमारे घर पर सजाई जाती थी। गान-वाद्य के साथ सात-आठ दिन हम लोग नन्दोत्सव मनाते थे। मुझे याद है कि एक ऐसे ही उत्सव पर मेरे उदार हृदय नाना नें भक्ति-विह्वल होकर घर का बहुत-सारा चाँदी का जेवर कीर्त्तन करनेवालों को दे दिया था। फिर रास-लीला के दिन आजाते। महीनों से मैं रामलीला की बाट जोहता था। 'जल-विहार'का मेला तो हमारे यहाँ का दूर-दूरतक प्रसिद्ध था। मोहर्रम भी खूब धूमधाम से मनाया जाता था। हमारे छतरपुर के ताज़िये मशहूर थे, और अब भी हैं। ऊदलसिंह का अबरख का ताज़िया कितना कला-पूर्ण बनता था! हिन्दू-मुसलमान के बीच तनावट का तब कोई सवाल ही नहीं था, और आज भी उधर यह ज़हर नहीं पहुँच पाया। एक-दूसरे के त्यौहारों में हिन्दू और मुसलमान बड़े प्रेम से हिस्सा लेते थे। ताज़ियों के मेले में हम छोटे-छोटे बच्चे रेवड़ियाँ और मसाला खरीदते थे।

यह मेरे जन्मस्थान छतरपुर की बाल-कहानी है। छतरपुर बुन्देल-खण्ड की एक छोटी-सी रियासत थी। वहीं, संवत् १९५२ की राम-नवमी के दिन, एक ग़रीब ब्राह्मण-कुल में मेरा जन्म हुआ। छह या सात महीने का था कि पिता का स्वर्गवास होगया। लालन-पालन मेरे

नाना पंडित अच्छेलाल तिवारी ने किया। मुझपर वह बहुत स्नेह करते थे। स्वभाव के क्रोधी थे, पर जहाँतक मुझे याद पड़ता है, मुझपर मेरे नाना कभी नाराज़ नहीं हुए। घर की स्थिति हमारी बहुत साधारण-सी थी, पर उनके वात्सल्य-स्नेह के कारण मुझे कभी किसी अभाव का अनुभव नहीं हुआ। मेरा बाल्यकाल सुख में ही बीता।

नाना को राज्य से १५) मासिक पेंशन मिलती थी। और, घर की कुल यही-आय थी। नाना अच्छे गुणी थे। सितार बड़ा बढ़िया बजाते थे। सङ्गीतज्ञ भी ऊँचे दरजे के थे। मुझे याद है, जब उन्होंने कलकत्ते के मशहूर पखावजी भृगुनाथ वर्मा को राज-दरबार में परास्त किया था। सितार पर तीन-चार गतें, जब मैं नौ-दस बरस का था, मुझे भी सिखाई थीं। पर मेरा मन उसमें लगा नहीं। मेरे मामा पंडित भगवानदास तिवारी ने अलबत्ता उनसे सितार बजाना अच्छी तरह सीखा था। अभ्यास मामाजी का इधर छूटा हुआ है, फिर भी खासा बजा लेते हैं। जवानी के दिनों में कुश्ती भी मेरे नाना अच्छी लड़ते थे। अपने ज़माने के कई नामी-गरामी पहलवानों को उन्होंने पछाड़ा था। बन्दूक और तलवार चलाने का भी उन्हें शौक़ था।। झाँसी में महारानी लक्ष्मीबाई का अद्भुत पराक्रम उन्होंने अपनी आँखों देखा था। पढ़े-लिखे खुद बहुत मामूली थे, पर मुझे उन्होंने बड़े प्रेम से पढ़ाया।

पंडित अच्छेलाल तिवारी स्वभाव के काफ़ी क्रोधी थे, पर हृदय उनका बालकों के जैसा सरल व मधुर था। बड़े दयालु थे। किसीका दुःख देख नहीं सकते थे। सूर तथा तुलसी के पदों को गाते-गाते भक्ति-गद्‌गद हो जाते थे। मोहल्लेभर की बहू-बेटियाँ उनसे भय खाती थीं,

उनकी आन मानती थीं।

मेरी नानी भी मुझे खूब प्यार करती थीं। मेरे लिए न जाने क्या-क्या खाने-पीने की चीज़ें सेंत-सेंतकर रखती थीं। हाट-बाज़ार और गाय-भैंस की ग्वालजी (ढोरों की सेवा) प्रायः वेही करती थीं। बेचारी सबकी सुन लेती थीं। सबको राज़ी रखती थीं। पर अधिकतर वह दुखी ही रहीं। बुढ़ापे के दिन उनके काफ़ी कलेश में कटे। अंत में अंधी भी हो गई थीं। मैं उनकी कुछ भी सेवा न कर सका—आर्थिक सहायता भी न पहुँचा सका, इसका सदा पछतावा ही रहा। माँ हमेशा मेरे साथ तो रहीं, पर उनसे मेरा उतना लगाव नहीं रहा, जितना कि नानी के साथ।

बाल्यकाल में घर की ग़रीबी जो मुझे खली नहीं इसका मुख्य कारण नाना और नानी का मेरे ऊपर अत्यधिक लाड़-प्यार ही था। बचपन में सुनहरे पंख लगाकर उड़ा, झोंपड़ी में मैंने महल पाया, आगे की कल्पना-भूमि पर एक सुन्दर बुनियाद भी रखी—यह सब इन्हीं दोनों गुरुजनों की बदौलत। तीर्थ-स्वरुप वे दिवंगत आत्माएँ मेरी तुच्छ स्मृति-श्रद्धांजलि स्वीकार करें।

: २ :

मेरी जन्म-भूमि

मेरा जन्म स्थान छतरपुर, बुन्देलखण्ड का, एक छोटा-सा क़स्बा है। जन-संख्या उसकी कोई बारह हज़ार होगी। पर मेरी दृष्टि में तब मेरा छतरपुर किसी भी नगर से छोटा नहीं था। सचमुच मेरे लिए तो वह बहुत बड़ा नगर था। बड़ा सुन्दर था, बड़ा सुखद था। छतरपुर पर मुझे गर्व था। हरी-भरी पहाड़ियाँ, छोटी-सी हमारी सिंघाड़ी नदी, दो-तीन अच्छे तालाब, टेकरियों पर श्री जानराय और हनुमानजी के मंदिर मेरे लिए वे सब कितने आनन्दप्रद और कितने आकर्षक थे! चौक बाज़ार और शानदार राजमहल के भव्य चित्र तो हमेशा मेरी आँखों के सामने रहते थे। बुन्देलखण्ड-केसरी महाराजा छत्रसालने इस सुन्दर ऐतिहासिक नगर को बसाया था। बीच बाज़ार में छत्रसाली झंडा वहाँ फहराया करता था।

बुन्देलखण्ड मध्यभारत का बड़ा सुन्दर भू-भाग है। इस प्रदेश का प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास खासा समृद्ध है। इसके प्राचीन नाम 'दशार्ण' और 'जेजाकभुक्ति' हैं। वाल्मीकि ने रामायण में और कालिदास ने 'मेघदूत' में इस पुण्य प्रदेश के मनोज्ञ चित्र अंकित किये

हैं। विन्ध्यभूमि की लावण्यमयी वनश्री देखते ही बनती है। छोटी-छोटी हरी-भरी पहाड़ियाँ, काली चट्टानों के साथ खेलती हुई चंचल फेनिल नदियाँ, कई ऊँचे-ऊँचे प्रपात और सुन्दर झरने, सैकड़ों स्वच्छ सरोवर और सघन वन-समूह किस प्रकृति-प्रेमी को मुग्ध न कर लेंगे। सचमुच बेतवा और केन के अंचलों पर के मनोरम दृश्यों को एक बार जिसने देख लिया, वह कभी उन्हें भूलने का नहीं। चित्रकूट का प्राकृत चित्राङ्कण भला कौन चित्त से उतारना चाहेगा? खजुराहे के कला-पूर्ण मन्दिरों पर कौन यात्री मोहित न हो जायेगा? चन्देलों के समय की वास्तुकला के ये अद्भुत नमूने हैं। देवगढ़ की मूर्ति-निर्माण कला भी आश्चर्यकारक है।

भारत के इस भव्य भू-भाग पर बहुत कम, बल्कि नगण्य-सा शोध-कार्य हुआ है। विन्ध्य-भूमि की न जाने कितनी अद्भुत शिलाएँ अन्धकार में जहाँ-तहाँ दबी पड़ी हैं। उनकी भाल-लिपि कौन तो पढ़े, और कौन उनका रहस्यपूर्ण अर्थ लगाने का कष्ट उठाये! इस विराट् कार्य के लिए एक नहीं, अनेक वृन्दावनलाल वर्मा चाहिए। मेरे मित्र पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रेरणा से निस्संदेह कुछ सांस्कृतिक चर्चा का सूत्रपात हुआ, पर वह समुद्र में बूँद के समान रहा।

प्रकाश में आये या न आये, यह सब अतीत की संपदा है। किन्तु इस प्रदेश का वर्तमान भी अब कुछ-कुछ प्रकाश में आ चला है।

कलतक तो प्रायः सभी दृष्टियों से यह प्रदेश भारत का एक घोर अँधेरा कोना था। पहले तो इन्दौर, भूपाल, रतलाम, झाबुआ आदि पाँच-सात राज्य ही अखबार पढ़नेवालों की दृष्टि में मध्यभारत के

देशी राज्य माने जाते थे। बुन्देलखण्ड के इन अभागे राज्यों की ओर तो देश का ध्यान जाता ही नहीं था। यहाँ का चित्र बहुत कुत्सित और बीभत्स रहा है। सारी शोभा और वास्तुकला को इस काले चित्र ने अपनी कुरूपता मे ढक-सा लिया था।

दुर्भाग्य से इस अँधेरे कोने की ओर कभी कोई झाँकने भी नहीं जाता था। कोई भूला-भटका यात्री इधर कभी पहुँचा भी, तो उसने या तो खजुराहे या देवगढ़ की स्थापत्य-कला का कुछ साधारण-सा वर्णन लिख डाला, या बेतवा, केन और धसान के सुन्दर दृश्यों पर एकाध कविता या लेख लिख दिया। बहुत हुआ तो वसंतोत्सव या साहित्य-समारोह मनाने की कोई सुन्दर-सी योजना बना डाली। किन्तु प्रजा जहाँ अत्याचारों के नीचे बुरी तरह पिस रही हो, कलप-कलपकर भूखों मर रही हो, जीवन जागरण का जहाँ कोई चिह्न भी न दिखाई देता हो, वहाँ मुझे तो ये सारी साहित्यिक और सांस्कृतिक योजनाएँ असामयिक और अनावश्यक-सी मालूम देती थीं।

बुन्देलखण्ड एवं बघेलखण्ड के रजवाड़ों की कहानी बड़ी करुणाभरी रही है। युग-काल की प्रगति से विन्ध्यप्रदेश आज भी प्रायः पीछे ही है। सौ बरस पहले ऐसी जागृति या स्वातंत्र्य-भावना नहीं थी यह सही है, मगर प्रजा में तब समृद्धि और शक्ति थी। फिर तो जैसे वहाँ कुछ भी नहीं रहा—न कोई आकांक्षा, न आशा। अस्थि-कंकालों के भीतर प्राण-ज्योतिभर टिमटिमा रही थी। प्रजा को अपनी वर्त्तमान स्थिति में ही झूठा संतोष मानने का आदी बना दिया गया था। सामान्य लोग इतने भाग्यवादी और इतने जड़ हो गये कि उन्हें अपनी गिरावट या

दासता की याद भी नहीं आती थी।

आर्थिक स्थिति लोगों की बहुत गिर गई। मैंने वहाँ न कहीं कोई उद्यम देखा न उद्योग। शिक्षा की दिशा में भी घोर अन्धकार। काल चक्र से, कुसंस्कार और मूढ़ विश्वास जड़ पकड़ गये। पुरुषार्थ सारा लुप्त हो ग । आगे बढ़ने-बढ़ाने का न कोई साधन रहा, न अवसर।

प्रजा का रक्त-शोषण बहुत बुरी तरह किया गया। राजाओं को रिआया के सुख-दुःख की रत्तीभर पर्वा नहीं थी। राज्य के कोष को ये अपनी संपत्ति मानते थे। विलासिता में आकंठ-मग्न। इनके नारकीय जीवन की घिनौनी कहानियाँ हैं। इनके अत्याचारों को सुन-सुनकर हृदय काँप उठेगा। दिनदहाड़े वहाँ लूट होती थी। खूनतक कर दिये जाते थे। प्रजा की बहू बेटियों की लाज सुरक्षित नहीं थी। मनुष्य की जान का मूल्य चालीस-पचास रुपये से ऊपर नहीं लगाया जाता था! शिकार में जब कोई हाँके का आदमी शेर के पंजों से, या ग़लती से बंदूक चल जाने से, मौत के मुँह में चला जाता, तो उसकी औरत या माँ को चालीस-पचास रुपये बतौर इनाम के दे दिये जाते थे। ऐसी घटनाओं को मैंने ख़ुद अपनी आँखों से देखा था।

एक राज्य का एक जुल्म तो मैं आज भी नहीं भूला हूँ। एक मेहतर का लड़का अपने रिश्तेदार की साइकिल पर राजमहल के सामने से जा रहा था। इस बेअदबी पर उसकी साइकिल ज़ब्त करली गई, ऊपर से उस उद्दण्ड लड़के पर जूते भी पड़े! महल के सामने से कोई छाता खोलकर नहीं जा सकता था! नंगे सिर निकलना भी किसी-किसी राज्य में जुर्म माना जाता था! यह बात तो कल्पना से परे थी कि राजा या

राजकुल का कोई भी व्यक्ति अथवा कोई ऊँचा अधिकारी ही आपके मकान के सामने से जा रहा हो, और आप कुर्सी या चारपाई पर बैठे रहें, और उठकर उसे अदब से मुजरा न करें।

राजा, रानी या राजमाता के स्वर्गारोहण पर प्रजा को सूतक में शामिल होना पड़ता था, मूँछें मुँड़ानी पड़ती थीं! और मूढ़ प्रजा ऐसे-ऐसे अपमानों को अपना धर्म समझती थी! भोली-भाली प्रजा ही नहीं, स्वयं राजा भी अपने-आपको 'नरों में नारायण' मानता था! कविजन उसका यशोगान करते, खुशामदी सरदारों से वह हमेशा घिरा रहता, और प्रजा हाथ जोड़-जोड़कर उसकी स्तुति किया करती थी!

ब्रिटिश-छत्रछाया के नीचे राजा चालाक या कूट-नीतिज्ञ अधिक हो गया था। बचपन से ही अँग्रेज़ों के सम्पर्क में रहकर वह काफ़ी धूर्तता सीख गया। अँग्रेज़ों के दुर्गुण तो उसने अनेक ले लिये थे, गुण उनका एक भी नहीं। वह स्वयं अच्छा शिक्षित था, पर अपनी प्रजा को बिल्कुल निरक्षर रखना चाहता था—उसे भय था कि रिआया शिक्षित हो जाने से किसी दिन विद्रोही भी बन सकती है। ब्रिटिश भारत का कोई छोटा-मोटा नेता या पत्रकार—जिससे वह काफ़ी भयभीत रहता—जब वहाँ पहुँच जाता, तो उससे वह बड़ी धूर्तता से बात करता था। देश-भक्ति का भी स्वाँग भरता, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के प्रति श्रद्धा भी प्रकट करता—प्रजा की खातिर अपना राज-सिंहासनतक छोड़ने को तैयार हो जाता था! बेचारा आगन्तुक उसके उच्च उद्‌गारों पर मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता था। पर उसके पीठ फेरते ही वह धूर्त फिर अपने असली रूप में आ जाता। पीठ-पीछे देश के

बड़े-बड़े नेताओं की खिल्ली उड़ाता, उन्हें बुरी-से-बुरी गालियाँ देता था। राष्ट्र-पताका से वह घृणा करता, और खादी पहननेवालों को सदा सन्देह की दृष्टि से देखता था।

कभी-कभी प्रजा के कुछ जाग उठने व खड़े होजाने के परिणामस्वरूप किसी-किसी राज्य में मामूली-से कुछ सुधारों की घोषणाएँ भी सुनने में आती थीं, पर उन घोषणाओं का असल में कुछ भी मूल्य नहीं था। अखबार पढ़नेवाले धोखे में आ जाते थे। असल में, ये लोग स्वेच्छा से अपना एक भी अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं थे। 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' ये अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे। और, प्रजा में उसे छीन लेने की ताक़त नहीं थी। साधारण प्रजा ने तो अपना यह सूत्र बना रखा था—"पहाड़ से सिर मारोगे तो तुम्हारा ही सिर फूटेगा, पहाड़ का क्या बिगड़ना है?" कुछ वर्ष पहले पड़ोस के अंग्रेजी इलाके से कुछ प्रेरणा पाकर छतरपुर की रिआया ने ज़रा-सा सिर उठाया। पुलिस और फौज की मदद से फ़ौरन उन राज-विद्रोहियों को दबा दिया गया। कुछ आदमी गोली से भी उड़ा दिये गये। अखबारों में इस हत्याकाण्ड के बारे में एक शब्द भी नहीं आया। कई साल बाद मुझे इसका पता चला। बाहर खबर भेजने की किसीको हिम्मत भी नहीं पड़ी।

ऐसे-ऐसे अत्याचार तो प्रायः सभी देशी राज्यों में होते थे। फिर बुन्देलखण्ड के ही राज्य क्यों क़सूरवार ठहराये जायें? ठीक है। पर

अन्य राज्यों की प्रजा की कुछ-न-कुछ आवाज़ बाहर तो पहुँच जाती थी। वहाँ का काला पक्ष कम-से-कम दुनिया के सामने तो आ जाता था। दूसरे राज्यों के जुल्मों की कहानियाँ भी मैंने काफ़ी सुनी हैं। पर बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की रियासतों के काले कारनामे और जुल्म तो सचमुच बड़े भयंकर थे। वहाँ शासन के नाम पर क्या क्या नहीं होता था!

अंग्रेजी सार्वभौम सत्ता को हर तरह से प्रसन्न रखकर ये प्रजा-पीड़क नरेश अपने को पूर्णतया सुरक्षित समझते थे। अंग्रेजों को रिझाने के इनके क्या-क्या तरीके थे, इसका एक उदाहरण यहाँ देता हूँ। एक राज्य में श्रीबाँकेविहारीजी का एक प्रसिद्ध मन्दिर था। पोलिटिकल एजेण्ट मि० प्रिचर्ड के प्रीत्यर्थ उस मन्दिर का नया नाम-संस्कार किया गया—नया नाम उसका "श्रीप्रिचर्ड-विहारी टेम्पल" रखा गया। और एक दूसरा नरेश नित्य प्रातःकाल पुष्पांजलि लेकर बड़ी श्रद्धा-भक्ति से पोलिटिकल एजेण्ट के फोटो की वन्दना और स्तुति किया करता था!

इन राज्यों की ऐतिहासिक कीर्त्ति चाहे जो रही हो, पर बाद का तो इनका यह घृणित चित्र था! किन्तु शोक! इनकी संरक्षिका विदेशी प्रभु-सत्ता भारतसे सदा के लिए उठ गई, और ये प्रजा-पीड़क नरेश आश्चर्य से ताकते रह गये! लौहपुरुष सरदार पटेल इन्हें पापड़ की तरह चबा गया। देखते-देखते सारा दृश्य बदल गया। अब इस प्रदेश के भी अच्छे दिन आगये हैं। यह आशा करनी व्यर्थ थी, बल्कि दिवास्वप्न था, कि ये राजे-महाराजे कभी प्रजा के 'ट्रस्टी' बनकर रहेंगे। इनका हृदय कभी पलट नहीं सकता था।

चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्थातक तो मुझे अपने जन्म-स्थान की दुरवस्था का कभी भान भी नहीं हुआ—वहाँ के कष्टों और अभावों का कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। मेरे लिए भी सब की तरह वहाँ का सब-कुछ सुन्दर और सुखद ही था। वह छोटी-सी नगरी उन दिनों मेरी दृष्टि में सचमुच अलका या अमरपुरी थी। असन्तोष या विराग होने का तबतक कोई कारण ही न था। किन्तु दुर्भाग्य या सद्भाग्य से कुछ समझ आने पर वह स्वर्ग-सुख धीरे-धीरे चुभने-सा लगा। थोड़ी-थोड़ी जागृति आने पर बचपन के सुनहरे पंख मेरे एक-एककर झड़ने लगे। उल्लास के हिंडोले की रस्सियाँ टूट गईं। मैं अब तड़फड़ा रहा था।

: ३ :

नरक कहूं या स्वर्ग?

हमारे घर के पिछवाड़े काछियों का मोहल्ला था। ये लोग या तो साग-भाजी उपजाते और बेचते थे, या डेढ़-दो आने रोज़ की मेहनत-मजूरी कर लेते थे। औरतों को एक आना रोज मिलता था। सब मोटा-झोटा खाते, और चीथड़े पहनते थे। बरतनों के नाम काली हंडिया, काठ की कलछी और मिट्टी का तवा। फिर भी अपने रंग में मस्त रहते थे। रात के पिछले पहर गीत के साथ इनकी झोंपड़ियों में जाँतों का सुर बड़ा सुहावना लगता था। अथाइयों पर आधी-आधी राततक हमारे ये ग़रीब पड़ोसी सरंगी और डफली के स्वर-ताल में बड़े प्रेम से गाते थे। औरतें उधर तबतक रोटी तैयार कर लेती थीं। ब्याह-शादियों में इनकी स्त्रियाँ खूब घूम-घूमकर नाचती थीं। और फाग के दिनों में इनके रंगीले ज़ुलूस निकलते थे। कोई बीमार पड़ जाता या मोहल्ले पर कोई और आफत आ जाती, तो इनकी 'जात्रा' लगती थी। गाते-गाते किसी भगत के सिर भैरों बाबा आ जाते थे, तो किसी-के सिर काली माई। किसीको वह शाप दे डालते थे और किसीको वर-दान! आतंक से सन्नाटा छा जाता था।

नवरात्र में, या जब गाँव में माता का प्रकोप फैलता तब, सारी रात ये लोग महामाई के 'हो माँ' या भजन गाते थे। बचपन में मुझे उनका यह भजन बड़ा प्रिय लगता था--

दिन की उवन, करन की वेरा,
सुरहिन वन कों जाय हो माँ;
इक वन नाँघ दुजे वन पहुँची,
तीजे सिंघ दहाड़ो हो माँ।

भगत लोग नवरात्र में धधकते हुए अंगारों का खप्पर लेकर जवारों के जुलूस में निकलते थे; और उनके गालों में लोहे की लम्बी-लम्बी साँगें छिदी होती थीं।

काछी, कुर्मी, नाई, ढीवर और कुम्हार की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं था। सबसे बुरी हालत तो वहाँ चमारों और बसोरों की थी, और आज भी है। इनके साथ लोगों का बर्ताव जानवरों से भी बुरा था। लोग इनसे गालियों और जूतों से बात करते थे। पर जहाँतक गरीबी का प्रश्न है, नानो (छोटी) जात के कहे जाने-वाले लोग लगभग सभी एकसमान थे। बहुत-से ब्राह्मण और ठाकुर भी भूखों मरते थे। यह तो राजधानी की हालत थी। देहात की प्रजा का हाल तो और भी बुरा था। आज भी लोग उधर अधिकतर कोदो, कांकन, सामा और कुटकी की रोटी खाते हैं। एक और मोटा धान्य 'बसारा' या 'लठारा' नाम का इन इलाकों में पैदा होता है, जो घास की कोटि में आता है। इसकी रोटी खाने से मल इतना सख़्त उतरता है कि कभी-कभी मल के साथ खूनतक आ जाता है।

चौमासे में घास-पात तोड़-तोड़कर उसका साग उबाल लेते हैं; नहीं तो नमक की डली और लाल मिर्च तो है ही। दाल का दर्शन तो अमावस-पूनों को ही होता है। और यह काली-कलूटी मोटी रोटियाँ भी बारहों मास नहीं मिलतीं। दो-तीन मास तो ये लोग महुए और गुलैंदे (महुए के फल) खा-खाकर काट देते हैं। डूबरी (महुए की लपसी) और मुरका (भुने महुए और तिल) की गणना वहाँ के स्वादिष्ट व्यंजनों में की जाती है। कहा भी है—

महुआ मेवा, बेर कलेवा,
गुलगुच बड़ी मिठाई।

गुलैंदे का एक नाम 'गुलगुंच' भी है। बिरचुन (गुठली-सहित जंगली बेरों का चूरन) को पानी में घोल-घोलकर नमक के साथ गर्मियों में बड़े स्वाद से खाते हैं। बिरचुन यहाँ सत्तू का काम देता है। तालाब के पास गाँव हुआ तो वहाँ के अधिकांश लोग कसेरू-और मुरार (कमल की जड़) पर दो-तीन महीने गुज़ार देते हैं। जड़ों की रोटियाँ भी पका लेते हैं। बचपन में इन स्वादिष्ट व्यंजनों का मैंने भी कितनी ही बार रसास्वादन किया था।

गेहूँ की रोटी इन ग़रीबों को कहाँ नसीब होती है। मुझे याद है कि एक बुढ़िया काछिन अपने बीमार नाती के लिए हमारे घर से जौ के आटे के दो फुलके और आम का अचार मेरी नानी से माँगकर ले गई थी। बीमार बच्चे का वह पथ्य था। और इस पथ्य से, वह कहती थी, उसके नन्हें की तिजारी चली गई थी। कैसा दूध, और कैसे फल! कुनैन का तो काम देता है वहाँ नीम की छाल का काढ़ा,

और मट्ठा और जौ-चने की रोटी या कुदई (कोदों का चावल) को समझ लीजिए आप उनका दूध और फल। अब आज जब आहार-विज्ञान पर साहित्य पढ़ा और सुना, तो देखता हूँ कि यह शास्त्र तो उनके लिए है, जिन्हें ज़रूरत से ज्यादा आहार मिलता है, और जो उसे पचा नहीं सकते। बेशक, वह बैठे-बैठे विश्लेषण किया करें कि उनके उदर में क्या-क्या विटेमिन पहुँच रहे हैं, या पहुँचने चाहिएँ !

पथ्य के सिलसिले में ऊपर मैंने मट्ठे का नाम लिया है। मट्ठे से मतलब मेरा सफेद खट्टे पानी से है। चार-पाँच दिन के जमा किये हुए दो-तीन सेर दही की छाछ में एक मटका पानी मिलाकर मट्ठा तैयार किया जाता है। मोहल्लेभर की औरतें उस मट्ठे को माँग-माँगकर ले जाती हैं। गाय उधर की पाव-आध सेर दूध देती है, और भैंस तीन पाव से सेर-सवा सेरतक। घर में लोग दूध-घी नहीं खाते। घी जमा करते जाते हैं और सस्ते भाव बेच देते हैं। यह पशु-धन भी विरले भाग्यवानों के ही घरों में मिलेगा।

मैंने एक दिन दिल्ली के अपने एक राष्ट्रकर्मी मित्र को उधर की इस ग़रीबी का वर्णन सुनाया, तो उन्हें मेरे कथन पर विश्वास नहीं हुआ। बोले—"यह तो आपकी अत्युक्ति है। मैं भी तो गाँव में रहता हूँ। मैं भी गाँवों में 'जाट-रोटी' और छाछ पर गुज़र करता हूँ।"

"ठीक है," मैंने कहा, "पर आपकी 'जाट-रोटी' और हमारी कोदो-बसारा की रोटी में, भाई साहब, बहुत बड़ा अंतर है। कहाँ तो जनाब, आपकी गेहूँ-चने या बाजरे की स्वादिष्ट घी-चुपड़ी रोटी, और कहाँ हमारा काले उपले के मानिन्द मिट्टी के जैसा भुरभुरा कोदो और

बसारों का बिल्कुल निस्सत्व रोट ! हमारे यहाँ ज्वार की रोटी बड़े स्वाद से अच्छे-अच्छे घरों के लोग खाते हैं; आपके गाँवों में वही ज्वार डाँगरों को खिलाया जाता है। आपके गाँव तो स्वर्ग हैं स्वर्ग। फिर, आपकी वह बढ़िया मीठी छाछ—वह तक्र जो शक्र को भी दुर्लभ है, और कहाँ हमारा वह सफेद खट्टा पानी ! सो मैंने अपने वर्णन में जरा भी अत्युक्ति से काम नहीं लिया।''

फिर भी उनकी मुख-मुद्रा से मालूम होता था कि मेरी बात पर शायद वह विश्वास नहीं कर रहे हैं। काश, खुद जाकर अपनी आँखों से मेरे ग्राम-सेवक मित्र ने एक बार मेरे अभागे प्रांत की हृदय-विदारक दशा देखली होती।

मगर मेरा जन्म जिस वर्ग में हुआ उसके लेखे मेरा खाना-पीना बुरा नहीं था। हम लोग वहाँ मध्यम वर्ग के कहे जाते थे। इस वर्ग के लोगों की संख्या २० प्रतिशत से ऊपर नहीं है। हमारी वहाँ प्रतिष्ठित घरों में गिनती की जाती थी। मेरे घर में एक-दो गायें थीं, और शायद एक भैंस भी। राज्य से एक टट्टू भी नाना को प्रदान किया गया था। बाद को एक पुराना इक्का भी उन्हें बख्शा गया था। अपने बुड्ढे नन्हू खां साईस की मुझे खूब याद है। नई-नई कहानियाँ हमारे नन्हू मियाँ मुझे रोज़ सुनाया करते थे।

खाना मुझे घर के और लोगों से अच्छा मिलता था, क्योंकि मुझपर सभी का लाड़-प्यार था। जाड़ों में रात की बासी रोटियाँ खाकर स्कूल जाता था। बारह बजे से पहले उधर रोटी बनाने का रिवाज नहीं है। रोटियाँ चुपड़ी हुई होती थीं—घी से, जाड़ों में प्रायः तेल से, और

गर्मियों में कभी-कभी पानी से बासी रोटियाँ चुपड़ लेता था। साग-सरकारी तो हमारे यहाँ कभी-कभी ही बनती थी। दाल रोज़। कुदई या कुटकी के चावल अकसर बनते थे। दूध भी पाव-आध पाव मिल जाता था। कभी-कभी पैसे-दो पैसे की मिठाई भी मेरी नानी ला देती थीं।

कपड़े-लत्ते भी मैंने कुछ बुरे नहीं पहने। साल में दो या तीन धोतियाँ फाड़ता था, और शायद इतने ही कुरते। याद पड़ता है कि सन् १९११ में जब मुझे हैडमास्टर साहब के आदेश से अन्य विद्यार्थियों के साथ मर्दुमशुमारी का काम करना पड़ा था, बंद गले का एक काला कोट भी मेरे नाना ने सिलवा दिया था। कोट, बस, वही एक पहना। एक पजामा भी तभी बनवाया था। मर्दुमशुमारी का मुंशी जो बनना था। पहले काली टोपी पहनता था। बाद को साफ़ा बाँधने लगा। जाड़ों में रुईभरी छींट की फतुही पहनता था। परिवार के दूसरे लोगों को इतने सारे कपड़े कहाँ मिलते थे !

मध्यम वर्ग के लोगों को भी मुश्किल से साल में एक धोती-जोड़ा नसीब होता है। स्त्रियाँ बीसियों पैवंद लगी धोती पहनती हैं। लड़कियों के शिक्षण-क्रम में सीना-पिरोना और बेल-बूटों का काढ़ना आज अनिवार्य कर दिया गया है। पर ऐसी हज़ारों-लाखों स्त्रियों को आप किस प्रकार की ललित कला की शिक्षा देंगे, जिनके शरीर पर फालतू तो क्या, ज़रूरी कपड़े भी नहीं ?

और बहुत बड़ी संख्या तो उन ग्राम-वासियों की है, जिनका सारा जीवन चीथड़ों में ही कटता है, जो बारहों मास लगभग नग्न ही रहते हैं। बहुत-से तो सर्दी की लम्बी-लम्बी हड़कम्प रातें पुआल में घुसकर

या आग के पास करवट बदलते-बदलते काट देते हैं। उनके पास एक फटी-पुरानी चादर भी नहीं होती, जिसे रात को अपने काँपते हुए हाड़ों पर डाल लें।

ऐसी नंगी-भूखी जनता, फिर भी, आश्चर्य है, विद्रोह नहीं कर बैठती! ठाकुर लोग डाके डाल लाते हैं, ब्राह्मण भीख माँग खाते हैं, बनिये भी कुट-पिटकर कुछ-न-कुछ बनिज कर लेते हैं। पर दूसरे लाखों आदमी, जिनकी हड्डियों पर केवल चमड़ा मढ़ा है, किस तरह आखिर अपना पापी पेट पालें?

ऐसी हद दरजे की दरिद्रता में मुझे जैसा खाने-पहनने को मिला उससे असन्तोष या कष्ट होने का कोई कारण नहीं था। मैं नहीं कह सकता कि मेरे बचपन के दिन कसाले में कटे। ईश्वर के प्रति कृतघ्न नहीं बनूँगा। अपने से अधिक साधन-सम्पन्न लड़कों को देखकर मन में ईर्ष्या नहीं होती थी। सौभाग्य से सापेक्षता मेरे लिए दुःख और डाह का कारण नहीं बनी। या तो बुद्धि आगे दौड़ती नहीं थी, या फिर मेरे स्वभाव में ही कुछ सन्तोषवृत्ति थी, जिससे बचपन में कोई ऐसी बड़ी आकांक्षा मन में नहीं उठी। दूसरों के अभाव और कष्ट देखकर भी दुःख नहीं होता था। अपनी स्थिति में तो मुझे सन्तोष था ही। घर में चैन की बाँसुरी बजती थी। और राज्य भी हमारा, मेरी दृष्टि में, राम-राज्य था। दुःख का अनुभव न होने में मेरा अज्ञान भी बड़ा सहायक हुआ। घर में जब कभी कलह होता, तब ज़रूर मैं कुछ खिन्न-सा होजाता था। फिर भी लड़कपन में मेरा सुख का ही पलड़ा झुका रहा।

हाँ, एक-दो लम्बी-लम्बी बीमारियों ने अलबत्ता मुझे बड़ी पीड़ा

दी थी। राजनगर में पेचिश से मैं मरते-मरते बचा था। तब मैं सात-आठ साल का था। जिस दवा से मैं अच्छा हुआ था उसपर मेरी आज भी श्रद्धा क़ायम है। सोंफ,सोंठ और खारक(छुहारा)को दो-दो तोला लेकर आधी कच्ची और आधी तवे पर भून लेते थे। तीनों चीज़ों को पीसकर दो तोला मिश्री मिलाकर, दिन में कई बार मैं, पानी के साथ, फाका करता। औषधि बड़ी गुणकारक थी और स्वादिष्ट भी।

ज्वर भी मुझे बचपन में लगातार पाँच महीने आया था। तब मैं कोई ग्यारह बरस का था। ज्वर जीर्ण पड़ गया था। किसी तरह जाता ही नहीं था। बहुत अशक्त हो गया था। अपने आप उठकर बैठ भी नहीं सकता था। लाला सालिगरामजी ने, जो पेशेवर हकीम नहीं थे, मेरा इलाज किया था। दवा का भी पैसा नहीं लेते थे। सचमुच वे पीयूष-पाणि थे। कई दिनों के बाद मूँग की पतली दाल से पथ्य कराया था। पीछे थूली (दलिया) दी थी। बकरी का दूध, छोटी पीपल डालकर, बाद को दिया था। उन दिनों वहाँ न कोई थर्मामीटर लगाता था, न दिल और फेफड़ों की परीक्षा होती थी। थर्मामीटर का प्रयोग मैंने खुद पैंतीस वर्ष की अवस्था के बाद किया। कुनैन भी तभी जीभ पर रखी।

ग़रीब लोगों की दवा-दारू उन इलाकों में अनाड़ी वैद्य ही अधिकतर करते हैं,या यों ही बिना दवा के वे अच्छे होजाते हैं। सैकड़ों मर भी जाते हैं। अस्पताल अव्वल तो बहुत कम हैं, दूसरे, इनसे कोई खास लाभ भी नहीं। जो दवाइयाँ दूध और फलों के सेवन पर निर्भर करती हों, उनके लिए वहाँ कोई स्थान नहीं। यह सब तो बड़े आदमियों के लिए है—दवाइयाँ भी, डॉक्टर भी और छोटी-बड़ी अनेक

प्रकार की बीमारियाँ भी। सौ बीमारी की बीमारी तो वहाँ हद दरजे की ग़रीबी है, भुखमरी है। धन्वन्तरि और लुकमान के पास भी इस बीमारी का कोई इलाज नहीं।

स्वयं मैं मन से स्वस्थ था। दूसरों की चिन्ता तब मेरे मन को अस्वस्थ नहीं बना सकी। अज्ञान का पर्दा उठना ही मेरे हक़ में बुरा हुआ।

: ४ :

विद्यार्थी-जीवन

पितृ-भूमि मेरी पुरमऊ नाम के एक छोटे-से गाँव में थी। उस गाँव में आज भी पूर्वजों का एक कुआँ है और माफ़ी की कुछ ज़मीन भी। महुए और आम के कुछ दरख्त भी हैं। ज़िन्दगी में सिर्फ़ एक बार मैं पुरमऊ गया हूँ—कोई तीस साल पहले। पूर्वज मेरे कनौजिया दुबे थे। खेती-बाड़ी किया करते थे। पढ़ा-लिखा उनमें कोई नहीं था। गाँव में मेरा जन्म हुआ होता, तो मैं भी वहाँ आज हल जोतता होता। गाँव के उस तंग घेरे में, अनपढ़ होने के कारण, बहुत-सी झंझटों से तो बच जाता। जो आज हूँ वह न होता, और जो नहीं हूँ वह होता—इन असम्भावनाओं या सम्भावनाओं पर व्यर्थ क्यों अपनी कल्पना को दौड़ाऊँ? मेरे मन में ऐसा अजीब विचार आया ही क्यों?

मेरे नाना ने मुझे अपनी गान-विद्या नहीं सिखाई। स्वर का यह थोड़ा-सा ज्ञान तो सुनते-सुनते होगया। उन्होंने मुझे पढ़ाना उचित समझा। घर पर स्वयं ही मुझे अक्षर-बोध कराया। फिर मदरसे में नाम लिखा दिया। हमारे छोटे-से शहर में एक हाईस्कूल था, और एक कन्या-पाठशाला। संस्कृत का भी एक विद्यालय था। शिक्षा निःशुल्क थी। पांडेजी की एक 'चटसाल' भी थी। इसमें पुरानी पद्धति की

पढ़ाई होती थी। 'ओ नामा सीधम' (ओ३म् नमः सिद्धम्) से आरम्भ कराके पांडेजी चारों 'पाटियाँ' और 'चन्नायके' (चाणक्य अर्थात् राजनीति के दोहे) समाप्त करा देते थे। पहाड़ों और महाजनी हिसाब-किताब में भी पक्का कर देते थे। बनिये-महाजनों के लड़के सब इसी चटसाल में पढ़ते थे। 'पाटियों' से अभिप्राय अपभ्रंश रूप में पंचसन्धियों से था। पांडेजी दण्ड मुक्तहस्त से देते थे। नाम लिखाते समय लड़के के मां-बाप गुरुजी को दण्ड-दान का खुद ही पूरा अधिकार दे आते थे। उस दिन से लड़के की चमड़ी और मांस पर वे अपना अधिकार नहीं समझते थे। विद्या की समाप्ति पर वे अपने लड़के की सिर्फ़ हड्डियाँ वापस चाहते थे—"हाड़-हाड़ हमारे; मांस-मांस तुम्हारा !"

नौगाँव केण्टूनमेण्ट छतरपुर में फिर से आजाने से राज्य में अब एक हाईस्कूल और बढ़ गया है। खास छतरपुर का हाईस्कूल अब इंटर कालेज कर दिया गया है। राजनगर क़स्बे में शायद एक मिडिल स्कूल भी है। कुछ ग्राम-पाठशालाएँ भी हैं। लेकिन जिस राज्य की जन-संख्या पौने दो लाख के लगभग हो, और क्षेत्रफल ११३० वर्गमील, उसमें ४ प्रतिशत से भी कम साक्षरता का होना दुःख और लज्जा की ही बात है। पर यह दुःखद दशा तो बुन्देलखण्ड के प्रायः सभी रजवाड़ों की है। पड़ौस के अँग्रेजी इलाकों में भी आपको साक्षर लोगों की संख्या कुछ अधिक नहीं मिलेगी।

हमारे हाईस्कूल के हेडमास्टर रायसाहब मुंशी सोहनलाल थे। पक्का रंग, बड़ी-बड़ी मूँछ, बगले के पंख के जैसा बन्द गले का लम्बा कोट, चूड़ीदार पजामा और सिर पर काली टोपी, हाथ में चांदी की मूठ की

छड़ी। मिजाज के बड़े तेज थे। अनुशासन उनका बड़ा सख्त था। स्कूल में किसीने कभी उनको हँसते नहीं देखा। लड़कों और मास्टरों पर उनका बड़ा रौब था। जिस क्लास के पास से निकल जाते, सन्नाटा छा जाता। छठे दरजे के सालाना इम्तिहान में अपने एक साथी को मैं गणित का एक सवाल, मास्टर की नज़र बचाकर, लिखा रहा था। उन्होंने मेरी यह हरकत देखली। उस पर्चे में हम दोनों को फेल तो किया ही, पाँच-पाँच बेंत की सज़ा भी दी।

सेकण्ड मास्टर थे हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार स्व० लाला भगवानदीन। अंग्रेजी की पहली पोथी लालाजी से ही मैंने उनके घर पर पढ़ी थी। लालाजी के काशी चले जाने के बाद उनके पट्टशिष्य बाबू गोविन्ददास सेकण्ड मास्टर बना दिये गये थे। हिन्दी के यह भी ऊँचे कवि और लेखक थे। अपनी किसी-किसी तुकबन्दी का संशोधन मास्टर गोविन्ददासजी से मैं कराया करता था। संस्कृत के प्रधानाध्यापक पं० अनन्तराम शास्त्री थे। शास्त्रीजी के घर पर भी मैं संस्कृत पढ़ने जाया करता था। तीन सर्ग रघुवंश के, पूर्वार्द्ध मेघदूत का और थोड़ी लघुकौमुदी, इतना मैंने इनसे पढ़ा था। पंडितराज जगन्नाथ के 'भामिनी-विलास' के भी कुछ श्लोक उनसे पढ़े थे।

अध्यापकों का मैं बहुत भय मानता था। एक पुण्य प्रसंग मुझे आज भी याद आता है। मास्टर दिलीपत ने, जब मैं सातवें दरजे में पढ़ता था, छुट्टियों में घर पर कुछ 'पार्सिङ्ग' (पद-व्याख्या) करने को दिया था। हम तीन लड़कों ने पार्सिङ्ग नहीं दिया। मास्टर साहब की बड़ी डाँट पड़ी। गुस्से में काँपते हुए बोले—"कल इन दो पूरे पेजों का

पार्जिङ्ग करके लाना—अगर न किया तो क्लास से निकाल दिये जाओगे।"

दो पूरे पृष्ठों का क्या मतलब होता है! सैकड़ों शब्दों की व्याख्या कर लाने का हुक्म मिला था, जिसके पीछे भारी दण्ड का भय था। हम लोग काँप गये। मगर मुहँ से 'ना' कहने की हिम्मत न हुई। रात को आठ घंटे, और सवेरे भी दो घंटे क़लम घिसता रहा, तब कहीं पार पड़ा। देखकर मास्टर साहब ने प्रेम से मेरी पीठ ठोंकी। आँखों में उनकी स्नेह के आँसू छलछला आये। मेरे साथी अपराधियों ने भी ज़ोर लगाया था, पर वे एक पृष्ठ से आगे नहीं जा सके। मगर स्नेह-दान पाने में वे भी पीछे नहीं रहे।

अध्यापकों के प्रति केवल भय का ही भाव रहा हो यह बात नहीं, आदर भी उनका हम लोग क़ाफी करते थे। विद्या से विनय प्राप्त होती है और विनय से विद्या, इस स्वर्ण-सूत्र को क्या अच्छा हो कि प्रत्येक विद्यार्थी जीवन में सदा अपने सामने रखे। 'स्वाभिमान' शब्द का आज बहुत पाठ किया जाता है, लेकिन ग़लती से 'औद्धत्य' को स्वाभिमान मान लिया गया है। विद्यार्थी को इस दुष्ट मान्यता से बचना चाहिए। स्वाभिमान तो विनय का दूसरा नाम है। मैं तो 'स्व' का अर्थ आत्मा या समस्त सद्गुण लगाता हूँ। 'अभि' का अर्थ सम्पूर्ण और 'मान' का अर्थ आदरभाव—अर्थात् सद्गुणों के प्रति संपूर्ण आदरभाव। हृदय के इस उदात्त भाव को ही विनय या शील का नाम दिया गया है। विद्या की साधना ही जिसका एकमात्र अर्थ है वह विनययुक्त न हो यह कैसे हो सकता है? ज्ञान का साधक विनयी न होगा, तो फिर कौन होगा?

उस युग में हमारे स्कूल में हाकी, क्रिकेट या फुटबाल के यह विलायती खेल दाखिल नहीं हुए थे। सिर्फ़ क़वायद कराई जाती थी। पर मैं उससे भी बचता था। न जाने क्यों अच्छी नहीं लगती थी। क़वायद का महत्व तो बहुत पीछे समझ में आया। हरेक विद्यार्थी के लिए क़वायद, बल्कि फौजी क़वायद, आवश्यक होनी चाहिए। मुझे कसरत करने का शौक़ था। खूब दंड-बैठक लगाता था। मुगदर की जोड़ी भी घुमाता था।

ग़रीब क़स्बे के विद्यार्थियों को केवल पढ़ने का शौक़ था। हमारे ज़माने में वहाँ न फैशन था, न सिनेमा। हमने सिनेमा का नाम भी नहीं सुना था। बायस्कोप तब झाँसीतक पहुँच पाया था। सिनेमा की यह बीमारी तो शायद छतरपुर में अब भी नहीं पहुँच पाई। उच्च अधिकारियों के दो-चार लड़के कपड़े बेशक कुछ अच्छे पहनते थे। शौक़ या व्यसन में फँसने-फँसाने का हम ग़रीब विद्यार्थियों के पास कोई साधन भी नहीं था। हमारे पास पैसे कहाँ थे ?

पैसे का मुँह तो तब देखा, जब शायद मैं मिडिल में पढ़ता था। दरबार से एक रुपया मसिक वजीफा मिलने लगा था। एक-डेढ़ साल बाद दो रुपये महीने की एक ट्यूशन भी मिल गई थी। उससे काग़ज़-क़लम व पढ़ाई का साधारण खर्च चलता था। अच्छी-अच्छी किताबें खरीदने की इच्छा अवश्य होती थी, पर उसका पूरा होना मुश्किल था। कुछ पुराने सूचीपत्रों का संग्रह कर रखा था। उनपर अक्सर निशान लगाया करता कि कौन-कौन पुस्तकें वी० पी० से मँगानी हैं। पर क़ीमत जोड़ने बैठता तो मीजान दस-बारह रुपयेतक पहुँचता !

इतना रुपया कहाँ जुटा सकता था ? दरिद्र के मनोरथ का पूरा होना कठिन था। मेरे कुछ साथियों ने एक बाल-पुस्तकालय खोला था। पर मैं उसका भी सदस्य नहीं बन सकता था, क्योंकि चन्दा उसका दो आना मासिक रखा गया था। निःशुल्क पुस्तकालय तो 'सरस्वती-सदन' था, जिसकी स्थापना लाला भगवानदीन ने की थी। अपनी पढ़ने की प्यास मैं वहीं जाकर बुझाता था।

फिर भी, मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मैं एक ग़रीब घर का विद्यार्थी हूँ। मेरे साथ ऐसे भी कुछ लड़के पढ़ते थे, जिनके पास कोर्स की भी पूरी किताबें नहीं थीं। एक-दो साथी मेरी किताबों से काम चलाते थे। किताबें उन्हें मैं इस शर्त पर देता था कि उनके पन्ने न मोड़ें, मैली न करें और समय पर लौटा दें।

मुझे कभी पाठ्य सामग्री का अभाव नहीं खटका। किताबें पूरी थीं। बिना दराज का एक डेस्क भी था। तीन रुपये की एक छोटी-सी आलमारी भी खरीद ली थी। उसमें मेरे पास जो दस-बीस किताबें थीं उनको बड़े प्रेम से सजाकर रख छोड़ा था। अपनी पढ़ने की कोठरी में महापुरुषों की कुछ सूक्तियाँ भी सुन्दर अक्षरों में लिखकर टाँग दी थीं। और उस कोठरी का नाम मैंने 'प्रेम-निकेतन' रख लिया था।

व्यर्थ का एक व्यसन मुझे निस्सन्देह विद्यार्थी अवस्था में लग गया था। उसमें पैसा-टका खर्च नहीं होता था। वह व्यसन था कविता—कविता क्या, कुछ तुकबन्दियाँ लिखने का। पैसे से भी अधिक मूल्यवान समय तो उसमें मेरा खर्च होता ही था। मेरी कविता के प्रशंसक हमारे पड़ोसी लाला चिन्ताहरण और छक्कीलालजी थे। मेरे मित्र

भवानीप्रसादजी पटेरया भी दाद दिया करते थे। छक्कीलालजी की बैठक में रात्रि को रामायण की कथा कहा करता, और श्रोताओं को नित्य अपनी एक नई रचना भी सुनाता। पर नाना को मेरा यह काव्य-व्यसन पसन्द नहीं था। उन्हें डर था कि इसकी पढ़ाई में इससे बाधा पहुँचेगी, और परीक्षा में यह ज़रूर फ़ेल हो जायगा। लेकिन चस्का लग चुका था। नशा चढ़ चुका था, उतरना अब मुश्किल था। यह अनुभव तो बाद को हुआ कि विद्यार्थी को विद्या-व्यसनी ही होना चाहिए, दूसरे व्यर्थ के व्यसनों में वह क्यों पड़े? तब का लगा हुआ यह व्यसन आयु के सैंतीसवें वर्ष में जाकर छूट सका। इसे भी ग़नीमत समझता हूँ।

: ५ :

रंग में भंग

सन् १६१५ में मैंने मैट्रिक पास किया। आगे और पढ़ने या बढ़ने का वहाँ कुछ भी साधन नहीं था। कालेज में पढ़ने का मन में विचार भी नहीं आया। वहाँ के लिए तो यही आखिरी मंज़िल थी। मैट्रिक-पास को दस-बारह रुपये माहवार की नौकरी, कोशिश करने पर, मिल जाती थी। अच्छी सिफारिश पहुँच गई, तो पन्द्रह-बीस रुपये की नौकरी भी राज्य में मिल सकती थी। लेकिन कई महकमों में ऊपर की आय अच्छी होजाती थी।

मेरे मित्र छक्कीलालजी, एक अच्छे प्रतिष्ठित घराने के होने के कारण, मदरसों के इन्सपेक्टर नियुक्त कर दिये गये थे। उन्नीस रुपये उनकी तनखाह थी और पाँच रुपये घोड़ी के भत्ते के मिलते थे। घर में उनके चांदी-सोने का व्यापार होता था। खासा सम्पन्न घराना था। व्यापार में हाथ डाला होता, तो उन्हें उसमें अच्छी सफलता मिल सकती थी। मगर दूकान पर बैठना शान के खिलाफ समझते थे। सेठ की अपेक्षा 'बाबू' कहलाने में वह अधिक गौरव अनुभव करते थे! फिर सवारी के लिए घोड़ी, और चार रुपये माहवार का पट्टेदार अर्दली, इससे उनकी वंश-प्रतिष्ठा, उनकी दृष्टि में, और भी बढ़ गई थी!

प्रयत्न करने पर दस रुपये माहवार की नौकरी मुझे भी वहाँ मिल सकती थी। उन दिनों दीवान का पद हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० शुकदेवबिहारी मिश्र सुशोभित कर रहे थे। मेरी काव्य-रचनाओं की खबर उनके कानोंतक पहुँच चुकी थी। दीवान साहब ने कृपाकर एक दिन मुझे अपने बंगले पर बुलाया। उन दिनों राज-काज के साथ-साथ 'मिश्रबन्धु-विनोद' का संपादन-कार्य भी चल रहा था। मुझसे कहा—"मैं अपने साथ तुम्हें दौरे पर लेजाना चाहता हूँ। तुमसे वहाँ कुछ 'मिश्रबन्धु-विनोद' का काम कराऊँगा। वेतन तुम्हें अपने पास से बारह रुपये मासिक दूँगा। यह काम तीन या चार महीने में समाप्त हो जायेगा। बोलो, तैयार हो ?"

"और उसके बाद ?" मैंने डरते-डरते पूछा।

"कोशिश करके फिर कहीं दूसरा काम तलाश लेना।"

"लेकिन मुझे यह काम पसन्द नहीं।" मैंने साफ़ इन्कार कर दिया।

"तो जाओ।"

जब मैं कमरे से बाहर निकला, तो पेशकार ने, जो मेरे हितचिन्तक थे, लानत-मलामत करते हुए कहा—"तुम निकले वही निरे बुद्धू! इतने बड़े अफसर की सेवा बड़े भाग्य से मिलती है। घर-आई लक्ष्मी तुमने ठुकरादी। और तुम्हें तहज़ीब से बोलना भी तो नहीं आता। बातचीत के सिलसिले में दीवान साहब को एक बार भी तुमने 'हुजूर' न कहा। हमारे मिश्रजी महाराज तो देवता हैं। वह ऐसी बातों का खयाल नहीं किया करते। कोई और दीवान होता तो तुम्हें आज इस बदतमीज़ी का मज़ा मिल जाता।"

'मैं क्यों किसीको 'हुजूर' कहूँ ? यह कोई बदतमीज़ी नहीं है। रहने दीजिए आप अपना यह उपदेश।'' मुझे गुस्सा आगया। पेशकार की समझ में नहीं आरहा था कि अगर मैं सामने पड़ी हुई कुर्सी पर जाकर बैठ गया तो मैंने कोई बेअदबी नहीं की। घरवालों को भी मेरी इस बुद्धिहीनता पर बहुत बुरा लगा। कल्पवृक्ष के पास से इस तरह मेरा रिक्तहस्त लौटना सचमुच मेरी भाग्यहीनता का द्योतक था।

खुशामद करना मुझे यूँ भी पसन्द नहीं था, फिर स्वतन्त्र विचारों की हवा भी कुछ-कुछ लग चुकी थी। जब मैं दसवें दरजे में पढ़ता था, उन दिनों यूरोप का महासमर बड़े ज़ोर से छिड़ा हुआ था। हमारे मोहल्ले में एक सज्जन साप्ताहिक 'हिन्दी बंगवासी' मँगाया करते थे। उसे मैं नियम से पढ़ता था। रात को मैं ऊँचे स्वर से उसका एक-एक अक्षर पढ़ता और मोहल्ले-भर के लोग बड़े ध्यान से लड़ाई की खबरें सुना करते। एक वृद्ध पंडितजी भी कभी-कभी हमारी मण्डली में आकर बैठ जाते थे। उन्हें विज्ञान के नये-नये आविष्कारों और चमत्कारों पर विश्वास नहीं होता था। उनकी जिह्वा पर रामायण और महाभारत के ही योद्धा और शस्त्रास्त्र सदा रहते थे। वायुयान उस युद्ध में इतनी बड़ी-बड़ी करामातें नहीं दिखा सके थे। पंडितजी यदि आज जीवित होते, और उड़न-बमों और परमाणु-बमों की कथाएँ उनके सामने आई होतीं, तो भी शायद वह विश्वास न करते। मैं नास्तिक था, जो त्रिजटा राक्षसी के वंशज (पंडितजी का ऐसा ही विश्वास था) अँग्रेजों या जर्मनों की विज्ञान-विद्या का उनके आगे नित्य गुण-गान किया करता था ! संसार में कहाँ क्या हो रहा है, इसका

मुझे पहले कुछ भी पता नहीं था। 'हिन्दी बंगवासी' ने दुनिया की कितनी ही नई चीज़ों और घटनाओं से मेरा परिचय करा दिया। अपने यहाँ से मिलान किया तो पृथ्वी-आकाश का अन्तर पाया। कूप-मण्डूक का संसार अब बड़ी तेज़ी से विलीन होने लगा। मन बड़े विस्मय में पड़ गया। चित्त अपनी पूर्व सृष्टि से उचटने-सा लगा; किसी और दिशा की ओर खिंचने लगा। अपने मनोरम नगर का नकशा अब पहले के जैसा नहीं रहा। मगर नहीं, तत्त्वतः वह कुछ बदला नहीं था। सब कुछ वही-का-वही था। दोष तो, असल में, मेरी दृष्टि में आगया था। अपने नगर के 'सम्पन्न' और 'पठित' दरिद्रों के बीच रहना मुझे अब घड़ी-घड़ी व्याकुल कर रहा था। यहाँ, 'सम्पन्न' और 'पठित' दरिद्रों का अर्थ खोल देना आवश्यक है।

एक ज़माना था, जब हमारा छतरपुर एक खासा सम्पन्न नगर माना जाता था। यह शायद सौ साल पहले की बात है। पर अब तो उसकी गिरती के दिन थे। लखपती मिट चुके थे, उनके सिर्फ़ क़िस्से चलते थे। हवेलियाँ खाली पड़ी थीं। जिस हवेली में कभी रुपये तुला करते थे, उसके दरवाज़ों में से लोग किवाड़ और चौखटें तक निकाल ले गये थे। जिनके बड़े-बड़े साके सुनने में आते थे कि व्याह-शादियों की ज्यौनार में घी को धार तोड़कर नहीं परोसते थे, भले ही फर्श पर घी की कीच मच जाये, उनके वंशधरों का कहीं पता भी नहीं चलता था। हमारे पड़ौसी मिश्रजी के घर से भी लक्ष्मीजी उनकी महाकृपणता से रूठकर चली गई थीं!

दो-चार अब वहाँ जो साधारण-से धनवान रह गये थे, वे पूरे मूँजी

थे। न उन्हें खाने का स्वाद था, न पहनने का। उनके धन का कुछ भी उपयोग नहीं होरहा था। स्वेच्छा से अथवा अपने दुर्भाग्य से उन धनिकों ने दरिद्रों का रहन-सहन अख्तियार कर रखा था। रुपये को ज़मीन में गाड़ रखना ही उनका परम ध्येय था। उनका धन हमारी ईर्ष्या का विषय नहीं बन सकता था। उनकी हद दरजे की कृपणता देख-देखकर हँसी ही आती थी। रुपया होते हुए भी रूखा-सूखा खाते थे, मैले चीथड़े पहनते थे। मेरी दृष्टि में वे 'सम्पन्न दरिद्र' थे।

और 'पठित दरिद्रों' की भी वैसी ही दशा थी। मेरा आशय उन लोगों से है, जो शिक्षित तो थे, जिन्होंने पुस्तकें पढ़-पढ़कर ज्ञान का कुछ संचय तो कर लिया था, पर उसका उपयोग वे कुछ भी नहीं कर रहे थे। उनमें और दूसरी अपढ़ प्रजा में कुछ भी अन्तर नहीं था। वे पठित कूप-मण्डूक थे। उनका भी रहन-सहन खास कुछ बदला नहीं था। बौद्धिक घेरा उनका बिल्कुल सिकुड़ गया था। उनके मुक़ाबिले, बल्कि अपढ़ लोगों में मुझे कुछ अधिक सहानुभूति व उदारता दिखाई देती थी। न तो उन धनिकों से कुछ प्रेरणा मिलती थी, और न इन शिक्षितों से। दोनों ही मानों'अजागला-स्तन' थे। मैं इन दोनों ही प्रकार के 'सम्पन्नों' से कभी प्रभावित नहीं हुआ। कभी ऐसा नहीं लगा कि मैं एक दरिद्र या अनपढ़ घर में पैदा हुआ हूँ, और उनके जैसा बनने का मैं भी प्रयत्न करूँ। वे सब 'बड़े आदमी' अलबत्ता कहे जाते थे! पर मैं हैरान था, कि उनके अंदर आखिर ऐसा क्या है, जिससे कि लोग उन्हें 'बड़े आदमी' कहते हैं। इस तरह का कुछ-कुछ विचार-संघर्ष उन दिनों भी मेरे अन्दर चला करता था। बाद को तो इन बड़ों के प्रति उपेक्षा के

बदले अंदर-अंदर एक प्रकार की विद्रोह-भावना उठने लगी। सोचा करता कि न तो इन धनिकों के पैसे का ही कोई अर्थ या उपयोग होरहा है, और न उन शिक्षितों के यत्किंचित् ज्ञान-संचय का ही। प्रजा का उत्पीड़न इन 'बड़ों' के अस्तित्व से ज़रा भी कम नहीं हुआ, बल्कि कुछ बढ़ा ही है। जीवन में यहीं से संघर्ष ने जड़ पकड़ी।

मैट्रिक की परीक्षा देने हम नौ या दस विद्यार्थी नौगाँव छावनी गये हुए थे। रजवाड़ों की दृष्टि में नौगाँव छावनी का तब भारी महत्व था। नौगाँव पोलिटिकल एजेंट का सदरमुकाम था, लगभग सभी छोटी-बड़ी रियासतों के वहाँ शानदार बँगले थे, और अमन क़ायम रखने के लिए अँग्रेजी फौज भी वहाँ रहती थी। छतरपुर के बंगले में हम सब परीक्षार्थियों को ठहराया गया था। साथ में हमारे एक मास्टर साहब भी थे। मेरी माँ ने कलेवा के लिए बेसन के लड्डू बनाकर साथ में बाँध दिये थे। परीक्षा तो दी, परचे भी ठीक किये, पर मन वहाँ लग नहीं रहा था। चित्त हमेशा अशांत रहता था। ऐसा लगता था कि सामने पहाड़-जैसी डरावनी दीवार खड़ी है और पीछे से मुझे कोई धक्का देरहा है। पहाड़ की बड़ी-बड़ी काली शिलाएँ टूट-टूटकर मेरे सिर पर गिरनेवाली हैं। मेरी एक भी हड्डी-पसली नहीं बचेगी, फिर भी मुझे उस दीवार की तरफ ढकेला जा रहा है! कल्पना की भयावनी दीवार पर कुछ मूर्तियाँ भी दिखाई देती थीं, जो मुझे मोहित करने का प्रयत्न कर रही थीं। मेरे साथ के विद्यार्थी तो रात को रोज़ परीक्षा की तैयारी किया करते, और मैं कोमल-कठोर कल्पनाओं में उलझता रहता था। घर पर जो मेरे विवाह की तैयारी होरही थी उसीकी विचित्र

कल्पना ने मुझे बुरी तरह उलझा रखा था।

सवेरे रेखा-गणित का परचा करना था, पर रात को मैं अपने भविष्य की अस्पष्ट रेखाएँ खींचने में व्यस्त था। अन्त में आधी रात को विवाह-बन्धन में न पड़ने का निश्चय कर डाला। तर्क-वितर्क में नहीं पड़ा, या पड़ना चाहता नहीं था, अथवा तर्क-वितर्क में पड़ना तब मुझे आता नहीं था। रात को तीन बजे अपने मित्र छक्कीलालजी को एक संक्षिप्त पत्र लिखा, और उसके द्वारा घर के लोगों को अपने निश्चय की सूचना भेजदी। पत्र में थोड़ी धमकी भी दी थी। यह कि, अगर वे लोग ज़िद करेंगे, तो परिणाम अच्छा नहीं होगा, बाद में उन्हें बहुत पछताना पड़ेगा।

परीक्षा समाप्त हुई और मैं घर वापस आया। सारा दृश्य बदल गया था। मेरे उस छोटे-से पत्र ने वज्रपात का काम किया था। सारी तैयारी सहसा बन्द होगई। अब न वे मंगल-गीत थे, न वह आनन्द-उल्लास। रो-रोकर सब मुझे समझाते थे। पर मैं अपने निश्चय से डिगा नहीं। काफ़ी कठोर बन गया। विवाह के पक्ष या विपक्ष की दलीलों में नहीं उतरा। चुपचाप सबकी सुन लेता था। एक 'नकार' की शरण ले रखी थी। विवाह के पक्ष में तब इतना ही तर्क मेरे पास था: "गृहस्थ-जीवन भारी झंझट का है। पड़ौस के और खुद अपने घर के ही लोग सुखी कहाँ हैं? घर में नित्य कितना कलह मचा रहता है। कौन झंझट मोल ले? क्यों न पहले से ही 'सावधान' होजाऊँ? जान-बूझकर क्यों इस मोह-भरे दलदल में धँसूँ?" विवाह के पक्ष में जो युक्तिपूर्ण और पुष्ट दलीलें हैं उनकी ओर ध्यान नहीं दिया था। समर्थ रामदास स्वामी

का उन दिनों जीवन-चरित पढ़ा था। याद पड़ता है कि विवाह-बन्धन में न पड़ने की तात्कालिक प्रेरणा समर्थ स्वामी की जीवनी से ही मुझे मिली थी।

एक पहाड़-जैसी दीवार से तो बचने का प्रयत्न किया, पर जिस ओर मुड़ा, वहाँ भी सामने दीवार ही पाई और वह दीवार कुछ मोम की बनी नहीं थी। वह मामूली चट्टानों की नहीं, वज्र की थी! मेरा वह निश्चय, जैसा कि मैंने तब समझ रखा था, वैसा आसान साबित नहीं हुआ। लड़ते-झगड़ते मैं चूर-चूर होगया। प्रयत्न करते हुए भी विषय-विकारों से पार न पा सका। संकल्प सदा दुर्बल रहा। पर ईश्वर की कृपा का आसरा नहीं छोड़ा। अपने किये पर पछताया भी नहीं। स्वजनों को भले ही निर्दयतापूर्वक रुलाया, पर खुद नहीं रोया।

: ६ :

नया संसार

मेरे जिस निश्चय के पीछे न गहरी विवेक-बुद्धि थी, न कोई ऊँचा उद्देश, उसने लोगों में एक भारी भ्रम फैला दिया। जहाँ-तहाँ मेरे 'त्याग' का गुण-गान होने लगा! ग़नीमत थी कि मैं उनके भुलावे में आया नहीं। वह मेरा कोई त्याग नहीं था। पर जब दूसरा रास्ता पकड़ लिया, तब कैसे भी हो, मन को कुछ-न-कुछ तो उस ओर मोड़ना ही चाहिए था। वैराग्य विषय की जो भी पुस्तक हाथ लगती, बड़ी श्रद्धा से पढ़ डालता। पढ़ने-सुनने में तो ज्ञान-वैराग्य बड़ा अच्छा लगता, पर उसे आचरण में कुछ भी उतारना पहाड़-जैसा मालूम देता था।

स्व० महाराजा विश्वनाथसिंह के चचेरे भाई ठाकुर जुझारसिंह से मेरी घनिष्ठ मित्रता होगई थी। उनके संपर्क से काफ़ी लाभ हुआ। ठाकुर साहब का अपना एक छोटा-सा पुस्तकालय था। विवेकानन्द और राम-तीर्थ का लगभग सारा साहित्य उनके पुस्तकालय से लेकर पढ़ डाला। फलतः चित्तवृत्ति वैराग्य की ओर झुकने लगी। चाहता भी मैं यही था। पर वैराग्य-निधि हाथ लगी नहीं। अब मैं एक विचित्र-से मनो-राज्य में जा पहुँचा। स्वामी रामतीर्थ के दिव्यउद्गारों से प्रेरित होकर हिमालय-प्रवास के शुभ्र स्वप्न देखने लगा। उसी साल,—शायद १९१६

में—ठाकुर साहब के साथ चित्रकूट, प्रयाग, काशी, गया और जगन्नाथपुरी की यात्राएँ भी कीं, किन्तु इन यात्राओं में जितना ज्ञान बढ़ा उससे कहीं अधिक मेरा मिथ्या अहंकार बढ़ा।

उन दिनों की मेरी दिनचर्या प्रायः यह रहती थी :—

सवेरे के दो-तीन घंटे पूजा-पाठ में जाते, फिर खाना खाकर या तो यूँही इधर-उधर घूमने निकल जाता, या कोई कविता लिखने बैठ जाता। शाम को नित्य नियमपूर्वक हनुमान्जी की टोरिया (टेकरी) पर घूमने चला जाता। मेरे पाँच-सात साथी वहाँ जमा होजाते थे। टोरिया पर हमारा अपना अखाड़ा भी था। हम लोग कसरत करते और कुश्ती भी लड़ते थे। फिर एकाध घंटा सत्संग होता था। समय हमारा आनन्द में कटता था।

हनुमान्जी की टोरिया को मैं कभी भूल नहीं सकता। बड़ा भव्य स्थान है। मंदिर से लेकर नीचेतक पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। खासी चढ़ाई है। चढ़ती उम्र के जोश में मैं दौड़ता हुआ चढ़ता और उतरता भी उसी तरह खूब सरपट था। पर इस लड़कपन का एक दिन मुझे पूरा फल चखने को मिल गया। पैर चूका और बहुत बुरी तरह लुढ़कते-लुढ़कते नीचे आया। एक हाथ में लम्बी लाठी थी, दूसरे में कुछ किताबें। इसलिए सँभल नहीं सका। काफ़ी चोट आई। आधे से अधिक दाँत हिल गये। मुँह से बहुत खून आया। पर बेहोश नहीं हुआ। दो महीनेतक चारपाई सेता रहा। मुँह के अन्दर बड़ी मुश्किल से पाव-डेढ़ पाव दूध जाता था। उस भारी यंत्रणा को मैं कभी भूलने का नहीं।

रात को रोज़ तीन-चार घंटे ठाकुर जुझारसिंहजी के डेरे पर बैठक

ज़मती थी। हम लोग विविध विषयों पर चर्चा करते थे। कुछ मित्र शतरंज के खेल में व्यस्त रहते थे। बुन्देलखंड के अज्ञात इतिहास-लेखक स्व० दीवान प्रतिपालसिंहजी को शतरंज और चौसर खेलने का बड़ा शौक़ था। अकेले ही, बग़ैर किसी बाहरी मदद के, उन्होंने बुन्देलखंड का बृहत्काय इतिहास बड़े परिश्रम से तैयार किया था। अर्थाभाव के कारण वे उसे प्रकाशित न करा सके। किसी संस्था से भी उन्हें प्रोत्साहन न मिला। उस इतिहास का केवल प्रारंभिक भाग लाला भगवानदीनजी ने काशी से प्रकाशित कराया था। इतिहास तथा पुरातत्त्वशोध के दीवान प्रतिपालसिंह एक ऊँचे विद्वान् थे। मगर उनकी वहाँ क़द्र न हुई—प्रकाश में न आ सके। चिराग़ बन्द अँधेरी कोठरी में ही गुल होगया। पता नहीं, उन बड़ी-बड़ी हस्तलिखित जिल्दों का फिर क्या हुआ। दीवान प्रतिपालसिंह राज-काज भी करते थे, और साहित्यिक कार्यों के लिए भी काफ़ी समय निकाल लेते थे। थक जाते तो हमारी बैठक में शतरंज खेलने आजाते थे। एक खेल और हुआ करता था, जिसमें शायद ९६ गोल पत्ते रहते थे। उस खेल का नाम याद नहीं आ रहा है। खेल एक भी मेरी समझ में न आता था। समझने की कुछ कोशिश भी की, पर दिमाग़ आगे चला नहीं।

हाँ, तो जितना किताबी ज्ञान बढ़ा, उससे कहीं अधिक मेरा अहंकार बढ़ा। अपने को अब मैं उस वातावरण के उपयुक्त नहीं समझ रहा था। कवि तो मैं था ही, विद्वान् भी अब अपने को मानने लगा। बेकार बैठा-बैठा बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाया करता। जैसे, हिमालय के किसी एकान्त स्थान में जाकर बैठूँगा। वहाँ एक आश्रम बनाऊँगा। आश्रम

का आदर्श स्वामी रामतीर्थ का रखूँगा। एक मासिक पत्र भी वहाँ से निकालूँगा। नहीं, अभी वेदान्त के चक्कर में न पड़ूँगा। पहले तो इन अन्धकूप-जैसे रजवाड़ों की प्रजा को किसी तरह जगाना है। तत्काल तो राजनीतिक जागरण की आवश्यकता है। तो सब से पहले मुझे प्रजा-पक्ष का एक आग उगलनेवाला अखबार निकालना चाहिए। उसे झाँसी से निकालूँ या इलाहाबाद से? इलाहाबाद जँचता है। सुनता हूँ कि वहाँ पत्र-प्रकाशन के साधन बड़े अच्छे हैं। पर इन सब कामों के लिए मेरे पास रुपया कहाँ है? यह पिशाचिनी अर्थ-चिन्ता मेरे सारे सुनहरे स्वप्नों को भंग कर देती थी। निठल्ला बैठा-बैठा और भी न जाने क्या-क्या सोचता रहता था। नौन-तेल जुटाने की फ़िक्र तो कुछ थी नहीं। रोटी दोनों वक्त बिना हाथ-पैर हिलाये मिल ही जाती थी। घर के लोग अब मुझे नौकरी करने के लिए भी नहीं उकसाते थे। पर मेरी चित्त-वृत्ति जैसी बनती जारही थी, उसकी ज़रूर उन्हें कुछ चिन्ता थी।

एक दिन एक ऐसा संयोग आगया, जिससे मेरी डावाँडोल नाव को एक निश्चित दिशा मिल गई। वह पुण्य प्रसंग निस्सन्देह मेरे किसी पूर्व सुकृत का सुफल था। छतरपुर-नरेश स्व० विश्वनाथसिंहजी की बड़ी महारानी श्रीमती कमलकुमारी देवी ने मुझे अचानक एक दिन बुलवाया, और कुछ ही दिनों में मैं उनका स्नेह-भाजन बन गया। उनके निश्छल वात्सल्य को जीवन में कभी भूल सकता हूँ? उनकी ज्वलन्त धर्म-श्रद्धा और तपोनिष्ठ आध्यात्मिक जीवन ने मेरी विशृंखल विचार-धारा को एक निश्चित दिशा बता दी। मेरी वे, वास्तव में, धर्म-माता थीं। उन्हें मैंने अपने जीवन में 'जननी' से भी अधिक आदर

दिया है। उनके विषय में कुछ विस्तार से किसी अगले प्रकरण में लिखूँगा। उनके साथ कई बार भारत के विभिन्न भागों की यात्राएँ करने और नये-नये अनुभव बढ़ाने का मुझे बड़ा सुन्दर अवसर मिला।

प्रवास के लिए तो मैं कभी से लालायित बैठा था। सो वह सुयोग अपने आप आ गया। अनेक नये-नये स्थान अनायास देखने को मिले। दक्षिण भारत का दर्शन पहली बार किया। कृतकृत्य होगया। उस प्रवास में तीर्थदृष्टि ही मुख्य थी। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का काफ़ी निकट से परिचय हुआ। चित्त उन दिनों शंकाशील नहीं था। सामान्य श्रद्धा से ही सब जगह काम लेता था। अथवा, उस अपूर्व सत्संग ने मन को अश्रद्धा की ओर जाने का अवसर ही नहीं दिया।

उन लम्बी तीर्थ-यात्राओं से वापस लौटा, तब घर की आर्थिक स्थिति काफ़ी गिर चुकी थी। उसी साल, १९१८ के शुरू में, पूज्य नाना की मृत्यु हुई। उन्होंने 'मंगलमरण' पाया। साधारणतया स्वास्थ्य उनका अच्छा था। माघ का महीना था वह। मृत्यु से दो घड़ी पूर्व सूरदासजी का एक पद गाया, फिर हाथ सेकने के लिए मेरी माँ से आग जलवाई, और हरिस्मरण करते हुए, बिना किसी कष्ट के, शांतिपूर्वक प्राण त्याग दिये। आश्चर्य-सा होगया। मैं बाहर शिवाले पर बैठा तब सवेरे की धूप ले रहा था।

चारों ओर हमारे लिए अब अँधेरा-ही-अँधेरा हो गया। घर की आय कुल सात या आठ रुपये मासिक रह गई। यह रुपया भी पेंशनों से आता था। साल में साठ-सत्तर रुपये गाँव की ज़मीन से आजाते थे। छोटे-बड़े हम सब आठ प्राणी थे। कल्पनाओं के जो सुनहरे भवन

मैंने खड़े किये थे वे सहसा ढह गये। भयानक वास्तविकताएँ सामने आकर खड़ी होगईं। महारानी साहिबा ने बड़ा ज़ोर डाला कि मैं अर्थ-चिन्ता में न पड़ूँ, घर की आर्थिक सहायता वे बराबर करती रहेंगी। पर मैं उनके उज्ज्वल स्नेह को अर्थ-सम्बन्ध से मलिन नहीं करना चाहता था। मैं तो बाहर भाग जाने को तड़फड़ा रहा था। पुस्तकें पढ़ना या एकान्त में बैठकर चिन्तन करना मुझे अब अच्छा नहीं लगता था।

सचमुच मेरा बुरा हाल था। घर की दुर्गति देखी नहीं जाती थी। और, परिवार के मोह से सर्वथा मुक्ति भी नहीं मिल रही थी। सोचता, अगर यहीं कहीं नौकरी करलूँ तो पन्द्रह-बीस रुपये में घर का खर्चा तो अच्छी तरह चल ही सकता है, फिर क्यों जननी-जन्म-भूमि को छोड़ूँ? पर उचटे हुए मन को यहाँ स्थिर कैसे करूँ? यहीं, मोह-पंक में पड़ा सड़ता रहूँ यह तो मेरे लिए एक तरह का 'आत्म-घात' होगा। बाहर एक बार घूम-फिर तो आया हूँ, पर ऐसी कोई जगह ध्यान में नहीं आरही, जहाँ बैठकर किसी काम में लग जाऊँ।

ऐसा लगता था कि पैरों को जैसे किसी अज्ञात शक्ति ने जकड़ रखा हो, यद्यपि पिंजड़े से निकल भागने को मेरी कल्पना के निर्बल पंख बुरी तरह फड़फड़ा रहे थे। उन सुनहरे स्वप्नों का अब कहीं पता भी न था। कहाँ चला गया मेरा वह हिमालय का सुरम्य आश्रम, और क्या हुआ मेरी उन बड़ी-बड़ी योजनाओं का! हाय! मुझ कल्पना-शील वेदान्ती को एक वर्ष में ही, एक ही झटके से, निष्ठुर परिस्थितियों ने बिल्कुल दीन-हीन बना डाला!

हिन्दी-संसार के सुपरिचित विद्वान् बाबू गुलाबरायजी उन दिनों महाराजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। महाराजा को विद्या का बड़ा व्यसन था। पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन-शास्त्रों के स्वयं अच्छे ज्ञाता थे। गुलाबरायजी और बाबू भोलानाथजी के साथ नित्य एक-दो घंटे शास्त्र-चर्चा होती थी। गुलाबरायजी ने तब हिन्दी में लिखना शुरू ही किया था। उनसे मेरी अच्छी मित्रता होगई थी। उनके द्वारा आरा के स्व० देवेन्द्रकुमार जैन से मेरा पत्र-व्यवहार हुआ। 'प्रेम-पथिक' नामक मेरी एक छोटी-सी रचना उन्होंने अपने 'प्रेम-मन्दिर' से प्रकाशित की, और उसी सिलसिले में मुझे १९१८ के अक्तूबर में इलाहाबाद बुलाया। देवेन्द्रकुमारजी ने बड़ा सुन्दर हृदय पाया था। वह साहित्य-रसिक और कला-प्रेमी व्यक्ति थे। गुलाबरायजी की पहली कृति "फिर निराशा क्यों ?" देवेन्द्रकुमारजी ने ही प्रकाशित की थी। प्रकाशन बड़ी सजधज से करते थे। इलाहाबाद में श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टण्डन से उन्होंने मेरा परिचय कराया था। टण्डनजी ने, प्रथम परिचय में ही, मुझे खींच लिया। 'सूरसागर' का एक संक्षिप्त सटिप्पण संस्करण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से संपादित करने की चर्चा की, और बड़ी हिचकिचाहट के साथ मैंने उस महाकठिन काम को अपने हाथ में ले लिया। शायद ३०) मासिक पर टण्डनजी ने मुझे सम्मेलन में रखा था। मेरे लिए इतना वेतन पर्याप्त था। खर्च तो १२) में ही चल जाता था। बाक़ी रुपया घर भेज देता था। मुट्ठीगंज में, गोकुलदास तेजपाल की धर्मशाला में, देवेन्द्रकुमारजी ने खास सिफ़ारिश करके मुझे एक कोठरी दिलादी थी। सूरसागर का संपादन-

कार्य टण्डनजी के जान्स्टनगंजवाले मकान में बैठकर किया करता था। मेरे लिए वह बिल्कुल नया संसार था, एक नया ही वायुमण्डल था। खुलकर अच्छी तरह साँस ली। धीरे-धीरे छतरपुर की एक-एक स्मृति ध्यान से उतरने लगी। पर जिस पवित्र मातृ-स्नेह को छोड़कर आया था, उसे न भुला सका।

: ७ :

फिर तीर्थ-यात्राएँ

डोरी अभी कटी नहीं थी। घर के प्रति पहले जो मोह था, वह तो टूट चुका था, किन्तु उस पवित्र स्नेह की डोरी से मैं अब भी वैसा ही बँधा हुआ था। इसीलिए, इलाहाबाद में जमकर बैठ न सका। बीच में तीन या चार बार छतरपुर जाना पड़ा।

दो और लम्बी-लम्बी तीर्थ-यात्राएँ करने का अवसर मिला। चित्रकूट, बृन्दावन और हरिद्वार तो यूँ कई बार गया। सबसे पहले मिथिला की चिरस्मरणीय यात्रा को लेता हूँ। इस जनपद के प्रति आज भी मेरे मन में वैसा ही आकर्षण बना हुआ है। तिरहुत के सरल सात्विक सौन्दर्य को भला कभी भूल सकता हूँ ? जनकपुर में कोई एक मास हम लोग ठहरे थे। आसपास भी खूब घूमा था। घोड़े की सवारी का वहाँ मुझे खासा अच्छा अभ्यास हो गया था। 'धनुषा' में घोड़े पर ही गया था। बड़ा रमणीक स्थान था। मिथिला की छोटी-छोटी कमला-विमला नाम की नदियाँ कितनी निर्मल और कितनी सुन्दर थीं ! भूमि भी यहाँ की बड़ी मृदुल है। ग्रामवासियों का स्वभाव भी मैंने भूमि के जैसा ही मृदुल और सरल पाया।

मिथिला की इस तीर्थयात्रा में नवाही के परमहंस बाबा का भी

दर्शन किया था। यह एक पहुँचे हुए महात्मा थे। आयु सौ वर्ष से ऊपर थी। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी स्वभाव उनका बालकों के जैसा सरल और मधुर था। लोकमान्यता उनकी काफ़ी थी, पर उससे वे सदा दूर ही रहे। अच्छे सिद्धपुरुष थे। 'नवाही' उस ग्राम का नाम इसलिए पड़ गया था कि वहाँ बैठकर परमहंसजी ने साधना-काल में वाल्मीकि-रामायण के लगातर एक सौ आठ 'नवाह-पारायण' किये थे।

जनकपुर में हम लोग टीकमगढ़ के राजमन्दिर में ठहरे थे। सामने नित्य हाट लगती थी। मिट्टी की छोटी-छोटी हंडियों में गाँवों से दही इतना मीठा और इतना सौंधा बिकने आता था कि उसे कितना ही खायें, तृप्ति न होती थी। मैंने तो जनकपुर के अति स्वादिष्ट दधि को अपना मुख्य आहार ही बना लिया था। एक दिन हम लोगों ने श्रीखंड तैयार कराया। एक बड़े कटोरे में भरकर पड़ौस के मन्दिर में भी हमने कुछ श्रीखंड भेजवाया। पर हमारा प्रेमोपहार वहाँ एक खासे विनोद का कारण बन गया। महन्तजी ने, जो व्याकरण और न्याय के अच्छे विद्वान् थे, उसे केसरिया चन्दन समझा, और अपने प्रशस्त ललाट और वक्षस्थल पर उसका खूब गाढ़ा लेप कर लिया। रूप से ही नहीं, नाम से भी उन्होंने और उनके शिष्यों ने उसे पीत चन्दन ही समझा। चन्दन का एक नाम संस्कृत में 'श्रीखंड' भी है। पर जब वह सूखा नहीं, और शरीर चिपचिप करने लगा, तब विद्वान् महन्त को कुछ शंका हुई कि कहीं यह चन्दन मधु-मिश्रित न हो! जब उन्हें बताया गया कि 'महाराज, यह पीत स्निग्ध पदार्थ आलेप्य कहाँ, आलेह्य है; इस श्रीखंड

का उपयुक्त स्थान आपका ललाट-पटल नहीं, किन्तु जिह्वाग्र और आमाशय है, तब अपने घोर अज्ञान पर वह बड़े विस्मित और लज्जित हुए। हम लोग तो श्रीखंड की इस 'श्लेष-लीला' को देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

अन्नाहार का त्याग भी मैंने जनकपुर में ही किया था। शायद सन् १९२० में। पूज्य धर्ममाता ने दस-ग्यारह वर्ष से फलाहार का नियम ले रखा था। उन्होंने ऐसा तपःसाधना की दृष्टि से किया था। योग-साधन के लिए फलाहार को वह आवश्यक समझती थीं। उनका तो तप था। किन्तु मेरा वह मूढ़ग्राह था। देखा-देखी हठपूर्वक, बिना कुछ सोचे-समझे, मैंने अन्नदेवता का तिरस्कार किया था। अन्नत्याग में मेरी कोई योगात्मक दृष्टि भी नहीं थी। प्रयोगों के विषय में तब मैं कुछ जानता भी न था। अन्नाहार और फलाहार विषयक कोई साहित्य भी नहीं पढ़ा था। अन्न का तो त्याग कर दिया, पर 'रोटी' का नहीं। रोटी सिंघाड़े या कूट्टू के आटे की, और कभी-कभी कच्चे केले की खाता था। केले के गूदे की रोटी, और छिलके का साग। चावल भी खाया करता था, परन्तु 'पसई' का, जिसे 'तिन्नी' भी कहते हैं। यह बोया नहीं जाता। बरसात में नालों या तालाबों के पास यह अपने आप उगता है। रंग इसका लाल होता है। पोषक तत्त्व बहुत कम रहता है। साग-भाजी पर्याप्त मात्रा में लेता था। दूध-दही का कोई खास नियम नहीं रखा था। फल भी खाता था, पर बहुत कम और वह भी सस्ते। इसलिए, सच्चे अर्थ में, मेरा आहार 'फलाहार' नहीं था। फिर भी जहाँ-तहाँ मेरे इस त्याग की महिमा गाई जाती थी!

लोगों का यह गुण-गान मुझे बड़ा अप्रिय लगता था। प्रवास में मित्रों को बहुधा मेरे इस व्रत से असुविधा भी होती थी। और कहीं-कहीं तो मुझे भूखा भी रह जाना पड़ता था। कोई इक्कीस वर्षतक मेरी यह सनक जैसे-तैसे निभी। सौभाग्य से यह मेरा आजीवन व्रत नहीं था। बुद्धिसंगत इसका कोई आधार भी नहीं था। कई वार सोचा कि यह चीज़ तो अच्छी नहीं। जो नहीं हूँ लोग मुझे वह समझें और मैं चुपचाप उन्हें वैसा समझने दूँ, यह तो एक प्रवंचना ही हुई। फिर ऐसी व्यर्थ -की चीज़ क्यों गले से बाँधे रहूँ? फलाहारी जीवन से और 'तपस्वी' की उपाधि से जी मेरा ऊब उठा। फलतः अपने उस तप को मैंने साहसपूर्वक एक दिन भंग कर दिया। अपने आहारयोग से मैं १६४१ में भ्रष्ट हुआ। मन पर से मूढ़ग्राह का एक भारी भार उतर गया। भय था कि कहीं स्वास्थ्य पर इस यकायक परिवर्त्तन का कोई हानिकारक असर न पड़े, पर वैसा कुछ भी नहीं हुआ। स्वास्थ्य जैसा तब था 'योगभ्रष्ट' होने के वाद भी प्रायः वैसा ही रहा। हो सकता है कि इसका कारण मेरा वह आहार-विषयक स्वर्ण-नियम हो, जिसका पालन मैं आज लगभग वीस वर्ष से कर रहा हूँ। वह यह कि पेटभर कभी नहीं खाता, थोड़ा भूखा ही रहता हूँ, भोजन चाहे कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो।

सबसे लम्बी और अंतिम तीर्थ-यात्रा हमारी १६२०-२१ के साल की थी। आरम्भ इस यात्रा का चित्रकूट से हुआ था, और अन्त नाथद्वारा से लौटते हुए जयपुर में। वड़ा लम्बा प्रवास था। कोई छह महीने में हमारा यह भ्रमण समाप्त हुआ था।

चित्रकूट से हम लोग सीधे नासिक गये थे। ब्रह्मगिरि पर गोदावरी का उद्गम-स्थान भी देखा था। बड़ा सुन्दर दृश्य था। नासिक से हम लोग सीधे इलोरा के विश्व-विख्यात गुहा-मन्दिरों को देखने गये। इलोरा जाने का मुख्य उद्देश तो घृष्णेश्वर महादेव का दर्शन करना था। घृष्णेश्वर की गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की गई है। दौलताबाद से मिला हुआ यह एक पहाड़ी स्थान है। पहाड़ को खोद-खोदकर उसके अन्दर बड़े सुन्दर मन्दिर बनाये गये हैं। इन गुहा-मन्दिरों का निर्माण-काल ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी माना जाता है। पार्श्वनाथ का मन्दिर अठारहवीं शताब्दी का है। अर्द्धचन्द्राकार पर्वत की दक्षिण भुजा पर बौद्ध-मन्दिर, उत्तर भुजा पर इन्द्र-सभा अथवा जैन-मन्दिर और मध्यभाग में शिव और विष्णु के अनेक मन्दिर बने हुए हैं। इन गुहा-मन्दिरों और मूर्तियों का शिल्प-नैपुण्य देखते ही बनता है। चौबीस खंभों पर खड़ा हुआ विस्तीर्ण बौद्ध-विहार, शिल्प-कला का अद्भुत नमूना कैलास-भवन तथा इन्द्र-सभा और पार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर देखकर भारत के उन अमरकीर्ति शिल्पियों के चरणों पर किस कला-प्रेमी का मस्तक न झुक जायेगा। किन्तु तब मेरी कला की दृष्टि नहीं थी। मैं तो मात्र तीर्थ-दृष्टि लेकर इलोरा के महामहिम गुहाद्वार पर पहुँचा था। अब की दक्षिण-यात्रा में हम लोग किष्किन्धा भी गये। तुङ्गभद्रा के तट पर हम एक प्राचीन खंडहर में तीन-चार दिन ठहरे थे। मातंग ऋषि का आश्रम भी देखने गये थे। यहाँ से सीधे पंढरपुर पहुँचे। इस महातीर्थ को महाराष्ट्र का वृन्दावन कहना चाहिए। पर तब महाराष्ट्र के सन्तों के विषय में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था।

तुकाराम और एकनाथ के पावन चरित तो बहुत पीछे पढ़े । वह भी हिन्दी में । इच्छा होते हुए भी मराठी अबतक सीख न सका, इसका मुझे पछताव है । तुकाराम महाराज के अमृतोपम अभंगों का यदि मुझे थोड़ा भी परिचय होता, तो पंढरपुर की पुण्ययात्रा में न जाने कितना आनन्दानुभव हुआ होता । फिर भी चन्द्रभागा का वह सुन्दर तट और विठोबा के मन्दिर का वह सतत हरि-कीर्तन सदा स्मरण रहेगा ।

इस बार दक्षिण भारत की प्राकृतिक शोभा और स्थापत्य-कला को देखकर तो मैं स्तब्ध होगया । वेंकटाद्रि और नीलगिरि के मनोरम दृश्यों को भला कभी भूल सकता हूँ ? गोदावरी, कृष्णा और कावेरी की वह मनोज्ञता आज भी वैसी ही हृदय-पट पर अंकित है । और कन्याकुमारी के पुण्य प्रांगण में दोनों सागर सहोदरों का वह धीर-गम्भीर सम्मिलन ! रामेश्वरम्, मदुरा, तंजोर और श्रीरंगम् के महान् मन्दिरों की शिल्प-कला का वह अद्भुत वैभव आँखों में आज भी वैसा ही झूल रहा है । तोताद्रि और उडुपी इन दो आचार्य-पीठों का भी मैंने इसी यात्रा में दर्शन किया था । तोताद्रि मलबार में है, और उडुपी कन्नड प्रदेश में । तोताद्रि के तत्कालीन रामानुजाचार्य दर्शन के पारंगत विद्वान् थे । साथ ही, वह युग के प्रवाह को भी पहचानते थे । विचारों में संकीर्ण नहीं थे, जैसे प्रायः दूसरे धर्माचार्य होते हैं । उडुपी में श्रीमध्वाचार्य स्वामी का विशाल मठ है । स्थान बड़ा रमणीक है । उन दिनों, जब हम लोग वहाँ गये, कोई महोत्सव हो रहा था । मध्व संप्रदाय के सहस्रों अनुयायी दूर-दूर से आये हुए थे । बड़ा सुन्दर समारोह था ।

सुन रखा था और इसका हमें डर भी था कि दक्षिण भारत के

भ्रमण में भाषा की भारी कठिनाई आती है। या तो द्राविड़ी भाषाओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान होना चाहिए, या फिर राजभाषा अँग्रेजी का। अन्यथा गति ही नहीं। पर जितनी कठिनाई की कल्पना कर रखी थी, उतनी असल में थी नहीं। तीर्थों के पंडे, पुजारी और दूकानदार, हर जगह के, कामचलाऊ हिन्दी समझते और बोलते थे। साधु-सन्त भी सनातन काल से भारत के विभिन्न भागों में 'एकभाषा' का प्रचार करते चले आरहे हैं। वास्तव में, यही लोग राष्ट्रभाषा के असली निर्माता हैं। इन अज्ञात प्रचारकों ने 'एकभाषा-निर्माण' का इतना बड़ा काम किया है, जितना सैकड़ों प्रचार-सभाएँ भी न कर पातीं। उन दिनों दक्षिण में राष्ट्र-कार्य शुरू ही हुआ था। मद्रास में हिन्दी-प्रचार-सभा का एक छोटा-सा दफ्तर था। मद्रास के शहरों और क़स्बों में हमें भाषा-सम्बन्धी कोई खास दिक्कत पेश नहीं आई। हाँ, ग्रामों में ज़रूर कठिनाई होती थी। वहाँ अँग्रेजी से भी काम नहीं चलता था। विश्व-भाषा के सच्चे प्रतीक 'संकेत' ही वहाँ काम देते थे। लेकिन कहीं-कहीं हमारे संकेत गड़बड़ी भी पैदा कर देते थे। तिन्नेवली के पास के एक गाँव में एक दूधवाली को मैं समझाना चाहता था कि हमें गाय का दूध चाहिए, क्या वह उसके यहाँ मिल जायेगा? पहले तो गाय की मैंने सांकेतिक व्याख्या की। फिर दोनों हाथों से दूध दुहने की क्रिया का संकेत किया। पर वह कुछ और ही समझ बैठी। मेरे सामने, कुएँ के पास, रस्सी लाकर फेंक दी। दूध दुहने के संकेत से उसने गराडी पर से 'पानी खींचने' का अर्थ ले लिया। लोटा तो मेरे हाथ में था ही। उसके इस अज्ञान पर मैं हँस पड़ा। मेरी अशिष्टता

पर वह बहुत झल्लाई। अपनी भाषा में देरतक बड़बड़ाती रही। मैंने तब उसके एक पड़ोसी को उसी संकेत से अपना भाव समझाया। वह समझ गया, और दूधवाली बहिन को भी मेरी बात समझादी। देवीजी का क्रोध तब कहीं शांत हुआ। मेरे लोटे में दूध दुहकर भर दिया और दाम भी मुझसे उसने उचित ही लिये। और भी ऐसे दो-तीन प्रसंग उन यात्राओं में आये थे, जब भाषा की अनभिज्ञता ने काफ़ी झमेले में डाल दिया था।

तमिल और मलयाली की कुछ कविताओं का अर्थ जब मुझे बतलाया गया तो उनके भाव-सौष्ठव पर मैं मुग्ध होगया। तमिल का साहित्य, सुनता हूँ, बड़ा समृद्ध है। मेरे मन में हुआ कि सब तो सब भाषाएँ जानने से रहे, क्यों न हिन्दी के कुछ विद्वान अन्य प्रांतीय भाषाओं का, खासकर दक्षिण की भाषाओं का, गहरा अध्ययन करके उनके ऊँचे साहित्य का शुद्ध भाषान्तर कर डालें? हम लोग विदेशी भाषाओं में जब पारंगत हो सकते हैं, तब अपने देश की साहित्य-सम्पदा से ही क्यों वंचित रहें? केवल बंगला साहित्य का, और वह भी कहानियों और उपन्यासों का ही हिन्दी में सबसे अधिक अनुवाद हुआ है। दक्षिण की भाषाओं को तो अबतक हमने हाथ भी नहीं लगाया। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेने की यदि हमारी बड़ी-बड़ी संस्थाओं को फ़ुर्सत नहीं है, तो कुछ व्यक्ति ही क्यों न इस काम को शुरू करदें? प्राचीन काल के महापुरुषार्थी बौद्ध भिक्षुओं के उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं। उन्होंने अकेले ही तो दूर-दूर के देशों में जाकर भाषा-विनिमय के द्वारा सद्धर्म का प्रचार किया था। क्यों न

हम उन्हीं भिक्षुओं से प्रेरणा ग्रहण करें ?

हमारी इन यात्राओं की पूर्णाहुति नाथद्वारा में हुई। नाथद्वारा की यह दूसरी यात्रा थी। कौन जानता था कि इस यात्रा के पन्द्रह दिन बाद ही मेरी अनन्त स्नेहमयी धर्म-माता 'महायात्रा' की तैयारी कर देंगी !

: ८ :

अब तो प्रयाग ही था

स्नेह की जो लंबी डोरी थी वह कट चुकी थी। सो जन्मभूमि अब सदा के लिए छूट गई। एकमात्र आश्रय-स्थान अब मेरा प्रयाग ही था। 'मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक' थी; वहीं जाकर बैठ गया। सद्गुरु के वियोग से काफ़ी हृदय-मन्थन हुआ। वैराग्य-वृत्ति की ओर फिर एक बार चित्त का झुकाव हुआ। किंतु वह वैराग्य-वृत्ति अधिक दिन टिकी नहीं; क्योंकि उसके मूल में ज्ञान की अपेक्षा कोमल भावना ही अधिक थी। हृदय की इसी भक्ति-भावना ने मुझे 'हरिप्रसाद' से 'वियोगी हरि' बना दिया। मेरा यह दूसरा नाम-संस्कार त्रिवेणी के तट पर ठीक २६ वर्ष बाद हुआ—उस दिन संवत् १९७८ की रामनवमी थी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कृपा-भाजन तो मैं पहले ही बन चुका था। अब सर्वथा 'उसका' ही हो गया। सम्मेलन से भला कभी ऋण-मुक्त हो सकता हूँ? मैं सम्मेलन का हूँ—यह पवित्र अभिमान मुझे सदा सर्वत्र रहेगा। ग्रन्थ-संपादन के साथ-साथ हिन्दी-विद्यापीठ में अध्यापन-कार्य भी दिया गया। विद्यापीठ की स्थापना २२ दिसम्बर, १९१८ को हुई थी। उद्घाटन डॉ० भगवानदासजी ने किया था। निमन्त्रण देने काशी मुझे ही भेजा गया था। विद्वद्वर रामदास गौड़

से तभी मेरा प्रथम परिचय हुआ था, जो धीरे-धीरे घनिष्ठ मैत्री में परिणत हो गया। उद्घाटन-भाषण बाबू भगवानदासजी का बड़ा विद्वत्ता-पूर्ण हुआ था। विद्यापीठ खोलने का उद्देश यह था कि, "यह केवल साहित्य-शिक्षा का ही केन्द्र न हो, किन्तु साथ ही ऐसा हो कि इससे निकले हुए विद्यार्थी पेट भरने के लिए पराधीन न रहें। ऐसे कला-कौशल भी साथ-साथ सिखाये जायें, जिससे विद्यार्थियों का नित्य का व्यय ही नहीं, विद्यापीठ के भी समस्त व्यय का निर्वाह होता रहे।" आचार्य-पद संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर विद्वान् पंडित चन्द्र-शेखर शास्त्री को दिया गया था। उद्घाटन के बाद ही प्रयाग से मैं तीर्थ-यात्राओं पर चला गया।

विद्यापीठ हमारा अब बड़ा अच्छा चल रहा था। किन्तु केवल साहित्य-शिक्षण ही उसमें दिया जाता था। कला-कौशल सिखाने की योजना अभी व्यवहार में नहीं आ सकी थी। टण्डनजी भूमि की तलाश में थे। कृषि तथा उद्योग सिखाने का काम शहर से बाहर ही हो सकता था।

सम्पादन और अध्यापन का वेतन सम्मेलन से मुझे ४०) मासिक मिलता था। यह वेतन मेरे लिए बहुत अधिक था। कुछ दिनों बाद माँ को तथा ममेरे भाई लक्ष्मण को भी प्रयाग बुला लिया। गृहस्थी जमा तो ली, पर मैं तो फिर भी उससे अलग ही रहा। ये लोग मुट्ठी-गंज में रहते थे और मैं ढाई मील दूर जान्स्टनगंज में।

सन् १९२९ तक मैं प्रयाग में ही रहा। इस बीच में अनेक साहित्य-सेवियों से निकट का परिचय हुआ। सद्भाग्य से कई सत्पुरुषों का कृपा-पात्र बना और कई विद्यार्थियों को अपना स्नेह-भाजन बनाया।

कितने ही सुखद संस्मरण हैं, किस-किसका उल्लेख करूँ ?

सम्मेलन से संबंध तो मेरा इतना पुराना है, पर उसके अधिवेशनों में अधिक बार सम्मिलित नहीं हुआ। सिर्फ तीन अधिवेशनों में गया था। सबसे पहले, १९२० में, पटनावाले दसवें अधिवेशन में शामिल हुआ था। सभापति मध्यप्रांत के यशस्वी राजनेता पंडित विष्णुदत्त शुक्ल थे। टण्डनजी ने मुझे तथा अपने सबसे बड़े पुत्र स्वामीप्रसादजी को भाषणों की संक्षिप्त रिपोर्ट लेने का काम सौंपा था। डरते-डरते हमने इतने बड़े उत्तरदायित्व के काम को हाथ में लिया। हम लोगों को संकेत-लिपि का ज्ञान तो था नहीं; हाँ, तेज़ लिखने का अभ्यास अवश्य था। फिर भी हम ठीक-ठीक लिख न सके। भाषणों की सही रिपोर्ट एक दूसरे सज्जन ने ली। श्रीदेवदास गांधी को मैंने सबसे पहले वहीं पटना के अधिवेशन में देखा था। शायद तब वे मद्रास से लौटे थे। पू० महात्माजी ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचारक बनाकर उन्हें मद्रास भेजा था। अधिवेशन के अन्तिम दिन हम लोग गंगा-स्नान करने चले गये थे। वहीं, गंगा के तट पर देवदासजी से, जहाँतक मुझे स्मरण है, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने हमारा परिचय कराया था। नहा-धोकर हम लोग जब खड़े-खड़े गप-शप लड़ा रहे थे, तबतक उधर देवदास भाई ने तीन-चार सम्मान्य साहित्य-सेवियों के गीले वस्त्र फुर्ती से धोकर सुखाने के लिए नावों पर फैला दिये थे। उनकी उस सेवा-भावना को देखकर हम लोग अत्यन्त प्रभावित हुए थे।

तेरहवाँ सम्मेलन कानपुर में श्रद्धेय टण्डनजी के सभापतित्व में हुआ था। यह सन् १९२३ की बात है। टण्डनजी जेल की पहली यात्रा से

लौटे ही थे। पहले का वेश उनका बिल्कुल बदल गया था। जिन्होंने हाईकोर्ट के मशहूर वकील के सुसज्जित वेश में उनको कभी देखा था उन्हें जेल से बाहर आने पर टण्डनजी को पहचानने में ज़रूर कुछ कठिनाई हुई होगी। दाढ़ी बढ़ी हुई थी और सिर के बाल भी बढ़ा लिये थे, अस्त-व्यस्त-से। तन पर मोटे खद्दर का कुरता था और धोती भी वैसी ही मोटी खुरदरी। फकीरी बाना था। अध्यक्ष-पद से टण्डनजी ने जो भाषण किया था, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह बड़े महत्त्व का था। उसमें मूल प्राकृत को संस्कृत से प्राचीन सिद्ध किया था। अनेक शब्दों को उद्धृत करके यह भी दिखाया था कि पुरानी संस्कृत और पहलवी व फ़ारसी ये सब एक ही आर्य-कुल की भाषाएँ हैं।

कवि-सम्मेलन उस वर्ष स्व० लाला भगवानदीनजी के सभापतित्व में हुआ था। मैं, बस, उसी एक कवि-सम्मेलन में दर्शक के रूप में, सम्मिलित हुआ। जाकर पछताना पड़ा। अच्छा नहीं लगा। सुनता हूँ, कवि-सम्मेलन प्रायः सब ऐसे ही होते हैं। न कोई आदर्श, न कोई मर्यादा। मनोरंजन के और भी तो कई अच्छे साधन हो सकते हैं। इस हीन वस्तु को सम्मेलन के कार्यक्रम में क्यों जोड़ दिया गया है, कुछ समझ में नहीं आया।

सहारनपुर के प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का भी एक संस्मरण उल्लेखनीय है। यह शायद पटना-सम्मेलन से पहले हुआ था। युक्तप्रांतीय राजनीतिक परिषद् के साथ इसका आयोजन किया गया था। स्थायी समिति ने प्रयाग से मुझे अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजा था। सहारनपुर में सबसे पहले पहुँचा। स्वागत-समिति के प्रबन्ध-

मंत्री ने मुझे एक ऐसे मकान में ठहराया, जिसका दरवाज़ा अंदर से बन्द नहीं होता था और उसका पीछे का हिस्सा बिल्कुल खंडहर था। सवेरे सोकर उठा, तो सारा सामान ग़ायब! सब चोरी चला गया था। पहनने के लिए एक कुरता भी न छोड़ा था। और सामान सब गया सो गया, अधिक परिताप मुझे एक हस्तलिखित पुस्तक के चोरी चले जाने का हुआ। मेरे एक मित्र ने अपनी कविताएँ मुझे संशोधनार्थ दी थीं, और उनकी उस पुस्तक को मैं अपने साथ सहारनपुर ले गया था। दूसरी नक़ल भी उनके पास नहीं थी। यह तो कवि ही जानता है कि उसकी रचनाएँ खो जाने पर उसे कितना मानसिक क्लेश होता है। कई महीनेतक मारे लज्जा के मैं अपने मित्र से आँख नहीं मिला सका। पर वे इतने भले थे कि मुझसे उसके विषय में कभी एक-शब्द भी नहीं कहा। टण्डनजी यदि उस दिन न आ जाते, तो मेरा तो सम्मेलन में सम्मिलित होना मुश्किल ही था। टण्डनजी उसी दिन बारह बजे की गाड़ी से उतरे, तब मैंने उनके कपड़ों से काम चलाया। पंजाब-हत्याकांड की जाँच करने के लिए कांग्रेस ने जो स्वतंत्र समिति नियुक्त की थी, उसीके काम से वे अमृतसर और लाहौर गये हुए थे।

यह हुई कतिपय अधिवेशनों की कहानी। मुजफ्फरपुर-अधिवेशन को अभी छोड़ देता हूँ, उसके विषय में किसी अगले प्रकरण में लिखूँगा।

एक साथ, एक ही मंच पर, दो-दो शीर्षस्थानीय साहित्याचार्यों का दर्शन-लाभ भी मुझे इसी सम्मेलन में हुआ था। पंडित गोविन्द-नारायण मिश्र और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पाद-पद्मों पर

श्रद्धा-भक्ति से मेरा मस्तक झुक गया। हमारे साहित्य-क्षेत्र के दोनों ही आचार्य अजेय महारथी थे—दोनों ही महान् मेधावी, दोनों ही महान् यशस्वी।

आचार्य द्विवेदीजी ने अपने स्वागत-भाषण में हिन्दी माध्यम के द्वारा उच्च शिक्षा देने के लिए जो ज़ोरदार अपील की थी उसमें उनके हृदय की उत्कट वेदना स्पष्ट दिखाई देती थी। इलाहाबाद-विश्व-विद्यालय के सेनेटरों को उन्होंने बहुत धिक्कारा था। उन्होंने कहा था कि, "शेक्सपियर, श्यली और बाइरन ही को नहीं, चासरतक को याद करते-करते हम अपने सूर, तुलसी और केशवतक को भूलते जा रहे हैं; नार्मन और सैक्सन लोगोंतक की पुरानी कथाएँ कहते-कहते हम अपने यादवों, मौर्यों और कण्वों का नामतक विस्मृत करते जा रहे हैं! हमें धिक्कार है!"

तब से आज कुछ तो वह दुर्व्यवस्था बदली है, पर शिक्षा का माध्यम, हमारे दुर्भाग्य से, अधिकांश में अब भी अँग्रेजी भाषा ही है। हिन्दी प्रान्तों के विश्व-विद्यालयों को यह बहाना मिल गया है कि हिन्दी में विविध विषयों के उच्च साहित्य का निर्माण ही नहीं हुआ है, तब उसे उच्च शिक्षा का माध्यम कैसे बनाया जा सकता है? लेकिन इसमें दोष किसका है? साहित्य-निर्माण का भी काम क्या विश्व-विद्यालयों का नहीं है? काशी-विश्व-विद्यालय से हमें इस सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, पर उसने भी कुछ न किया। मालवीयजी महाराज की भी सारी आशाएँ विफल ही गईं। यह लज्जा और दुःख की बात है कि काशी-विश्व-विद्यालय के ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी भी

अँग्रेजी में लिखते हैं और अँग्रेजी में ही बोलते हैं।

प्रथम 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' भी, इसी सम्मेलन में, स्व० पंडित पद्मसिंह शर्मा को, उनकी 'बिहारी-सतसई की भाष्य-भूमिका' पर, ताम्र-पत्र के साथ, प्रदान किया गया था। टण्डनजी के अनुरोध पर काशी के रईस श्री गोकुलचन्दजी ने अपने प्रिय भ्राता मंगलाप्रसादजी की स्मृति में चालीस हज़ार रुपया सम्मेलन को इस उद्देश्य से दिया था कि उस निधि के सूद से सर्वोत्तम मौलिक ग्रन्थ पर उसके लेखक को १२००) रुपये का पारितोषिक प्रतिवर्ष दिया जाये। हमारे दरिद्र हिन्दी-संसार में इस पारितोषिक को लगभग वही प्रतिष्ठा प्राप्त है, जो पाश्चात्य देशों में 'नोबुल प्राइज़' को मिली हुई है।

: ६ :

साहित्य के पथ पर

साहित्यकारों के संपर्क में या साहित्य के वातावरण में रहते-रहते मैं भी अपने को अब एक साहित्यक जीव समझने लगा था—एक ऐसा जीव, जिसका मुख्य धंधा कुछ-न-कुछ लिखते रहना और साहित्य की समस्याओं पर विचार-विनिमय अथवा मात्र विनोद करना होता है। पर सफलतापूर्वक वैसा बन नहीं सका, उन गुणों या उपादानों का मुझमें एक तरह से अभाव था, जो सफल साहित्यकार बनने के लिए आवश्यक हैं। अपने उस साहित्यक जीवन से मैंने वैसा कुछ अर्थोपार्जन भी नहीं किया।

एक दिन मन में विचार आया कि सम्मेलन से पारिश्रमिक लेना ठीक नहीं। क्यों ? कोई खास दलील तो थी नहीं, केवल भावना ही बारबार प्रेरित कर रही थी। सोचा, सम्मेलन की जो भी सेवा बन पड़े उसे अब अवैतनिक रूप से करूँगा। लेकिन तब जीविका कैसे चलेगी ? जीविका लेखन के व्यवसाय से चलाओ। औरों की भाँति मसि-जीवी बनने में तुम्हें क्या बाधा है ? पुस्तकों की लिखाई से जो कुछ मिले उसीसे निर्वाह करो।

तो सम्मेलन से वेतन नहीं लूँगा, अपना यह सनकभरा निश्चय

श्रद्धेय टंडनजी को एक दिन लिखकर दे दिया। टंडनजी ने बहुत समझाया, पर समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने प्रेमसे डाँटते हुए कहा—"तो क्या तुम भूखों मरना चाहते हो? इस तरह तो तुम सम्मेलन की कुछ सेवा भी नहीं कर सकोगे। सम्मेलन इतना दरिद्र नहीं कि अपने कार्यकर्त्ताओं को भोजन-वस्त्र के लिए भी न दे सके। तुम्हारा यह सब पागलपन है।"

"पर यह पागलपन आपसे ही तो सीखा है", धीरे से डरते-डरते मैंने इतना ही कहा।

और अधिक दबाव नहीं डाला। तुरन्त तो मुझे अर्थ-संकट का सामना नहीं करना पड़ा। स्वभाव में थोड़ी लापर्वाही-सी आ गई थी। सोचा, फिलहाल एक-दो मित्रों से कुछ कर्ज़-वर्ज़ ले लूँगा, बाद को देखा जायेगा, कुछ लिख-लिखाकर चुका दूँगा। चार सालतक इलाहाबाद में और छह साल पन्ना में भी मेरा यही क्रम चलता रहा। ऋण-भार से दब गया तब कुछ लिख डाला, अधिकार बेचने से जो मिला उससे कर्ज़ा चुकाया और जो बच गया उससे एक-दो महीने बेफिक्री से काम चलाया। फिर उधार लिया, फिर दिमाग़ बेचा, फिर कर्ज़ा बेबाक़ किया। एकमुश्त जितना भी प्रकाशक ने दिया उसीसे सन्तोष मान लिया। रायल्टी क्या चीज़ होती है इसका पता तो मुझे बहुत पीछे चला। कई किताबें मेरी काफ़ी सस्ती गईं। दो पुस्तकों का सारा अधिकार एक प्रकाशक महाशय ने, मेरी गरज़ का फ़ायदा उठाकर, १७९) में खरीद लिया था। ये पुस्तकें काफ़ी बिकीं, अनेक संस्करण हुए, पटना-विश्व-विद्यालय के मैट्रिक के कोर्स में दस-बारह सालतक

चलती रहीं। मगर मुझे जितना मिल गया उसीमें संतोष माना। जो आया वह ख़र्च कर डाला। आय का मासिक औसत हमेशा तीस-पैंतीस रुपये का ही पड़ा। पैसा पल्ले नहीं रहा। न कभी जोड़ने या बचाने का मन हुआ। तंगदस्त तो रहा, पर ऐसा कोई कष्ट नहीं हुआ। पैसे के तईं उपेक्षा का भाव पहले से अधिक हो गया। ऐसे भी अवसर आये, जब एक भी पैसा गाँठ में नहीं रहा, पर, सिवा एक अवसर के, ईश्वर की दया से कभी भूखा नहीं सोया।

वह प्रसंग भी प्रयाग का ही है। उन दिनों मैं सम्मेलन के पुराने भवन में रहता था। क़रीब ४०) का कर्ज़ कर डाला था। टंडनजी के सबसे बड़े पुत्र स्वामीप्रसादजी से अब और उधार लेने की हिम्मत नहीं होती थी। दिनभर का भूखा था। शाम को एक बार मन हुआ कि आज का काम चलाने के लिए एक रुपया तो उनसे ले ही लूँ। पर माँगने का साहस न हुआ। भूखा ही तख्त पर लेट गया। मन में संघर्ष चलता रहा। आज की रात भूखे पड़े-पड़े काट दी, तो कल तो उधार लेना ही पड़ेगा। ऐसे कबतक भूखा रह सकता हूं? तब फिर अभी ही क्यों न ले लूँ। स्वामीप्रसादजी से न सही, एक दूसरे मित्र से भी तो ले सकता हूँ। इस उधेड़बुन में पड़े-पड़े एक दो घंटे बाद नींद आगई। सवेरे उठा तो उतनी चिंता नहीं थी। मन में बेफिक्री थी। चित्त स्वस्थ था। कुछ लिखने बैठ गया। कोई ११ बजे सहसा डाकिये ने आकर आवाज़ दी,—"आपका एक मनीआर्डर है।" मनीआर्डर ६) का था। यह मनीआर्डर कैसा! कूपन पढ़ने पर मालूम हुआ कि मेरे एक-दो लेख 'सरस्वती' में दो वर्ष पहले छपे थे और वह उन्हीं लेखों का पुरस्कार

था, जिसके मिलने का मुझे ख़याल भी नहीं था। मेरी श्रद्धा ने तो यही माना कि भगवान् ने ही अनमाँगे यह 'महाप्रसाद' भेजा है।

चिन्ताओं ने मुझे वहाँ सताया नहीं। चित्त खूब प्रसन्न रहता था। आनन्द-विनोद में दिन कट जाता था। टण्डनजी के छोटे-बड़े सभी बच्चे मुझसे खूब हिल-मिल गये थे। चि० गुरुप्रसाद (टण्डनजी के द्वितीय पुत्र) और भवानीप्रसाद गुप्त मेरे पास बहुत बैठते थे। और भी कई मित्र और विद्यार्थी शाम को घूमते-घामते आ जाते थे। हमारे बैठने के दो मुख्य अड्डे थे—साहित्य-भवन और साहित्योदय। भवानीप्रसाद गुप्त को, जो पहले पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी के यहाँ काम करते थे, पुस्तकों की स्वतन्त्र दूकान खोलने की मैंने ही सलाह दी थी और उसका 'साहित्योदय' नाम भी सुझाया था। मेरी गद्य-काव्य की प्रथम रचना 'तरंगिणी' इस साहित्योदय से ही प्रकाशित हुई थी। हास्य-विनोद का हमारा मुख्य अड्डा साहित्योदय था। साहित्य-भवन में तो, फिर भी, मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता था। वह अधिकतर बुजुर्गों के बैठने की जगह थी। लड़के वहाँ खुलकर हँस-बोल नहीं सकते थे। मगर मेरी समायत तो दोनों ही जगह हो जाती थी—लड़कों में भी और बुजुर्गों में भी। लड़के मुझे हौवा नहीं समझते थे और बुजुर्गों की दृष्टि में मैं एक गम्भीर स्वभाव का नवयुवक माना जाता था। कभी-कभी अपनी मित्र-मण्डली में हमारा हास्य-विनोद बढ़ते-बढ़ते 'चिरकीं मियाँ' के ग़लीज़ साहित्यतक पहुँचता। विनोद-चर्चा में खद्दर-भण्डार के व्यवस्थापक श्रीकालिका भाई (पंडित कालिकाप्रसाद शर्मा) भी भाग लेते थे। हम दोनों एक दूसरे को मात देने का प्रयत्न करते थे। कभी बाज़ी उनके हाथ रहती, कभी मेरे। दिल्ली

आया तो हज़रत यहाँ भी मौजूद। हँसते हुए पूछा—"यहाँ, दिल्ली में भी, चौपटचरण ?" जवाब तैयार था—"तुम्हें तारना जो था !" कालिका भाई को देखते ही मेरा पुराना विनोदी स्वभाव आज भी हरा होजाता है। नई-नई उक्तियाँ, नई-नई सूझें बिना ही प्रयास के ज़बान पर आ जाती हैं। विनोद अब मेरा कालिका भाईतक ही सीमित रह गया है।

साहित्यिक विनोदोंमें प्रायः श्रद्धास्पद स्व. हरिऔधजी के 'प्रिय-प्रवास' को मैं अपना लक्ष्य बनाया करता था। उसमें से 'मुहुर्मुहुः', 'वों-वों' (त्यों-त्यों का पर्याय) जैसे विकट शब्दों को लेकर हम लोग बहुत हँसते थे। मिश्रबन्धुओं की, भाषा और शैली की भी खूब आलोचना किया करता था। परन्तु परिणाम इस हास्य-विनोद का अच्छा नहीं हुआ। दूसरों के दोष देख-देखकर खुश होनेकी आदत बनने लगी और उससे स्वभाव में एक तरह की तुच्छता आ गई। तब यह समझ नहीं थी कि विनोद का भी संयम होता है। संयम को तोड़कर अविवेकपूर्वक जो बहुत हँसता और बहुत बोलता है, वह अपना मोल कम कर देता है। एक दिन एक वयोवृद्ध सज्जन को हम लोगोंने बहुत बनाया। मेरे भी मुहँ से हँसी में एक-दो अनुचित शब्द निकल गये। हमारी अशिष्टता से उन्हें काफ़ी दुःख हुआ। बाद को मैं भी बहुत पछताया। जाकर उनसे क्षमा माँगी और आगे से विनोद पर नियन्त्रण रखने का निश्चय किया। संयम-ने तो कम, मगर जीवन की परिस्थितियोंने ज़्यादा मेरे विनोदी स्वभाव को पलट देने में मदद दी। आध्यात्मिक प्रसन्नता तो दुर्लभ रही ही, मन की वह साधारण प्रसन्नता भी धीरे-धीरे मन्द पड़ती गई। मनुष्य में क्या से क्या हो जाता है !

तब कितने ही विद्यार्थी मेरे पास आकर बैठते और पढ़ने को उत्सुक रहते थे। अब, आज वह बात नहीं रही। बीस-पचीस साल के अन्दर ही ज़माने की परछाईं काफ़ी आगे सरक गई। मैं शिकायत नहीं कर रहा हूँ। यह तो प्रगति का वेग है। हाँ, तो व्रजभाषा का भक्ति-साहित्य मेरे विद्यार्थी बड़े प्रेम से पढ़ते थे। मैं नहीं कह सकता कि उन्हें उससे कितना लाभ मिला होगा, पर मेरा अपना अध्ययन अवश्य अच्छा होगया था। अथवा, यह कहना ज्यादा सही होगा कि मेरे विद्यार्थियों ने मुझे काफ़ी पढ़ाया। विद्यार्थियों में चि० गुरुप्रसाद मुख्य थे। पाँच वर्षतक वे मेरे घनिष्ठ सम्पर्क में रहे। उन्हें मैं आज भी अपना वैसा ही स्नेह-भाजन मानता हूँ। उनके बाल-हठ के कितने ही मधुर प्रसंग याद हैं। श्रीराम-बहोरी शुक्ल भी मेरे पास पढ़ा करते थे। शुरू में रहते भी मेरे ही साथ थे। बड़े परिश्रमी और लगन के विद्यार्थी थे। सोलह-सत्रह वर्ष बाद जब रामबहोरीजी मुझे काशी में मिले, तब उनके प्रति मेरे हृदय में पहले के जैसा ही वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। अब वह नागरी-प्रचारिणी-सभा के प्रधान मन्त्री थे।

दक्षिण भारत के कुछ राष्ट्रभाषा-सेवियों को भी पढ़ाने का अवसर आया था। दक्षिण से राष्ट्रभाषा के ज्ञान-भिक्षुओं का एक छोटा-सा दल प्रयाग पहुँचा था। श्रीहरिहर शर्मा उनमें मुख्य थे। शर्माजी तथा श्रीशिव-राम ने जिस परमनिष्ठा से मध्यमा परीक्षा की तैयारी की थी वह हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए भी अनुकरणीय है। मेरे मित्र पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी उन्हें तथा अन्य मद्रासी विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। मेरे पास 'प्रिय-प्रवास' या व्रजभाषा का कोई काव्य-ग्रन्थ पढ़ते थे। कुछ ऐसे

भी विद्यार्थी मद्रास से आ गये थे, जो हिन्दी बिल्कुल नहीं समझते थे और अंग्रेजी भी नहीं जानते थे। उन्हें पढ़ाना बड़ा मुश्किल मालूम देता था। 'मोहन ने खाना खा लिया होगा' जैसे वाक्यों का अर्थ समझाना आसान नहीं था। कहते—'खाना खा लिया' यह तो समझ में आ गया, पर यह 'होगा' क्या ? क्या अभी और भी 'खाना' होगा ? पर वे घबराते नहीं थे। कुछ ही दिनों में कामचलाऊ हिन्दी सीख लेते थे।

: १० :

ब्रज-साहित्य की ओर झुकाव

श्रद्धेय टण्डनजी की प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए 'संक्षिप्त सूरसागर' और 'ब्रजमाधुरी-सार' ये दो सटिप्पण संग्रह-ग्रन्थ मैंने तैयार किये। सूरसागर उन दिनों बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस का ही उपलब्ध था। पाठ उसका काफ़ी भ्रष्ट था। दूसरा कोई और संस्करण सामने था नहीं। पाठ शुद्ध करना बड़ा कठिन कार्य था। इसलिए मैंने ऐसे ही पदों को अपने संग्रह में स्थान दिया, जिनका पाठ अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध था, और अर्थ भी जिनका सरलता से लग जाता था। परन्तु प्रथम प्रयास होने के कारण पाद-टिप्पणियों में मैंने अनेक भद्दी भूलें कर डालीं। छपाई में भी बहुत-सी भूलें रह गईं। प्रूफ़-संशोधन का तब मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। सूरदास के पदों का यह छोटा-सा संग्रह, फिर भी, लोगों को पसन्द आया। भूमिका इसकी श्री पंडित राधाचरणजी गोस्वामी ने लिखी थी। उसमें उन्होंने सूरदास का जन्म-स्थान रुनकता ग्राम बतलाया था। इसके एक या दो महीने बाद स्व० डा० बेनीप्रसाद द्वारा संपादित 'संक्षिप्त सूरसागर' इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस ने प्रकाशित किया। बेनीप्रसादजी ने प्रस्तावना में भक्ति-विषयक कुछ सवैया नये

विचार प्रकट किये। भक्ति-सिद्धान्त को उन्होंने थोड़ा इसलाम धर्म से प्रभावित बतलाया। भागवत धर्म का गम्भीर अध्ययन करनेवालों के गले उनकी यह दलील कुछ उतरी नहीं। परन्तु पद-संकलन की दृष्टि से संग्रह उनका सुन्दर था।

'व्रजमाधुरी-सार' मेरा दूसरा संग्रह-ग्रन्थ था। छतरपुर में व्रज-साहित्य देखने का मुझे खासा अच्छा अवसर मिला था। साहित्यिक दृष्टि से तो नहीं, किन्तु एक श्रद्धालु वैष्णव की दृष्टि से अनेक भक्तों की बानियाँ मैंने वहाँ पढ़ी और सुनी थीं। दो-तीन भक्तों की अनछपी बानियाँ मैं अपने साथ वहाँ से लाया भी था। विचार आया कि 'अष्ट-छाप' के प्रमुख भक्त कवियों तथा दूसरे व्रज-रसिकों के कुछ सुन्दर पदों का एक सटिप्पण संग्रह यदि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित करा दिया जाये, तो उससे व्रज-साहित्य की ओर हमारी काफ़ी अभिरुचि पैदा हो सकती है। मेरा यह विचार टण्डनजी को भी पसन्द आया। कोई छह महीने में प्रस्तावित संग्रह की पाण्डुलिपि मैंने तैयार करदी। मूल में तो मेरा विचार यह था कि केवल भक्तों की ही बानियों का संकलन किया जाये, पर बाद को क्षेत्र मैंने कुछ विस्तृत कर दिया—व्रजभाषा के बिहारी, देव-जैसे प्रसिद्ध महाकवियों की कविताओं को भी उसमें ले लिया। चुनाव करते समय निर्णय करना कठिन होगया कि कविता की दृष्टि से कौन तो भक्त है और कौन अभक्त। शृङ्गारी अभिव्यंजना को देखा तो दोनों में प्रायः बहुत कम अन्तर पाया। यदि पहले से मन पर यह छाप न पड़ी हो कि अमुक कवि भक्त या महात्मा था अतः उसकी बानी को श्रद्धापूर्वक निर्विकार मानना ही चाहिए, तो उस रसिक भक्त

की बानी और सामान्य शृङ्गारी कवि की कविता में शायद ही कुछ अन्तर दिखाई दे। किन्तु मेरी दृष्टि तो वैष्णवी दृष्टि थी। इसी दृष्टि से मैंने तर्क का आश्रय न लेकर द्वितीय संस्करण में ग्रन्थ को दो खंडों में विभक्त कर दिया। मन शंकाशील होते हुए भी यह मानता रहा कि भक्तों और सामान्य कवियों या महाकवियों की कविताओं में अवश्य कुछ-न-कुछ अन्तर रहता ही है। मैंने भरसक भक्तों की शृङ्गारी कविताओं का अध्यात्मपरक अर्थ लगाया, पर शंकाएँ कम न हुईं, बल्कि कुछ बढ़ीं ही। यूँ तो खींचातानी से बिहारी के घोर शृङ्गारी दोहों का भी आध्यात्मिक अर्थ किया गया है। उत्तान शृङ्गार की निरावरण कविताओं को भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत मानते हुए मुझे तो भय लगता है, फिर चाहे वे कितने ही बड़े भक्त कवि की रचनाएँ क्यों न हों। हो सकता है कि उसकी कुछ रचनाओं में भक्ति या ज्ञान-वैराग्य की भी अभिव्यक्ति हुई हो, पर इससे उसके पक्ष में यह निर्णय देना निरापद नहीं है कि उसकी घोर शृङ्गारी रचनाएँ भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। भक्ति कोई बाज़ारू चीज़ नहीं है। वह तो अत्यन्त निर्मल वस्तु है। निर्विकार की अभिव्यक्ति भी निर्विकार ही होती है।

'ब्रजमाधुरी-सार' का जब द्वितीय संस्करण निकालने की बात आई, तब मैंने उसमें से कितने ही पदों और कवित्तों को निकाल दिया। तृतीय संस्करण में सुरुचि का और भी अधिक ध्यान रखा गया। और भी कुछ अंश कम किया जा सकता है, और ऐसा करने से ब्रजमाधुरी में, मेरा विश्वास है, कुछ भी कमी न आयेगी। पृष्ठ-संख्या ज़रूर कम हो जायेगी, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह कृशांग संकलन सुधारस के सार

का भी सार होगा।

व्रजभाषा के साहित्य की ओर उन दिनों मेरा बहुत अधिक झुकाव था। मैं भी व्रजभाषा को सबसे मधुर भाषा मानता था। किन्तु पीछे, धीरे-धीरे मेरी यह धारणा बदल गई। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि व्रजभाषा के द्वारा कोमल भावों की अभिव्यक्ति बड़ी अच्छी हुई है। सूरदास, बिहारी, देव, आनन्दघन आदि निसर्गजात कवियों ने अपनी निर्माण-क्षमता से व्रजभाषा के अन्दर कुछ ऐसी शक्ति डाल दी थी कि उसमें अभिव्यक्ति के विलक्षण गुण पैदा हो गये। कविता के लिए वह एक अच्छी समर्थ और समृद्ध भाषा सिद्ध हुई। मगर मेरा पक्षपात निर्बल पड़ गया, जब मैंने देखा कि ऐसा ही शक्ति-संचार तो जायसी और तुलसी ने अवधी भाषा में किया है। बल्कि आज तो मैं यहाँतक मानने लगा हूँ, कि वियोग-श्रृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिए जितनी अवधी भाषा समर्थ हुई उतनी व्रजभाषा नहीं। यही कारण है कि वियोग-श्रृङ्गार की ऊँची अभिव्यंजना व्रजभाषा में अपेक्षाकृत कम ही मिलती है। अवधी में जायसी और कुछ दूसरे प्रेम-मार्गी कवियों और संतों ने प्रेम के जिस निर्मल रूप को हृदयवेधी शब्दों में अभिव्यक्त किया है वैसी चीज़ व्रजभाषा के साहित्य में कम ही देखने में आई है। मेरे कहने का यह अर्थ न लगाया जाये कि अवधी का सारा श्रृङ्गार-साहित्य निर्विकार है। जायसी प्रभृति प्रेममार्गी कवियों ने जहाँ संयोग श्रृङ्गार का वर्णन किया है वहाँ वे भी फिसल गये हैं। ऐसे कुरुचिपूर्ण अंश क्षेपक-जैसे मालूम पड़ते हैं, और उनकी शुभ्रता पर निश्चय ही ऐसे अश्लील अंश काले धब्बे-से प्रतीत होते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य तो केवल इतना ही है

कि अवधी में निर्मल वियोग-शृङ्गार की अभिव्यक्ति की जो समर्थता है, जो सम्पूर्णता है वैसी व्रजभाषा को उपलब्ध नहीं हुई।

मगर यह तो मेरा अपना मत है। मैं जानता हूँ कि मेरी इस मान्यता के विरोध में काफ़ी कहा जा सकता है। 'व्रजमाधुरी-सार' के संपादन के सिलसिले में भारतेन्दुजी के स्नेही सखा श्रीराधाचरण गोस्वामी से मैं दो या तीन वार बृन्दावन में मिला था। गोस्वामीजी महाराज से मैं एक दिन कबीर के विषय में चर्चा कर रहा था। स्वभावतः अवधी भाषा के साहित्य का भी प्रसंग छिड़ गया। उस ओर उन्हें मेरा झुकाव अच्छा नहीं लगा। बोले—"व्रज-साहित्य के अनुपम माधुर्य के आगे तुमने कबीर और अवधी के शुष्क साहित्य की यह क्या नीरस चर्चा छेड़दी।" 'जीभ, निबौरी क्यों लगै, बौरी, चाखि अँगूर' बिहारी का यह दोहा भी मुझे धिक्कारते हुए कहा।

आगे कुछ कहना बेअदबी में शुमार किया जाता। मैं चुप होगया। पर मुझे तो, सच मानिए, जो स्वच्छ, निर्विकार रस-माधुर्य कबीर और जायसी की कविता में मिला, वह अन्यत्र नहीं।

फिर भी व्रजभाषा के प्राचीन साहित्य की मैं उपेक्षा नहीं करूँगा। ऐसा करना भारी अपराध होगा। उस साहित्य पर यद्यपि मेरा आज वैसा मोह नहीं रहा, तो भी मैं यह कहने को कदापि तैयार नहीं कि उसमें ऊँचे उठने की प्रेरणा देनेवाली रचनाओं का अभाव है। ऐसा कहने का कौन दुःसाहस करेगा? सूर और आनन्दघन की कविता का बहुत-सा अंश और मीरां की तो प्रायः सारी ही पदावली ऊँचा उठाने का बल रखती है। यह सही है कि रत्नों के साथ काच के टुकड़ों का ढेर भी काफ़ी पर

है, और दुर्भाग्य से उस कचरे की राशि को आज भी हमारे कुछ साहित्य-रसज्ञ मूल्यवान् समझते हैं। ऐसी बेकार चीज़ों की शोध पर धन और शक्ति का खर्चना कहाँतक वांछनीय है यह विचार करने की बात है। अच्छा हो कि साहित्य के संग्रहालय चाहे जो कुछ संग्रह करने का मोह छोड़दें। उनमें तो असली रत्नों का ही संग्रह हो। काच के हज़ारों-लाखों टुकड़ों से हमारे संग्रहालय क्यों बेकार सजाये जायें ?

'व्रजमाधुरी-सार' में,जैसा कि मैंने ऊपर कहा है,कुछ ऐसे भी कवियों को स्थान दिया था जिनकी कविताएँ प्रकाश में नहीं आई थीं। उनमें गदाधर भट्ट,हरिराम व्यास और श्रीभट्ट मुख्य थे। हरिराम व्यासकी समस्त वाणीका संग्रह मुझे छतरपुर में उपलब्ध हुआ था। उसमें लगभग ८००पद हैं और १४९ दोहे। वह संग्रह मैंने सम्मेलन के संग्रहालय को भेंटकर दिया है। हरिराम व्यास ओरछा-नरेश महाराजा मधुकरशाह के दीक्षा-गुरु थे। व्रज-साहित्य में इनका ऊँचा स्थान माना जाता है। व्यासजी के अनेक पद सूरदासजी के पदों से, भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से, किसी तरह कम नहीं। साखियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। हरिराम व्यास के पदों का यदि एक अच्छा-सा संग्रह प्रकाशित हो जाये, तो उससे व्रज-साहित्य का एक उज्ज्वल रत्न सामने आ जाये। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु के परम शिष्य गदाधर भट्ट की भी पदावली बड़ी सरस और अनूठी है। वह भी अप्रकाशित ही है। व्रज-साहित्य के इन उत्तम रत्नों का परिचय साहित्य-संसार को बहुत कम है। खेद का विषय है कि इस दिशा में न तो साहित्य-सम्मेलन ने कुछ काम किया, न नागरी-प्रचारिणी सभा ने ही। चालीस-पचास मुख्य-मुख्य भक्त कवियों की बानियों में से साररूप

सुरुचिपूर्ण पदों के बड़े सुन्दर संकलन किये जा सकते हैं। सम्मेलन अथवा सभा इस उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण काम को हाथ में लेले, तो एक खटकनेवाले अभाव की पूर्ति हो सकती है।

उन दिनों ब्रज-साहित्य पर ही मेरा सारा ध्यान केन्द्रित था। उसी-का संपादन, उसीका अध्ययन और उसीका अध्यापन। ब्रज-माधुरी का गाढ़ा रंग चढ़ चुका था, और कई वर्ष वैसा ही चढ़ा रहा। कुछ कविताएँ भी मैंने ब्रजभाषा में उसी शैली में लिखीं। 'अनुराग-वाटिका' के पदों की रचना मैंने उसी रंग में की। भावुकता की धारा में वहकर मैंने यहाँ-तक कह डाला—

"हमारे ब्रजवानी ही वेद;
भावभरी या मधुवानी कौ
नायँ मिल्यौ रस-भेद !
निगमागम-कृत सब्दजाल में
वा सुख की कहँ आस ?
जो सुख मिलत चाखि ब्रजपद-रस,
सौंधी सहज मिठास।" इत्यादि।

परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा-साहित्य का मैं 'अन्ध पक्षपाती' गिना जाने लगा। यह धारणा तो शायद आज भी मेरे विषय में कुछ-कुछ बनी हुई है। इसका कारण तो था ही। आरोप बहुत-कुछ सही था। मेरे तब के विचारों में परिवर्तन हो जाने का पता मेरे आरोपियों को लग नहीं सका। भावुकता में चाहे जो लिख डाला हो, पर ब्रज-भाषा-साहित्य के उन अन्धाधुन्ध समर्थकों में मैंने अपने को कभी शामिल नहीं

किया, जो ब्रजभाषा के आगे अवधी, बिहारी और खड़ी बोली का उपहास किया करते थे। कुछ वर्ष पहले 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' का मैं भी एक निर्णायक चुना गया था। ब्रजभाषा के एक महाकाव्य की विद्यमानता में भी मैंने अपना निर्णय मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानन्दन पन्त की कृतियों के पक्ष में दिया। एक मित्र को मेरे इस निर्णय पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"तुम्हें तो मैं ब्रजभाषा का अनन्य या अन्ध पक्षपाती मानता था। 'साकेत' के पक्ष में तुम्हारा यह निर्णय देखकर मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ।"

मैंने उनसे कहा—"मुझे प्रसन्नता हुई कि आपका यह भ्रम निर्मूल सिद्ध हुआ।"

दूसरी बार मैंने प्रसादजी की 'कामायनी' के पक्ष में अपनी सम्मति दी। 'कामायनी' को पढ़ते समय इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि वह किस भाषा में लिखी गई है।

: ११ :

मेरी काव्य-रचनाएँ

कविता करने का शौक़ मुझे लगा तब मेरी आयु मुश्किल से नौ वर्ष की रही होगी। सबसे पहले गणेशजी की वन्दना की एक कुण्ड-लिया जोड़ी थी, जिसका पहला चरण 'लंबोदर गजवदन कों सुमरौं बारम्बार' शायद ऐसा कुछ था। अपने पड़ोसी लाला चिन्ताहरण को जब बड़े चाव से अपनी यह प्रथम रचना सुनाई तो उन्होंने मेरी खूब पीठ ठोंकी। हमारे ये दाद देनेवाले देवता कभी-कभी अनजान में अनर्थ कर बैठते हैं। लड़कों को ज़रूरत से ज्यादा प्रोत्साहन दे-देकर अक्सर निरर्थक बातों का शौक़ पैदा करा देते हैं। कविता बनाने का नशा बड़ी जल्दी चढ़ता है,और फिर उतरता भी बड़ी मुश्किल से है।

छतरपुर में पुरानी परम्परा के एक अच्छे नामी कवि थे। उनका नाम पंडित गंगाधर व्यास था। उनके शिष्य उन्हें 'दद्दा' के नाम से पुकारा करते थे। प्रसिद्ध काव्य-मर्मज्ञ स्व० लाला भगवानदीन इन्हीं व्यासजी के शिष्य थे। लालाजी ने इनसे आचार्य बलभद्र का 'नखशिख' पढ़ा था। व्यासजी आशुकवि थे। कैसी ही कठिन समस्या हो उसकी तुरन्त पूर्ति कर देते थे। काव्य-शास्त्र के अंगों का उन्हें अच्छा ज्ञान था।

लोक-प्रसिद्धि में ईसुरी कवि के बाद बुन्देलखंड में गंगाधर व्यास का ही स्थान था। व्यासजी के रचे दादरे वहाँ की स्त्रियाँ आज भी बड़े प्रेम से गाती हैं। उन दिनों उधर लावनी और रेखता की बड़ी धूम थी। लावनीबाजों के जहाँ-तहाँ अखाड़े भी थे। उनके दो संप्रदाय थे—तुर्रा और कलँगी। दोनों एक दूसरे को मात देने की चेष्टा में रहते थे। मामूली-सी बात पर शास्त्रार्थ छिड़ जाते। आपस में कभी-कभी हाथापाईतक हो जाती। रेखता के निष्ठावान श्रोता हमारे मोहल्ले के रामगुलाम सराफ़ और ऊदलसिंह दाउजू थे। ये सबसे पहले पहुँच जाते थे।

मैं भी उस वातावरण के असर से बच नहीं सका। बदनसीबी से कविता का शौक़ लग ही गया। पर मेरी स्कूली पढ़ाई में उससे कोई वैसी बाधा नहीं पहुँची। जब मिडिल में पढ़ता था, तब कितनी ही तुकबन्दियाँ लिख डाली थीं। बहुत-से सवैये और दोहे 'धनुष-यज्ञ' पर भी लिखे थे। वीर हरदौल पर एक नाटक भी उन्हीं दिनों लिखा था। श्रीकृष्ण के नखशिख-श्रृङ्गार के भी कुछ पद बनाये थे। राणा प्रताप पर खड़ी बोली में एक खण्डकाव्य भी लिखा था। कुछ शेर भी बना डाले थे, हालांकि उर्दू बिल्कुल नहीं जानता था। उनके संग्रह का नाम 'प्रेम-गजरा' रखा था। पता नहीं, तब की उन सारी रचनाओं का क्या हुआ। कविता के साथ वह सब मेरा एक खेलवाड़ था। मगर उन तुकबन्दियों के भी सुनने और सराहनेवाले मिल जाते थे।

मैट्रिक पास कर चुकने के बाद कविता लिखने का यह मर्ज़ काफ़ी बढ़ गया। प्रायः रोज़ ही कुछ-न-कुछ लिखता। शिखरिणी छंद में एक

उसमें 'प्रेम-पुरी' की कल्पित यात्रा का रूपक चित्रित किया था। भाषा पहले से अब कुछ मँज गई थी। 'प्रेम-पथिक' लिखने के बाद मेरी यह धारणा बन गई कि हिन्दी का अब मैं एक अच्छा कवि हो गया हूँ। जब मेरी यह पहली रचना छपकर मेरे पास पहुँची तो मारे हर्ष और गर्व के मैं आकाश में उड़ने लगा। मित्रों ने बधाइयाँ भी दीं। कुल २० प्रतियाँ प्रकाशक महोदय ने भेजी थीं। बड़े फेर में पड़ गया कि किसे दूँ, किसे न दूँ। बड़ी मुश्किल से एक प्रति अपने पास सेंतकर रख सका। बाद को वह रंक का धन भी चोरी चला गया। मेरे पास आज उसकी एक भी प्रति नहीं है। प्रेम-मन्दिर, आरा से तीन-चार और भी छोटी-छोटी रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं—प्रेमशतक, प्रेमांजलि, प्रेमपरिषह और एक रचना और, जिसका नाम याद नहीं आ रहा है। आज वे सभी अप्राप्य हैं। मैंने अपनी एक भी पुस्तक कभी अपने पास नहीं रखी। इस अर्थ में चाहें तो मेरे मित्र मुझे 'अपरिग्रही' कह सकते हैं।

अपनी कविताओं को आपस के चार-छह मित्रों के बीच में तो सुना दिया करता था, पर किसी सभा-सम्मेलन में सुनाने का साहस नहीं होता था। केवल एक बार छतरपुर में, गोशाला के वार्षिकोत्सव पर, एक कविता पढ़ी थी। उस कविता को मैंने खूब सुन्दर अक्षरों में लिखा था। उत्सव के अध्यक्ष तब राज्य के दीवान सुविख्यात साहित्यकार स्व० पंडित श्यामविहारी मिश्र थे। कविता अत्यन्त साधारण थी, फिर भी मिश्रजी ने मुझे बड़ा प्रोत्साहन दिया। स्व० राधामोहन गोकुलजी के बहुत आग्रह करने पर इलाहाबाद में भी मैंने विश्व-विद्यालय की किसी साहित्य-गोष्ठी में वीररस के दो-तीन कवित्त पढ़े थे। और किसी कवि-

समाज में कभी शामिल नहीं हुआ।

कविताएँ मैंने अधिक नहीं लिखीं, यद्यपि सहृदय मित्रों ने मेरी गणना सदा कवियों में ही की। मैंने कविता तो की, पर अपने को कभी कवि कहने की धृष्टता नहीं की। ऐसा कुछ लिखा भी नहीं, जिसमें कोई खास तंत हो। प्रारंभिक रचनाओं का मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ। उनको यदि छोड़ दूँ, तो 'कवि-कीर्तन', 'वीर-सतसई', 'अनुराग-वाटिका' और 'मन्दिर-प्रवेश' तथा दस-पन्द्रह फुटकर कविताएँ बस इतनी ही मेरी सारी काव्य-रचना है।

भाषा मुझे ब्रज की अधिक अनुकूल पड़ी, और उसीमें अधिकतर पद्य-रचना की। उसमें मुझे कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। खड़ी बोली में 'शुकदेव' नामक केवल एक खंडकाव्य लिखा था, पर वह बंगला 'शुकदेव' का छायानुवाद था; मौलिकता मेरी उसमें बहुत कम थी। तीन और छोटी-छोटी कविताएँ खड़ी बोली में लिखी थीं, जिनके नाम 'मीठी-बात', 'एक ही बात' और 'विश्व-कीर्तन' थे।

'कवि-कीर्तन' मैंने प्रयाग में भारी अर्थ-संकट की अवस्था में लिखा था। नाभाजी की 'भक्तमाल' की चमत्कारपूर्ण कथाओं से भले ही हम सहमत न हों, पर एक ही छप्पय के अन्दर जिस खूबी के साथ उसमें भक्तों के चरित का पुष्ट भाषा में संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित वर्णन किया गया है, उससे 'भक्तमाल' को निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। साहित्य की इस दृष्टि से ही मैंने 'भक्तमाल' को पढ़ा था। मन हुआ कि इसी शैली पर हिन्दी के मुख्य-मुख्य प्राचीन और अर्वाचीन कवियों का संक्षिप्त वर्णन क्यों न लिख डाला जाये। पैसे की

भी ज़रूरत थी। सो साहित्य-भवन से सौ मुद्रा की पेशगी दक्षिणा लेकर, 'कवि-कीर्तन' मैंने छह-सात दिन में लिख डाला। श्रद्धेय कविरत्न शंकर-जी ने मेरी उस तुच्छ कृति को बहुत पसन्द किया था।

फिर कई बरस बाद वीर रस के कुछ दोहे लिखे, जिनकी संख्या धीरे-धीरे सात सौ तक पहुँच गई। उस दोहावली का नाम मैंने 'वीर-सतसई' रखा। सतसई के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से अगले प्रकरण में लिखूँगा।

'अनुराग-वाटिका' को पन्ना में लिखा था। यह मेरा यथासम्भव शुद्ध ब्रजभाषा में लिखने का प्रयास था। शैली भी उसकी ब्रजमण्डल के प्राचीन भक्त कवियों की है, और यत्र-तत्र उनके भावों का मैंने अपहरण भी किया है। 'अनुराग-वाटिका' के विषय में इतना अवश्य कहूँगा कि उसे मैंने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर लिखा था, कोई दूसरा हेतु नहीं था। 'अनुराग-वाटिका' मुझे प्रिय भी है—उतनी ही प्रिय, जितनी कि गद्यकाव्यों में 'प्रार्थना।'

'प्रबुद्ध यामुन' नाम का एक नाटक भी लिखा, जिसमें स्वामी रामा-नुजाचार्य के गुरु श्रीयामुनाचार्य की जीवन-घटनाओं को कथावस्तु बनाया था। कुछ स्थलों पर अपने आपको अभिव्यक्त करने का भी उसमें मैंने प्रयत्न किया है। 'प्रबुद्ध यामुन' में कविताओं का भी अनेक प्रसंगों में समावेश किया है। यह खासा बड़ा नाटक है। शैली वही भारतेन्दु-काल के नाटकों की है। इस नाटक को मैंने बड़े परिश्रम से एक या डेढ़ महीने में पूरा किया था। उन दिनों भी मैं ऋणग्रस्त था। जमना-पार हिन्दी-विद्यापीठ में बैठकर मैंने इसे लिखा था। सोचा था कि पारिश्र-

मिक से कम-से-कम दो-ढाई-सौ रुपये मिल जायेंगे। लेकिन लाचार होकर सौ रुपये में ही मुझे अपनी वह श्रम-साध्य रचना बेच देनी पड़ी। सन्तोष यही रहा कि मेरे सहृदय मित्रों ने 'प्रबुद्ध यामुन' की, खासकर उसके पद्य-भाग की, क़द्र की।

वीररस के कुछ पद भी लिखे थे, जो स्व० गणेशशंकरजी के संपादन-काल में 'प्रताप' में प्रकाशित हुए थे। वैसे कोई पचासेक पद लिखने का संकल्प था, पर वह पूरा न हो पाया। केवल नेत्र और बाहु पर ही दस-पन्द्रह कवित्त लिख सका।

'गुरु-गौरव' शीर्षक एक लम्बी कविता पूज्य सद्गुरु की पुण्यस्मृति में 'कल्याण' के लिए लिखी थी। पत्र-पत्रिकाओं के लिए शायद ही अपने कवि-जीवन में दस-पाँच कविताएँ लिखी हों। मेरे स्वभावगत संकोच ने मुझे आगे नहीं आने दिया। हमेशा संकोच रहा कि मेरी व्रज-भाषा की मामूली-सी रचनाओं को इस प्रगतिशील युग में शायद ही कोई पसन्द करे। फिर भाषा का ही प्रश्न नहीं था, कुछ तंत भी तो होना चाहिए। तथा व्रजभाषा का युग भी समाप्त-सा हो चला था। रत्नाकरजी की व्रजभाषा की रचनाओं को यदि लब्धप्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में गौरव का स्थान मिल जाता था, तो उसे एक अपवाद ही कहना चाहिए। किन्तु यदि सत्यनारायण और रत्नाकर-जैसे रससिद्ध कवियों को उचित सम्मान न मिला होता, तो उसे मैं हिन्दी-संसार के लिए एक महती दुर्घटना ही मानता।

अंतिम कविता मेरी वह थी, जिसे मैंने पूज्य गांधीजी के अनशन पर लिखा था—उस महान् अनशन पर, जो उन्होंने हरिजन-सेवकों की

अन्तःशुद्धि के अर्थ पूना में,सन् १६२३ में, किया था। उसके बाद मेरा सदय-कवि मुझसे हमेशा के लिए विदा ले गया,और सचमुच यह बड़ा अच्छा हुआ। यही मेरे कवि-जीवन की अरोचक-सी कहानी है।

: १२ :

"वीर-सतसई"

'वीर-सतसई' पर यह अलग प्रकरण इसलिए लिख रहा हूँ कि एक तो इस रचना के कारण कवि-जगत् में मेरी कुछ ख्याति हुई, और दूसरे इसके साथ मेरे कुछ अनुभवों का घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहा है। सन् १९२९ में जब मैं ,श्रीटण्डनजी से मिलने लाहौर गया, तब वहीं, लाजपतराय-भवन में, वीर-रस के कुछ दोहे लिखने आरम्भ किये थे। सतसई लिखने की तब कल्पना भी नहीं थी। मुक्तक रचना तो थी ही, इसलिए जब कभी कोई भाव मन में उठा, उससे प्रेरित होकर कुछ दोहे लिख डाले। इस तरह डेढ़-दो साल में कोई सात सौ दोहे लिखे, और उस दोहावली का नाम, एक मित्र के सुझाव पर, 'वीर-सतसई' रख दिया।

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' होने के कारण इस रस को मैंने सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध करने का नया प्रयत्न या अतिसाहस किया। मैंने माना कि उत्साह के अभाव में एक भी रस मन को प्रिय नहीं लगता। स्थायी भाव उत्साह उसी प्रकार सब रसों में व्यापक है, जिस प्रकार स्वाद की दृष्टि से मधुर रस शकर, नमक, नींबू, आँवले, मिर्च और

करेले में। यह शायद मेरा सर्वथा नया प्रयास था। संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी के सभी आचार्यों ने एक स्वर से शृङ्गार को 'रसराज' कहा है। केवल एक भवभूति ने 'एको रसः करुण एव' बताकर करुण रस की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। स्वभाव से ही शृङ्गार रस की यह सर्वश्रेष्ठता मुझे बहुत अखरती थी। रीति-ग्रन्थ जितने भी मेरे देखने में आये उनमें, सिवा एक 'शिवराज-भूषण' के, सर्वत्र शृङ्गार रस का ही अतिशय बाहुल्य मिला। रस-ग्रन्थों में ९९ प्रतिशत से ऊपर तो केवल शृङ्गार रस पर हमारे बड़े-बड़े आचार्यों ने लिखा, शेष अन्य रसों के तो जैसे उन्होंने केवल नाम गिना दिये। मनोविज्ञान के तर्कों से भी शृङ्गार का ही 'रसराजत्व' सिद्ध किया गया, और आज भी किया जा रहा है। सभी रसाचार्य स्थायी भावों में 'रति' को ही प्राधान्य देते हैं। यह तो उनकी भारी कृपा है, जो रति से ठीक विपरीत 'विरति' को भी—निर्वेद को भी—नवरसों में एक रस का स्थायी भाव मान लिया है!

विषय-वासना को प्रयत्नपूर्वक, शास्त्रीय रीति से, उत्तेजन देनेवाली इस मान्यता से व्यष्टि और समष्टि दोनों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। समाज के मानस में इससे विष पैदा हो गया। इसके उत्तर में शायद यह कहा जाये कि वासना की धारा तो स्वाभाविक है, उसके अजस्र प्रवाह में बाधा डालना व्यर्थ है और ऐसा करना प्रकृति-विरुद्ध भी है। यह सही है। तब नैसर्गिक विषय-रति को, तर्क का आश्रय लेकर, सिद्ध और प्रसिद्ध करने की भी क्या आवश्यकता है? और, मनुष्य में पुरुषार्थ की स्थापना करना भी बेकार है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। गिरना स्वाभाविक अवश्य है, किन्तु श्रेष्ठ नहीं। ऊँचा उठना और आगे बढ़ना

ही सनातन काल से जीवन का परम उद्देश्य माना गया है। विसर्जन ही सच्चा अर्जन है, जो बड़े-से-बड़े पुरुषार्थ की, ऊँचे-से-ऊँचे उत्साह की अपेक्षा रखता है।

मेरा यह विश्वास दृढ़ से दृढ़तर और दृढ़तम होता गया कि रति और शृङ्गार के अंधाधुन्ध निरूपण और समर्थन ने समाज की जीवन-शक्तियों का बड़ा क्षय किया है। साहित्य के भव्य भवन को नायिकाभेद के विषैले धुएँ ने बुरी तरह भर दिया, जिससे समाज का कई शताब्दियों तक दम घुटता रहा। राष्ट्र में इस विघातक विचार-धारा के द्वारा नीति-भ्रष्टता और क्लीवता ने भी प्रवेश किया। और तो और, हमारी पवित्र भक्ति-भावना पर भी इसका दुष्ट प्रभाव पड़ा। प्रेम-मार्गी संतों और कवियों ने जिस ज्ञान-गर्भित स्वच्छ प्रेम-रस का स्रोत खोला था उसे अमर्याद शृङ्गार के अन्ध समर्थकों ने बंद कर देने का कुत्सित प्रयत्न किया। रीतिकाल के कुछ कवियों और महाकवियों ने तो गंदगी का ढेर लगाने में हद करदी। नखशिख-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन और नायक-नायिका-वर्णन में ही अपनी सारी प्रतिभा और कला-कुशलता उन्होंने खर्च की। इस परंपरा की बदौलत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित-सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित-सा हो गया।" साथ ही, समाज की चेतना और पौरुषशीलता को भी संकुचित और निर्जीव कर डाला। मनुष्य की हीन वासनाओं को 'शास्त्रीय रीति' से अनुचित उत्तेजन देकर आखिर उन्होंने जीवन की क्या

साधना की ?

आश्चर्य और क्लेश होता था और आज भी होता है, जब मैं देखता था कि हमारे कुछ आधुनिक सुकवि भी स्वाभाविकी अन्तःप्रेरणा और प्रगतिशीलता की ओट में प्रकारान्तर से उसी हीन वासनात्मक श्रृङ्गार को अपनी रहस्यमयी लाक्षणिक रचनाओं द्वारा अनुचित उत्तेजन देते हैं, और बेचारी कला का ज़बरन नीति से संबंध-विच्छेद करा रहे हैं। श्रृङ्गार रस के प्रति मेरी इस विद्रोही भावना ने बहुत-से दोहे लिखाने की प्रेरणा दी। 'वीर-सतसई' के रचना-काल में मैं जिस वातावरण में रहा, उससे भी मुझे बहुत-सारा मसाला मिला। राष्ट्र को क्लीव बना देनेवाली विलासिता को नज़दीक से देखा, तो मेरे आंतरिक विद्रोह की आग उससे और भी भड़क उठी। मैंने देखा कि हमारे ऐतिहासिक राष्ट्र-वीरों की कृतियों की आज केवल ठठरी रह गई है। निराशा और मुर्दनी से मुझे उस वातावरण में उत्साह और जीवन का सन्देश मिला। स्त्रैण राजपूतों और नृशंस नरेशों को मैंने अनेक दोहों में बड़े कड़े शब्दों में धिक्कारा। उत्तान श्रृङ्गार के प्रमुख प्रतिपादक विहारी पर भी बुरी तरह आक्रमण किया। जैसे—

"झझकत हियैं गुलाब कैं, झँवा झँवैयत पाइ।"
या विधि इत सुकुँवारता अब, न दई सरसाइ॥

जाव भलैं जरि, जरति जो उरध उसाँसनि देह।
चिरजीवौ तनु रमत जो प्रलय-अनल कैं गेह॥

जहँ गुलाब हूँ गात पै गड़ि छाले करि देत।
बलिहारी ! वखतरन के तहाँ नाम तुम लेत॥

होउ गलित वह अङ्ग, जेहिं लागति कुसुम-खरोंट।
चिरजीवौ तनु सहत जो पुलकि-पुलकि पवि-चोट॥

'वीर-सतसई' में सभी प्रकार की वीरता का वर्णन आया। 'विरह-वीर' की उसमें मेरी एक नई कल्पना है, जिसकी आलोचना भी हुई थी। स्वभावतः अस्त्र-बल पर निर्भर करनेवाली वीरता का सबसे अधिक वर्णन सतसई में आया है। इतिहास ने तथा जन-श्रुतियों ने ऐसे ही वीरों को हमारे सामने उपस्थित किया है। वर्तमान में भी यही हो रहा है और शायद भविष्य में भी ऐसे ही वीरों का वर्णन होता रहेगा। आज की युद्ध-नीति में 'कूट-वीरता' ने भी अपना एक स्थान बना लिया है, और 'कूट-वीरों' का गुण-गान भी होने लगा है। कुल मिलाकर अस्त्र-धारी वीरों को ही इतिहासों और काव्यों ने प्रतिष्ठा प्रदान की है। मैंने भी लगभग इसीका अनुसरण किया। पर आज मेरा वैसा मत नहीं रहा। अब अस्त्र-धारियों को प्रथम श्रेणी के वीरों में स्थान देना अनुचित-सा मालूम देता है। संसार के प्रथम श्रेणी के वीरों में तो प्रह्लाद, रंतिदेव, दधीचि, हरिश्चन्द्र, बुद्ध, महावीर, सुकरात, ईसा और गांधी आते हैं। यह सही है कि तलवार से लड़नेवाले योद्धा भी रण-भूमि पर अपने प्राणों का मोह छोड़ देते हैं। पर दूसरों के प्राण लेने के विचार से, और तलवार के बल पर वे ऐसा करते हैं। अस्त्र-बल पर निर्भर रहने से आत्म-विसर्जन में जो अतुलित शक्ति सन्निहित है वह प्रायः क्षीण पड़ जाती है। फिर अस्त्र-बल का उपयोग भी लोक-संहार के लिए ही होता है। अतः अस्त्र-बल के आधार पर पुष्ट होनेवाली वीरता का समर्थन करने को अब जी नहीं करता, यद्यपि ऐतिहासिक और

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आजतक इसी प्रकार की वीरता के पक्ष में नैतिक एवं वैज्ञानिक तर्क उपस्थित किये गये हैं। प्रत्यक्ष में भी आज उन्हीं योद्धाओं के भारी पराक्रम देखने व सुनने में आ रहे हैं। उनके शौर्य और पराक्रम की सराहना न करना अपने आपको नीचे गिराना है। उन शूरमाओं के साहस को धन्य है, जो अपने प्राणों को हथेली पर रखकर आकाश से आग में और समुद्र में हँसते-हँसते कूद पड़ते हैं! फिर भी निष्ठुर न्याय-तुला उन योद्धाओं को प्रथम श्रेणी के वीरों में स्थान देने के लिए तैयार नहीं। उस श्रेणी को तो उसने बुद्ध और ईसा, सुकरात और गांधी जैसे वीरों के लिए ही सुरक्षित रखा है। इस श्रेणी में आनेवाले वीरपुरुषों का भी मैंने 'वीर-सतसई' में आदर-पूर्वक उल्लेख किया है, पर मेरा सारा ध्यान तो तब युद्ध-वीरों पर ही केन्द्रित था। जिस वातावरण के बीच 'वीर-सतसई' लिखी गई उसमें मैंने राग और विलास के, द्वेष और प्रतिहिंसा के भयंकर दृश्य देखे। उन सब अनुभवों का सतसई की रचना पर कहीं तो प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा।

'वीर-सतसई' में कई प्राचीन कवियों की सूक्तियों का मैंने भावापहरण भी किया है। आज मैं उसे देखता हूँ तो कई स्थलों पर काफी भाव-शैथिल्य पाता हूँ। काव्य-कला की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में एक-से-एक सुन्दर सतसइयाँ हैं। फिर भी मेरी इस असुन्दर रचना को सहृदय साहित्य-रसज्ञों ने प्रेम से अपनाया और मुझे काफ़ी प्रोत्साहन भी दिया। जब साहित्य-सम्मेलन की निर्णायक-समिति ने 'वीर-सतसई' पर 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' देना घोषित किया, तब मुझे सचमुच

आश्चर्य हुआ। उस निर्णय पर कुछ शंकाएँ भी उठाई गईं। यह भी आरोप किया गया कि निर्णायकों ने निर्णय देने में पक्षपातसे काम लिया है।

सम्मेलन के मुजफ्फरपुरवाले अधिवेशन में पारितोषिक लेने के लिए मुझे निमन्त्रण मिला। उन दिनों मैं पन्ना में था। मित्रों ने बधाइयाँ भी भेजीं; पर इतना बड़ा सम्मान स्वीकार करते हुए कुछ झिझक-सी मालूम देती थी। अस्वीकार भी नहीं करते बनता था। भय था कि इस भारी संकोच की स्थिति में कहीं मुझसे कोई अविनय न हो जाये।

पूज्य टण्डनजी, श्रद्धेय हरिऔधजी और आदरणीय पंडित पद्मसिंह-जी के साथ स्वागत-मन्त्रीजी ने मुजफ्फरपुर में मेरे ठहराने का प्रबन्ध किया था। हरिऔधजी के सत्संग का पहली बार लाभ मिला। मुझे दो दिन में ही उन्होंने अपना स्नेह-भाजन बना लिया। अपनी एक-से-एक बढ़कर सुन्दर रचनाएँ स्वयं पढ़कर सुनाईं। सुनाने का ढंग भी उनका अनूठा था। उठने को जी नहीं करता था। ऐसा कौन पत्र-सम्पादक होगा, जिसने हरिऔधजी से अपने पत्र के लिए कविता माँगी, और उसे न मिली हो। उन्होंने किसीको खाली हाथ नहीं जाने दिया। और भी कई साहित्य-सेवियों से मेरा वहाँ नया परिचय हुआ। पुरातत्व-शोध के महान् पण्डित स्व० काशीप्रसाद जायसवाल का भी दर्शन हुआ। इतना बड़ा धुरन्धर विद्वान्, जो भारत में ही नहीं, विदेशों में भी काफ़ी ख्याति पा चुका है, इतना विनम्र, इतना सरल! श्रद्धा से उनके चरणों पर अपने आप मेरा मस्तक झुक गया।

जिस दिन मुझे पारितोषिक मिलनेवाला था, उस दिन सवेरे से ही मन में न जाने क्या-क्या संकल्प-विकल्प उठ रहे थे। सम्मान का इतना

बड़ा भार मैं सँभालूँगा कैसे ? इतनी बड़ी रकम लेकर उसका आखिर करूँगा क्या ? स्वीकार न करूँ तो यह मेरी गुस्ताखी कही जायेगी। बच निकलना अब कठिन था। हृदय जैसे एक भारी बोझ से दबा जा रहा था। पर रस्म तो अदा होनी ही थी।

पारितोषिक मुझे सम्मेलन के अध्यक्ष पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने हाथ से प्रदान किया—बारह सौ रुपये, ताम्रपत्र और नारियल। आँखें ऊपर नहीं उठ रही थीं। ऐसा लगता था, जैसे सिर पर सैकड़ों घड़े पानी पड़ रहा हो। आदरपूर्वक ताम्रपत्र को माथे से लगाया, और अध्यक्ष को तथा सब उपस्थित जनों को भीगी हुई आँखों से नमस्कार किया। समझ में नहीं आ रहा था कि इस महान् सम्मान के उत्तर में कहूँ तो क्या कहूँ। रुँधे हुए कण्ठ से केवल इतना ही कह सका, "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये !" और वह पारितोषिक-निधि पुनः सम्मेलन के श्रीचरणों पर अर्पित करदी।

मैंने तो अपने हृदय का भार हलका करने के लिए ऐसा किया था, पर उससे मेरा यशोगान होने लगा। हैरान था कि पारितोषिक की निधि को लौटाकर मैंने ऐसा कौन-सा बड़ा त्याग किया ! वह मेरी कुछ पसीने की कमाई तो थी नहीं। पारिश्रमिक तो प्रकाशकों से मैं पहले ही पा चुका था। यह रुपया तो बिना परिश्रम के ही अकस्मात् मुझे मिल रहा था। मन में, उससे पहले एक बार, लोभ तो आया था कि पारितोषिक का बारह सौ रुपया अपने पास रखलूँ—उससे कर्ज भी चुक जायेगा, और शेष रकम से उदर-पूर्ति का साल-डेढ़-साल निश्चिन्तता से काम भी चलेगा। पर मेरी वह लोभ-लिप्सा वहीं-की-वहीं दब गई। कुछ मित्रों को मेरा

वह समर्पण अच्छा नहीं लगा, और कुछ को तो, जहाँतक मुझे याद है, उसमें मेरे अहंभाव की भी गंध आई थी। अस्तु। पारितोषिक की उस निधि से सम्मेलन द्वारा बालोपयोगी वीर-साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। इससे अच्छा उपयोग उस निधि का मैं और क्या कर सकता था?

: १३ :

क्या इसे संन्यास कहूँ ?

सन् १९३३ के बाद कविता से—यदि उस सब रचना को कविता कहा जाये तो उससे, जी अब ऊब-सा चला था। उत्साह उतार पर आ गया था। देखता था कि आजतक जितनी रचना की उसमें कोई खास तंत नहीं। उस ढेर में से ढूँढने पर शायद ही एकाध मूल्यवान् वस्तु हाथ लगे। सोचता था कि शब्दों के साथ आखिर इतने दिनोंतक मैं यह खिलवाड़ किस उद्देश्य को लेकर करता रहा! कुछ अंशतक उदर-पूर्ति का उद्देश्य अवश्य सधा, पर वह तो अन्य साधनों से भी सध सकता था। हाँ, यशोलिप्सा की नीयत से भी मैं वाग्विलास के इस क्षेत्र में उतरा था। पर वह उन्माद भी दीर्घकालतक चढ़ाव पर न रहा। छन्द-रचना की सनक थोड़े ही दिन सवार रही। कहीं पढ़ा था—"वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति", पर सौभाग्य से मेरा वात-रोग अधिक बढ़ा नहीं। जल्दी ही उसका शमन हो गया। यह मानने में मुझे कुछ खेद या पछतावा नहीं होना चाहिए कि मैं कवि या कलाकार के रूप में असफल रहा। जो अर्थलाभ हुआ उसे मैं बेईमानी की कमाई कहने को तैयार नहीं, पर उससे जो यशोलाभ हुआ उसे तो मैं चुप की।

ही कमाई मानता हूँ।

चित्त शंकाशील हो गया था, फिर भी छन्द-रचना से संबंध-विच्छेद न हो सका था। कविता लिखने का आखिर उद्देश्य क्या है ? मैं जो कुछ लिखता हूँ,उससे कई गुना अच्छा लिख-लिखकर लोग छोड़ गये हैं। फिर भी हम लिखे ही जाते हैं। यह सही है कि 'तदपि कहे बिना रहा न कोई,'पर यह भी तुलसी-जैसा युग-निर्माता कवि ही कह सकता है। तुलसी की वह जीवन-साधना और तुलसी की वह अहंकार-शून्यता भी तो हो। किसी मासिक पत्रिका में कभी पढ़ा था कि कविता का उद्देश्य तो कुछ होता ही नहीं—कविता तो कविता के लिए होती है। उस लेख में 'कोयल की कूक' का भी उदाहरण दिया गया था। पर वह तर्क कुछ जँचा नहीं। यदि ये कवि कविता के लिए ही कविता करते हैं, अथवा अपने लिए ही लिखते हैं,तो उसे सभा-सम्मेलनों में—या अपने मित्रों में ही सही, सुनाने और प्रकाश में लाने के लिए फिर इतने उत्कंठित क्यों रहते हैं ? कोयल अपनी कूक सुनाने किसीके पास कभी गई है ? हाँ, तुलसी की 'स्वान्तःसुखाय' वाली बात समझ में आ सकती है। उसमें उद्देश्य की बड़ी सुन्दर और सजीव व्याख्या मिलती है। तुलसी का अन्तर हमारे अर्थ में 'अपना' कहाँ था ? वह अन्तर तो 'सीय-राममय' अखिल जगत् का था। उसीके सुख के लिए, उसीके उदय के लिए तुलसी ने रामचरित-मानस की रचना की थी। तुलसी का वह स्वान्तः-सुख कुछ और ही था। मेरे पास न तो वह 'स्व' था, न वह 'अन्तर'—फिर सुख कहाँ से आता ? उद्देश्य-हीन रचना कैसी होती है मैं समझ नहीं सका। बिना किसी उद्देश्य के, सिगरेट से निष्कृत धुएँ की भाँति,

कविता का अन्तरिक्ष में कुण्डलाकार मंडराना मेरी समझ में तो कुछ आता नहीं। उद्देश्य तो कुछ-न-कुछ अवश्य होता है—वह उत्तम हो सकता है और हीन भी हो सकता है। मेरा अपना उद्देश्य न उत्तम था न वैसा हीन। मैंने अपनी वाणी या लेखनी को बसभर बहकने नहीं दिया। फ़रमायश पर लिखना मुझे कभी आया नहीं। और प्रतिभा भी वैसी प्रखर नहीं थी।

दिन-दिन यह विचार व्याकुल करने लगा कि मैंने कविताएँ तो लिख डालीं, पर कवि न बन सका। कवि तो ब्रह्मा की तरह सजीव सृष्टि खड़ी कर देता है। अपनी तरफ़ देखा, तब विधाता बनना तो बहुत दूर, एक कुशल कुम्हार भी न बन पाया। चौदह-पंद्रह वर्षतक अटपटी आकृतियों के कुछ शाब्दिक घड़े ही मैंने कल्पना के टेढ़े-मेढ़े चाक पर उतारे थे। उन अनघड़ घड़ों में कभी जीवन-रस न उँडेल सका। सहज में रस कुछ पड़ भी जाता, तो उनमें इतने अधिक छिद्र थे कि एक बूँद भी न ठहर पाती। कुशल कुम्हार बनने के लिए भी तो प्रतिभा और तपस्या की ज़रूरत होती है। मेरे कवि-जीवन में इसका भी अभाव रहा। किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रत्यक्ष अनुभूति के बाद भी मैंने कई कविताएँ लिखीं। तृष्णा मर नहीं रही थी। उसे मारना भी नहीं चाहता था। अहिंसा का प्रयोग मैंने अपनी इस तृष्णा पर शुरू किया था।

मेरे अन्दर एक तरफ़ तो यह मन्थन चल रहा था। दूसरी तरफ़, कविताएँ भेजने के तकाज़े आते थे। क़द्र भी कविता की तब हुई, जब कि मैं उसे दिल से उतारने का इरादा कर रहा था! पत्र आया करते— और अब भी कभी-कभी आ जाते हैं, कि 'विशेषांक के लिए तो अवश्य

अपनी एक नई रचना भेजिए'; अथवा 'इस विराट् कवि-सम्मेलन में तो कृपया अवश्य पधारिएगा, न आ सकें तो अपनी कविता ही भेज दीजिएगा।' गुण-ग्राहकता से भरे ऐसे पत्रों का जवाब न देना ही मैंने मुनासिब समझा। काव्य-रसिकों के प्रति मैंने बेअदबी तो ज़रूर की, मगर बहुत सारी आफत से अपने को बचा लिया।

लिखने में अब पहले के जैसा रस नहीं आता था, फिर भी लिखना छूट नहीं रहा था। अक्सर अपने कवि-जीवन का सिंहावलोकन भी कर लिया करता। मैंने सचमुच कभी 'अष्टछाप' की कक्षा में बैठने की आकांक्षा की थी और कभी 'भूषण' और 'सूदन' बनने के स्वप्न देखे थे। ये मन-मोदक भी बड़े स्वादिष्ट लगते थे। मेरे एक-दो प्रशंसक ऐसा मान भी बैठे थे। कुछ अरसिक आलोचकों ने मेरी खबर भी खूब ली थी। उनकी आलोचना से मानसिक क्लेश तो हुआ था, पर मैंने उन्हें 'अनधिकारी' माना था। सच ही कभी-कभी मैं अपने को उन महाकवियों का समकक्ष समझ बैठता था। इस प्रकार की 'समझ' से यदि कवि का निर्माण होता हो, तो निस्सन्देह मैं कवि बन गया था।

अपनी रचनाओं को आधुनिक सुकवियों की भी कृतियों के आगे रखता, तो फीकी और हलकी मालूम होती थीं। रत्नों की प्रदर्शिनी में कांच के टुकड़ों का रखना खुद ही भद्दा और लज्जाजनक-सा लगने लगा। मित्रों के अनुरोध को टाल देता, जब वे सुनाने को कहते। कविता छूट जाने के बाद तो काव्य-चर्चा भी अच्छी न लगती थी। स्वभाव में धीरे-धीरे जैसे कुछ रूखापन आ गया। समझा यह गया कि मैं अभिमानी हो गया हूँ। अपनी पुस्तक में दो साहित्य-यात्रियों ने मेरे अभिमानी स्वभाव

का उल्लेख भी किया है। कोई छह-सात साल की बात है। एक दिन शाम को दो साहित्य-यात्री मुझसे तथा श्रीरामनाथ 'सुमन' से साहित्यिक मुलाक़ात लेने की ग़रज़ से हरिजन-निवास पहुँचे। उस समय मैं इमारती काम का हिसाब देख रहा था, जो बड़ा ज़रूरी था। उन आगन्तुकों से मैंने थोड़ी बात की और अपने काम में लग गया। उन्होंने रहस्यवाद की चर्चा छेड़दी। अब मैं उनकी बातों का जवाब दूँ या हिसाब-किताब जाँचूँ ? साहित्य-यात्रियों ने मेरी कठिनाई को न समझा। हिसाब देखना मुश्किल हो गया। दो मज़दूरों की मज़दूरी झगड़े में पड़ी थी। लकड़ीवाला अलग अपना बिल पास कराने के लिए बैठा था। मगर वे दोनों हज़रत उठने का नाम नहीं ले रहे थे। मैं मन-ही-मन खीझ रहा था। उनका विषय-प्रवाह रुक नहीं रहा था। याद नहीं किस बात पर उन्होंने पूछा कि 'आपका आखिर भाव क्या है ?' 'आप भाव पूछते हैं ? तो ये हैं—ईंट का भाव तो पन्द्रह रुपये हज़ार है, सीमेंट सवा दो रुपये बोरी मिला है और चूना बारह आने मन, और पूछिए।' मेरी इस अशिष्टता पर एक महाशय तो बहुत बिगड़े। आसन को छोड़ते हुए बोले, 'हम आपसे ईंट-चूने का भाव पूछने नहीं आये हैं। आप हृदय-हीन हैं, जो हमारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का इस बुरी तरह जवाब देते हैं। हम लोग तो आपके पास कुछ और ही समझकर आये थे। ग़लती हुई, क्षमा कीजिए।' नमस्कार करके चले गये। मज़दूर बहुत खुश हुए। बाद को मालूम हुआ कि उन सज्जनों के चढ़े हुए पारे को सुमनजी ने अपने कोमल व्यवहार से उतार दिया था। उन्होंने अपनी यात्रा के अनुभवों में मुझे शुष्क और अभिमानी लिख दिया तो अनुचित नहीं किया।

गांधीजी हमारे हरिजन-निवास में ठहरे हुए थे। एक दिन मैंने उनके सामने अपने सारे विचार रख दिये; और पूछा कि 'कविता लिखना अब मैंने छोड़ने का निश्चय कर लिया है। इस बारे में अगर अपना वक्तव्य पत्रों में देदूँ तो अनुचित तो न होगा ?''

गांधीजी ने धैर्यपूर्वक सुनकर कहा—''इन विचारों से प्रेरित होकर अगर कविता का छोड़ देना तुम्हें सहज लगता हो तो वैसा कर सकते हो। पर इसे 'त्याग' न मानना। तुम्हारे वक्तव्य में अहंकार की भावना न हो।''

कविता से यह विच्छेद वास्तव में कोई 'त्याग' नहीं था। कविता को मैंने छोड़ा इससे तो यह कहना शायद ज्यादा सही होगा कि कविता ने या कविता की छाया ने मुझे छोड़ दिया। यदि वस्तुतः मैं कवि होता तो कविता मुझसे छूट नहीं सकती थी। वक्तव्य, फिर भी, मैंने दो-तीन महीने बाद पत्रों में प्रकाशित कराया। पर अपना निश्चय इन्दौर में मध्यभारत-साहित्य-समिति की एक सभा में व्यक्त कर दिया। यह सन् १९३५ के फरवरी की बात है। इन्दौर के बाद खंडवा में भी उक्त निश्चय को दोहराया। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने निवास-स्थान पर मेरे स्वागतार्थ एक साहित्यक गोष्ठी का आयोजन किया था। चतुर्वेदी जी के कई शिष्यों ने बड़ी सुन्दर कविताएँ सुनाई थीं। उनका आग्रह था कि मै भी उस गोष्ठी में साहित्य पर कुछ कहूँ। मेरे मन में जो मन्थन हुआ था उसीको लेकर मैंने कविता पर अपने कुछ विचार व्यक्त किये। मेरे निश्चय पर चतुर्वेदीजी को दुःख हुआ। मेरे 'छाया-कवि'की अकाल मृत्यु पर उन्होंने शोकोद्गार भी प्रकट किये। इस निरर्थक व्यापार या व्यसन में फँस जाने की मेरी सारी कहानी इतने में आजाती है—

भावावेश में कल्पनाओं का उफान उठा; उस उफान को मैंने छन्द में ढाल लिया; देखनेवालों ने मेरे इस कौशल को प्रोत्साहन दिया—और मैं कवि बन गया। मेरे भोले प्रशंसकों ने उदारतापूर्वक उत्साह न दिया होता तो अधिक-से-अधिक यही होता कि उनकी गणना मैं गुण-ग्राहकों में न करता। उनका कुछ बिगड़ता नहीं, और मेरा बहुत बड़ा उपकार हो जाता। प्रशंसकों से डरना या भड़कना सीख लिया होता, तो मैं इस अनावश्यक व्यसन में फँसने से बच जाता।

और आज अपनी इस आप-बीती से दूसरों को कुछ लाभ पहुँचाने की चेष्टा करूँ, तो मेरा यह कोई गुनाह न समझा जाये। हमारे हिन्दी-जगत् में कविता का रोग व्यापक-सा बनता जा रहा है। उदार-गुण-ग्राहक बेजा प्रोत्साहन दे-देकर अनजान में हज़ारों का अहित कर रहे हैं। साहित्य के हक़ में इस प्रवृत्ति का बढ़ना शुभ मालूम नहीं देता। उदार प्रशंसक ज़रा किफ़ायतसारी से काम लें। साथ ही, उदारतापूर्वक प्रशंसा पानेवाले भी प्रोत्साहन मिलने से रबड़ की गेंद की तरह अपने सहज शील को न भूल जायें। बेचारी गेंद का अंतर तो खाली होता है, इसलिए हवा की फूँक ही उसका सारा वैभव है, जबकि मनुष्य के अंतर में अनेक गुणों की निधि पहले से ही भरी पड़ी है। फिर कवि तो मनुष्य की पूर्णता का प्रतिरूप है। उस पूर्णता को लोकस्तुति की भूख होनी ही नहीं चाहिए।

मेरे कई मित्रों ने इसे मेरा 'साहित्य-संन्यास' समझा है। मैं नम्रतापूर्वक कहूँगा कि उनका ऐसा समझना सही नहीं है। कृपाकर वे 'साहित्य' का संकुचित अर्थ न करें—और 'संन्यास' शब्द को भी अपने गौरवस्थान पर प्रतिष्ठित रहने दें।

: १४ :

गद्य-काव्य

पद्य-प्रकरण तो समाप्त हुआ। अब गद्य की भी कुछ कहानी सुनलें। कहा है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। यदि गद्य की कसौटी पर खरा उतर जाऊँ, तो फिर मुझे अपने को असफल कवि नहीं कहना चाहिए, इसका यही अर्थ हुआ। बहुत वर्षोंतक मैं इतनी-सी भी सीधी बात न समझ सका कि पद्य में व्यक्त किया जाये या गद्य में, व्यक्त करने के लिए कुछ अनुभूत भाव या विचार भी तो हों। पद्य और गद्य तो यह ऊपर के खोल हैं। पर मैंने तो ऊपर के इन रंग-बिरंगे आवरणों को ही मुख्य मान लिया था।

इलाहाबाद गया उससे पहले गद्य में एक पंक्ति भी नहीं लिखी थी। 'संक्षिप्त सूरसागर' के सम्पादन-कार्य से छुट्टी पाई, तब छोटे-छोटे निबन्ध लिखने का आरम्भ किया। उन निबन्धों में भी, कविता की ही तरह, ऊपरी सजावट पर ही मेरा खास ध्यान रहा। मित्रों ने मेरे उस अभिनव प्रयास को गद्य-काव्यों की श्रेणी में स्थान दिया। इससे पहले यह 'गद्य-काव्य' शब्द मैंने सुना भी नहीं था। उस निबन्धावली का नाम "तरंगिणी" रखा गया। साहित्योदय के संचालक श्रीभवानीप्रसाद गुप्त

ने उसे प्रकाशित किया, और इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के प्रख्यात प्रोफेसर पंडित शिवाधार पांडेय ने उसकी प्रस्तावना लिखी। पांडेयजी का सरल स्नेह-भाव मैं आज भी नहीं भूला हूँ। उनसे मेरा परिचय स्व० देवेन्द्रकुमारजी ने कराया था। अंग्रेजी साहित्य के बहुत बड़े विद्वान्, फिर भी हिन्दी साहित्य के प्रति उनके हृदय में अगाध भक्ति-भाव। पाँच-सात बार उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। हमेशा हँसमुख, मिलनसार और विनम्र पाया। पांडेयजी ने कुछ कविताएँ भी लिखी थीं। याद पड़ता है कि उन्होंने एक दिन मुझे अपनी 'बेला-चमेली' नाम की यह रचना बड़े प्रेम से सुनाई थी—

> बदरी करौंदे, सारे सीधे-औंधे
> खड़े हुए बाँधे कतार।
> फूले-फूले फालसा, खिन्नियाँ मदालसा
> थेई-थेई थिरकें अपार ॥
> केला नासपाती बनठन बराती
> नाचें शराबियों की तौर।
> आलू रतालू ले-लेके ब्यालू,
> खावें अलग चुप्प चोर ॥

काफ़ी लम्बी कविता थी। पर मुझे कुछ जँची नहीं। मेरे मुँह से निकल गया, "पांडेयजी, यह क्या गोरख-धंधा रच डाला! मुझे तो आपकी इस अजीब-सी चीज़ में ज़रा भी रस नहीं आया।" स्पष्ट ही मेरी यह टीका अशिष्टतापूर्ण थी। छोटे मुँह बड़ी बात कह गया। विनय का कुछ भी ध्यान न रहा। परन्तु पांडेयजी ने मेरी अविनयपूर्ण आलो-

चना को प्रेम से सुना, और अपनी रचना का भावार्थ खोलकर समझाया। मैं अपनी अशिष्टता पर बड़ा लज्जित हुआ।

"तरंगिणी" जब छपकर मेरे हाथ में आई तो हर्ष और गर्व का पार न रहा। मुझे लगा कि मेरा यह गद्य-काव्य रवि बाबू की 'गीतांजलि' से महत्त्व में शायद ही कुछ कम हो! 'गीतांजलि' का एक साधारण-सा हिन्दी-अनुवाद ही मेरे देखने में आया था। बंगला की तब वर्णमाला भी नहीं जानता था। गीतांजलि के पदों का अलौकिक रसास्वादन तो बहुत पीछे किया। आज मुझे अपनी उस उद्धत मूढ़ धारणा पर बड़ी हँसी आती है। मनुष्य अपने-आपको कैसा धोखे में डाल देता है!

भाव की दृष्टि से 'तरंगिणी' में दूसरों के भावों का काफ़ी अपहरण था, और भाषा तो उसकी बिल्कुल कृत्रिम थी। पंडित गोविन्दनारायण मिश्र की उस भाषा का भी मैंने दो-तीन निबन्धों में अनुकरण किया था, जिसका एक नमूना उनके द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में मिलता है। बीस-बीस, पचीस-पचीस शब्दों के समासान्त वाक्यों को उन निबन्धों में बाँधने का मैंने कष्ट-साध्य प्रयत्न किया था। यह है उसका एक नमूना—

"तू मुझे बुलाता है, निरन्तर बुलाता है। जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कल-कल-रव-कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ; सुमन्दस्रोतस्वती-सरित-तट-तरु-शाखा-विहरित कलकण्ठी-कोकिल-कुहूक-ध्वनि सुनता हूँ; प्रभात-ओस-कण-झलकित-हरिततृणाच्छादित प्रकृति-परिष्कृत-बहुवनस्पति-सुगन्धित सुखद भूमि पर लेटता हूँ; तथा नाना-विहगपूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्णशृङ्ग-शुभ्र-स्फटि-

कोपम-शिलासन पर बैठकर प्रकृति-छटा-दर्शनोन्मत्त-अर्द्धोन्मीलित साश्रु-नयन द्वारा अस्तप्राय तप्तकांचनवर्ण-रविमंडल-भव कमनीय कान्ति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव-सुन्दर लज्जावनत अप्रकट-सुमन-सौरभ-रसिक पवन आकर श्रवणपुट द्वारा तेरा विरहोत्कण्ठित प्रिय सन्देश सुना जाता है।"

मेरे कुछ प्रशंसकों ने कहा और मैंने भी मान लिया कि मेरा यह गद्य तो बाण और दण्डी के पद-लालित्य की याद दिलाता है! मुझे अपनी इस कृत्रिम भाषा-शैली पर भारी गर्व होगया।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ सान्निध्य होजाने से मुझे साहित्य के अनेक ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने का बड़ा अच्छा अवसर मिला। छतरपुर में तो मैं पढ़नेके लिए तरसता था। हमारे राजकीय पुस्तकालयतक सर्व-साधारण की पहुँच नहीं थी। प्रयाग में जाकर मेरी वह पढ़ने की पुरानी साध पूरी हुई। अधिकतर मैंने काव्य की ही पुस्तकें पढ़ीं। कितनी ही सूक्तियों का संग्रह कर डाला। उस सूक्ति-संग्रह का उपयोग मैंने कुछ नई शैली के निबन्धों में किया। उस शैली को मैं पंडित पद्मसिंह शर्मा की शैली कहता हूँ। उन निबन्ध-सूत्रों में सूक्ति-मणियों को गूँथने की चेष्टा की। निबन्ध-संग्रह का नाम "साहित्य-विहार" रखा। "साहित्य-विहार" प्रयाग के साहित्य-भवन से प्रकाशित हुआ। प्रस्तावना उसकी स्व० पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने लिखी। चतुर्वेदीजी मुझपर बहुत स्नेह करते थे। व्रज-साहित्य के बड़े रसिक थे। जब कभी प्रयाग आते मुझसे अवश्य मिलते थे। साहित्य-विहार की शैली पर कुछ और निबन्ध लिखने के लिए चतुर्वेदीजी ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया था।

गद्य-काव्य की चार पुस्तकें और कोई पन्द्रह साल के अर्से में लिखीं, जिनके नाम 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना' और 'ठंडे छींटे' हैं। भाषा तथा भावों में उत्तरोत्तर परिष्कार और सुधार होता गया। अनेक दोष भी दृष्टिमें आये। कई लेखों में मुझे भाषा और अलंकार का आडम्बरमात्र दिखाई दिया। देखा कि अस्पष्ट अभिव्यंजना के अतिमोह से यदि मुक्त न हुआ, तो सम्भव है कि, मेरा गद्य-काव्य आगे चलकर उन्मत्त का प्रलाप कहा जाने लगे। मैं सँभल गया। ऐसे तमाम अंशों को निकाल दिया। यह देखते हुए भी कि रहस्यमयी अभिव्यंजना के पीछे कितने ही कवि और लेखक पागल होगये हैं, मैंने अपने आपको उलझन की उस अटपटी राह पर से हटा लिया। फिर भी कुछ-न-कुछ परछाईं तो मेरे शब्द-चित्रों पर उसकी पड़ ही चुकी थी। हमारे साहित्य में लाक्षणिक अभिव्यंजना की ऐसी बाढ़ आई कि लेखक और उसके विषय के बीच का तारतम्य ही टूट गया। होश रहते हुए भी लेखक प्रायः यह भूल गया कि वह क्या कह गया है या क्या कहना चाहता है। और आलोचकों ने तो और भी ग़ज़ब किया। अस्पष्ट अभिव्यंजना की ऐसी-ऐसी लोकोत्तर व्याख्याएँ उन्होंने खोज निकालीं, जिनका अर्थ लगाना कठिन होगया। उलझन को उन्होंने और भी उलझा दिया। शोधकों ने पता लगाया कि ऐसी रहस्यमयी अभिव्यंजना की जड़ें ठेठ उपनिषदों के रूपकोंतक पहुँची हैं। यह भी विश्वास किया जाने लगा कि इस प्रकार के रहस्यपूर्ण गीतों के गायक उसी 'मधुमती भूमिका' के एकान्त साधक हैं, जिसका सरस संकेत अपने आध्यात्मिक उद्गारों में पूर्वकाल के ऋषियों ने किया था। इधर रविबाबू की प्रखर प्रतिभा ने इन लेखकों की मौलि-

कता को अभिभूत-सा कर दिया। इस रससिद्ध विश्व-कवि का अंधाधुन्ध अनुकरण हुआ। हिन्दी-जगत् में राय कृष्णदास-जैसे विरले लेखक ही अपनी मौलिकता को न्यूनाधिक अंशों में क़ायम रख सके। अनेक लेखकों ने तो गद्य-काव्य के नाम से अधिकतर बेसिर-पैर की ही बातें लिखी हैं। इस कोटि के लेखकों का एक अलग सम्प्रदाय ही बन गया। पर मैं इस सम्प्रदाय में शामिल नहीं हुआ, यद्यपि गद्य-काव्य के रचयिताओं में मेरे नाम का भी यदा-कदा उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार की दो रचनाओं पर मुझे ममता अवश्य है। 'भावना' और 'प्रार्थना' मुझे आज भी वैसी ही प्रिय हैं, 'प्रार्थना' तो और भी अधिक। ये दोनों बाद की रचनाएँ हैं, पर वैसी प्रकाश में नहीं आईं जैसा कि 'अन्तर्नाद', किन्तु इन उपेक्षिताओं को मैं भुला नहीं सका। न जाने क्यों?

'ठंडे छींटे' में अधिकतर उन भावोद्गारों का संकलन है, जिनको मैंने राज्य और समाज के असह्य अत्याचारों से प्रेरणा पाकर समय-समय पर व्यक्त किया था। स्वसम्पादित "पतित-बन्धु" में इन मुक्तक विचारों का लिखना शुरू किया था। उन दिनों मैं पन्ना राज्य में था। सिवा 'अन्तर्नाद' के ये तीनों ही पुस्तकें मैंने वहीं बैठकर लिखी थीं। 'भावना' और 'प्रार्थना' लिखते समय मेरी जैसी मनःस्थिति थी, वह 'ठंडे छींटे' के रचना-काल में न रही। मैंने इसी पृथिवी पर, इसी जीवन में नरक के बीभत्स चित्र देखे। मानव द्वारा मानव की अप्रतिष्ठा कहाँतक हो सकती है, स्वार्थ-साधन के लिए देव-दुर्लभ मानव-जीवन किस-किस तरह घोर नरक में परिणत किया जाता है, इसके मुझे प्रत्यक्ष

अनुभव हुए। उन्हीं अनुभवों को 'ठंडे छींटे' में मूर्तरूप देने का मैंने प्रयत्न किया। साथ ही, उसमें कुछ भक्ति-भावना के भी मुक्तक उद्गार व्यक्त किये।

लगभग इसी अलंकारी शैली में दो पुस्तकें और उन्हीं दिनों लिखी थीं—'पगली' और 'विश्वधर्म।' यह 'विश्वधर्म' भी प्रकाश में नहीं आया।

कोई दो-ढाई साल की बात है। एक मासिक पत्रिका के सम्पादक महोदय ने बड़ा आग्रह किया कि उनकी पत्रिका के लिए मुझे ज़रूर कुछ-न-कुछ लिखते रहना चाहिए—"आपसे मैं कविता लिखने के लिए नहीं कहूँगा। पर क्या आपने गद्य-गीतों का लिखना भी छोड़ दिया है? एक-दो गद्य-गीत तो आप बड़े मज़े में हर मास हमारी पत्रिका के लिए लिख सकते हैं," उन्होंने बड़े अनुरोध के साथ कहा।

"खेद है कि आपकी इस आज्ञा का भी पालन न कर सकूँगा। फिर आप एक ऐसे आदमी से गीत लिखवाना चाहते हैं, जिसे न स्वर का ज्ञान है, न ताल का!"

"लेकिन गद्य-गीतों में स्वर-ताल की क्या आवश्यकता है? मेरा आशय असल में गद्य-काव्य से है।" सम्पादकजी ने अपना अभिप्राय समझाते हुए कहा।

"नहीं, स्वर-ताल गद्य-गीत में भी आवश्यक है। गीत तो गीत है, फिर वह पद्य में हो या गद्य में।"

"और गद्य-काव्य?"

"गीत और काव्य में कोई विशेष अन्तर नहीं। मुझे तो आप क्षमा

ही करें। मैं अपने को गद्य-गीत या गद्य-काव्य लिखने का अधिकारी नहीं मानता।" मैंने अपना पिंड छुड़ाते हुए कहा।

"पर आपने जो कई गद्य-काव्य लिखे हैं?"

"मैं उनको काव्य नहीं मानता। जो लिख दिया सो लिख दिया। खेद है कि आज मैं वैसा भी न लिख सकूँगा। दोबारा अब उन स्वप्नों का देखना सम्भव नहीं।" मेरे इस उत्तर से भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

यह सब जो भी लिखा, मेरी भावुकता का ही परिणाम है—और भावुकता भी वह, जिसे अलंकारी भाषा ने, आडम्बरी शैली ने अपने आप में शुद्ध नहीं रहने दिया। मेरी रचनाओं को न ज्ञान का विकास मिला, न श्रद्धा-भक्ति का सहारा मिला। लोगों में एक भ्रम अवश्य प्रचार पा गया कि मैं भी 'गद्य-काव्यों' का एक रचयिता हूँ। मेरी इस असफलता की स्वीकारोक्ति से यदि यह भ्रम दूर हो जाये, तो मैं इसे अपनी एक सफलता ही समझूँगा।

: १५ :

लेखन-व्यवसाय

यद्यपि मैं न तो सफल कवि बन सका, न सिद्धहस्त लेखक, तो भी जीविका का मुख्य सहारा मेरा किसी-न-किसी रूप में लेखन-व्यवसाय ही रहा। मैं आज भी अपने को लगभग 'मसि-जीवी' ही मानता हूँ। छोटी-बड़ी सब मिलाकर चालीस से ऊपर पुस्तकें लिखीं। इनमें स्वर-चित, संकलित व संपादित सभी पुस्तकें आजाती हैं। न चाहते हुए भी लेखन धीरे-धीरे मेरा व्यवसाय बन चला, पर उससे मैंने खास कुछ उपार्जन नहीं किया, वैसा तब ज्ञान भी नहीं था। कुछ पुस्तकें तो बिना कुछ पारिश्रमिक लिये ही प्रकाशकों को देदीं। सम्मेलन के लिए भी जो लिखा उसमें कभी आर्थिक हेतु नहीं जोड़ा।

परन्तु प्रकाशन में मुझे कोई खास कठिनाई नहीं आई। केवल 'प्रेमयोग' के प्रकाशन के सम्बन्ध में पाँच-सात प्रकाशकों के साथ कुछ पत्र-व्यवहार करना पड़ा था। उन दिनों मुझे काफ़ी आर्थिक कष्ट था। कॉपीराइट उसका कम-से-कम २००) में देना चाहता था। अपने आदरणीय मित्र पंडित पद्मसिंह शर्मा को भी मैंने इस विषय में लिखकर कष्ट दिया था। शर्माजी ने बड़ी सहानुभूति के साथ मेरे पत्र का उत्तर

दिया, उसे मैं नीचे उद्धृत करता हूँ :—

"प्रिय वियोगी हरिजी, प्रणाम।

कृपा-पत्र मिला। आपकी चिन्ता का कारण जानकर चिन्ता हुई। हिन्दी-संसार में ऐसा प्रकाशक मिलना दुर्लभ है, जो अच्छी चीज़ की क़द्र करे और पेशगी पुरस्कार भी देदे। प्रकाशक प्रायः अर्थपिशाच हैं, उनके यहाँ सब धानों का भाव २२ पंसेरी है!

लोकरुचि को भ्रष्ट करनेवाले खरीदार हैं। हिन्दी में आज अश्लील किस्से-कहानियों की भरमार है, अच्छे साहित्य को कोई पूछता ही नहीं। एक संस्कृत कवि की सूक्ति याद आरही है—

जातेति कन्या महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्॥

यही बात आजकल अच्छी रचना के विषय में भी लागू हो रही है। एक प्रकाशक महाशय मेरे लेख-संग्रह के लिए बहुत लालायित थे। जब पुरस्कार की बात चली, तो पहले ॥) पेज कहा, फिर १) पेज पर आकर ठहर गये, और वह भी बाद को पुस्तक बिकने पर!

मुजफ्फरपुर में जो प्रकाशन का आयोजन होरहा था, वह लोग भी ढीले पड़ गये। मेरा लेख-संग्रह लिया था वह भी अभी खटाई में ही पड़ा है। न जाने कब प्रकाशित हो और क्या मिले। 'प्रेमयोग' के बारे में भी उनसे आपकी शर्त लिखकर पूछूँगा। इण्डियन प्रेस को भी लिखूँगा। और तो कोई नज़र आता नहीं, जिससे बात की जाये।

गुरुकुल कांगड़ी, भवदीय
चैत्र व. १२।८९ पद्मसिंह शर्मा

'प्रेमयोग' को बड़ी ख़ुशी से गोरखपुर के गीताप्रेस ने प्रकाशनार्थ ले लिया। पेशगी २००) भी भेज दिये। पुस्तक को शुद्ध और सुन्दर छापा, और प्रचार भी उसका अच्छा किया। पर यह तो एक अपवाद था। ऐसे व्यवहार-शुद्ध प्रकाशकों को हम उँगलियों पर गिन सकते हैं। पंडित पद्मसिंहजी ने जो अन्तर्व्यथा अपने उक्त पत्र में व्यक्त की है वह आज भी सर्वथा सत्य है। हिंदी का यह घोर दुर्भाग्य है, जो शर्माजी-जैसे अमरकीर्ति लेखकों की कृतियों का मूल्य ॥) या १) पेज लगाया जाये और उन्हें बड़ी वेदना और क्षोभ के साथ यह लिखने को बाध्य होना पड़े कि 'प्रकाशक प्रायः अर्थपिशाच हैं।'

हिंदी के लेखकों की कहानी बड़ी करुणाजनक है। कई ऊँचे लेखकों के दिन सचमुच बड़े क़साले में कटे। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, रामदास गौड़, चन्द्रशेखर शास्त्री प्रभृति साहित्यकार अपने रक्त की अंतिम बूँद देकर भी हिन्दी की आराधना करते रहे, जीवनभर ऋण के भार से बुरी तरह दबे रहे, भूखों मरने की भी नौबत कई बार आई, पर किसीने कभी उन्हें पूछा? हाँ, यह बेशक़ सुना गया कि हिन्दी में अच्छी चीज़ें नहीं निकल रहीं—हिंदी में पढ़ने-लायक़ कुछ है नहीं। मगर इन शिकायत करनेवालों से कोई पूछे कि तुमने हिन्दी को ऊँचा उठाने के लिए कुछ किया भी है? बात-बात में अँग्रेजी साहित्य की महिमा गानेवाले इन असन्तुष्ट आलोचकों ने हिन्दी लेखकों को क्या प्रोत्साहन दिया? अंग्रेज़ी के मामूली लेखकों को भी हिन्दी के अच्छे लेखकों के मुक़ाबिले कितना अधिक पुरस्कार दिया जाता है। हिंदी में जो भी साहित्य-सम्पदा आज दिखाई देती है, उसका

अर्जन और उसका रक्षण अकिंचिनों ने ही अपने पुण्य साधनों से किया है। समाज उनसे कभी ऋण-मुक्त नहीं हो सकता।

साधनहीन लेखकों की सहायता करने के लिए अखबारों में कई बार हृदयस्पर्शी अपीलें निकाली गईं। उन्हें वृत्तियाँ देने-दिलाने की भी तजवीज़ें सोची गईं और कुछ लेखकों को उनकी दुरवस्था पर रहम खाकर कभी-कभी कुछ आर्थिक सहायता पहुँचाई भी गई; पर मुझे हमेशा ऐसी तमाम तजवीज़ें अपमानजनक और हीन मालूम हुईं। लेखक अपने को असहाय, अपंग और अनाथ क्यों माने? कर्त्तव्य-भ्रष्ट समाज उसकी क़द्र नहीं करता, तो अपने दुर्दिनों में उसके सामने, मोहताज की तरह, उसे हाथ नहीं फैलाना चाहिए। मिट्टी खोद-खोदकर और घास छील-छीलकर अपना और अपने कुटुंब का पेट भरे, और अपने जीवन-घट से साहित्य-रस का पान निष्काम भाव से समाज को जितना बन पड़े कराता रहे। जो कष्ट उसे सहन करना पड़ता है, उसे वह स्वेच्छा से सहन क्यों न करे? प्रकाशक की फरमाइश पर लिखना छोड़दे। प्रकाशक को शोषण करने का मौक़ा वह दे ही क्यों? समाज सम्मानपूर्वक अपने लेखकों के चरणों पर यदि भेंट चढ़ाता है, तो वह उनका कोई उपकार नहीं करता, बल्कि ऐसा करके स्वयं उपकृत होता है। स्वाभिमानी लेखकों को भिक्षुक बनकर अर्थलोलुप प्रकाशकों और उपेक्षक समाज के आगे हाथ नीचा नहीं करना चाहिए।

ऐसे विचार अक्सर मेरे मन में आते थे, और आज भी आते हैं। लेकिन परिस्थितियों ने मुझे भी दो या तीन बार बुरी तरह झकझोर डाला, और प्रकाशकों के आगे हाथ फैलाने के लिए मजबूर कर दिया।

तीन संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशकों की फ़रमाइश पर तैयार करने पड़े और मेरी गरज़ का पूरा फ़ायदा उठाकर सस्ते दामों में उन्होंने मेरा परिश्रम ख़रीद लिया। सन्तोष यही रहा कि प्रकाशकों की बेजा फ़रमाइश की चीज़ मैंने कभी नहीं लिखी—लिखाने की उनकी हिम्मत भी नहीं पड़ी। कई प्रकाशक तो लेखकों की वेश्या से अधिक क़द्र नहीं करते। गरज़मन्द लेखक भी लोभ में आकर उनकी बेजा फ़रमाइश पर गलीज़-से-गलीज़ चीज़ लिखने को तैयार हो जाते हैं।

लेखन आज प्रतिष्ठित व्यवसाय के रूप में नहीं चल रहा है; किसी तरह वह पेट भरने का एकमात्र ज़रिया है। कभी वैसा बन भी सकेगा इसमें भी सन्देह है। लेखन व्यवसाय के रूप में कदाचित् यहाँ हमारे देश में था भी नहीं। विचारों और भावों को, या मस्तिष्क और हृदय को बेचनेवाले प्रतिष्ठा के पात्र कभी नहीं समझे गए। लेखन को व्यवसाय के रूप में चलाना अनुपयुक्त भूमि में विदेशी पौदे का रोपना है। अपने यहाँ तो गोरस भी बेचना अनुचित समझते थे। फिर 'हृदय-रस' बेचने की तो बात ही क्या। किन्तु पहले की वे परिस्थितियाँ आज नहीं रहीं। जो कभी नहीं किया था वैसा भी करने को आज बाध्य होना पड़ रहा है। दिनों के फेर से साहित्यकारों को अपना अनमोल शील भी आज बाज़ार में रखना पड़ रहा है! और उनकी दीन-हीन परिस्थितियों से बड़ा अनुचित लाभ उठाया जा रहा है।

सद्भाव या शुद्ध व्यवहार बहुत कम प्रकाशकों का लेखकों के साथ रहा है। पहले संस्करण में उनकी पुस्तकों का जो आदर होता है, वह बाद के संस्करणों में नहीं रहता। रद्दी काग़ज़ पर बड़ी दरिद्र छपाई करते हैं।

लेखक को कभी-कभी पता भी नहीं चलता कि उसकी पुस्तक के कितने संस्करण हो गये। शायद रायल्टी की पद्धति में ऐसा न होता होगा। मुझे उसका अनुभव नहीं। मेरी कई पुस्तकों की बड़ी दुर्गति हुई। अपने एक मित्र को मैंने प्रकाशनार्थ दो या तीन पुस्तकें दी थीं, और व्यक्तिगत रूप से दी थीं। साझेदारों में कुछ आपसी झगड़े चले और दुर्भाग्य से मेरी वे पुस्तकें मेरे मित्र के पास से निकलकर एक दूसरे सज्जन के हिस्से में चली गईं। मुझे इसकी सूचना भी नहीं दी गई। उन महाशय ने बिना मुझसे कुछ पूछे-ताछे पुस्तकों का छापना शुरू कर दिया। उस प्रकाशन में मेरी विनय-पत्रिका की टीका भी थी। प्रूफ-संशोधन के लिए मेरे पास पुस्तकें वे निस्संकोच भेज सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। पुस्तकों के, खास कर, 'विनय-पत्रिका' के नये संस्करण देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। अशुद्धियों की भरभार थी। पर प्रकाशक महाशय को इससे क्या। उन्हें तो पुस्तक बेचने से मतलब था। बेचने में कोई कठिनाई भी नहीं आती थी, क्योंकि पुस्तक बाज़ार में अपना स्थान बना चुकी थी। मैंने अपने मित्र से शिकायत की। पर उनके सामने शायद कोई चारा नहीं था। पछताने लगे। मैं भी आगे और क्या कह सकता था। मन मारकर रह गया। 'वीर-सतसई' और 'पगली' की भी लगभग ऐसी ही दुर्गति हुई। मैंने तो अच्छे घर देखकर ही अपनी पुस्तक-रूपी कन्याओं को दिया था; मुझे सन्देह नहीं था कि 'दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति'—पर उनके भाग्य फूट गये। इसे विधाता का दुर्विधान ही कहना चाहिए।

इस सब से तंग आकर कुछ कवि और लेखक खुद प्रकाशक बन गये,

लेकिन प्रकाशन की क़ीमत में उन्हें अपनी प्रतिभा का बहुत-सा अंश देना पड़ा। व्यवहार-कुशल बहुत कम लेखक देखे गये। यदि व्यवहार-कुशलता की ओर बहुत ज्यादा झुके तो लेखन-प्रतिभा में व्याघात हुआ। फिर भी शायद कुछ लेखक दोनों चीज़ों को एकसाथ निभा ले जाते हैं। बिना मोल-तोल किये वे एक पंक्ति भी लिखने को तैयार नहीं होते। मेरे मित्र स्व.श्रीरामदास गौड़ अपने बचपन का एक क़िस्सा सुनाया करते थे। एक दिन एक बढ़ई उनके घर पर अपना ख़त पढ़वाने के लिए पहुँचा। गौड़जी ने ख़त पढ़कर सुना दिया। उसके चले जाने के बाद गौड़जी के चाचा उनपर बहुत बिगड़े—"नासमझ लड़के, तूने बगैर कुछ उजरत लिये उसका ख़त यूँही पढ़ दिया। तेरी खड़ाऊँ की खूँटी अगर टूट जाये, तो क्या वह बढ़ई बिना पैसे लिये मुफ्त में नई खूँटी लगा देगा? तू एक मुंशी का लड़का होकर ऐसी बेवकूफ़ी कर बैठा!"

लेखन कला को व्यवसाय बनाने के लिए अभागे लेखकों को अभी न जाने क्या-क्या सीखना पड़ेगा।

: १६ :

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

(१)

जान्स्टनगंज, प्रयाग के जिस किराये के मकान में श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन पहले रहते थे, शुरू-शुरू में उसी मकान के एक कमरे में, मुझे बतलाया गया, सम्मेलन का प्रारंभिक कार्यालय था। उसी कमरे में बैठकर मैंने 'संक्षिप्त सूरसागर' का संपादन-कार्य किया था। उस कमरे को हम लोग 'सम्मेलनवाला' कमरा कहते थे। पंडित बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र श्रीमहादेव भट्ट उसी कमरे में, एक छोटी-सी चौकी पर बैठकर, पत्र-व्यवहार का काम किया करते थे। मैं जब इलाहाबाद गया, तब उन दिनों अहियापुर में भारती-भवन पुस्तकालय के सामने एक छोटे-से मामूली मकान में सम्मेलन का दफ्तर था। मकान बिल्कुल जर्जरित अवस्था में था। न उसमें प्रकाश आता था, न स्वच्छ हवा। पाखाना तो उसका बड़ा ही गंदा रहता था। मेरे मित्र पं० रामनरेश त्रिपाठी ने उसपर बीभत्स रस के कुछ कवित्त भी लिखे थे। उनमें से एक कवित्त नीचे उद्धृत कर रहा हूं:—

"कुंभीपाक की जो कथा गाई है पुरानन में,
ताही कौ नमूनो यह विरंचि बनायो है।

सूरज की गमि नाहिं, पौन की पहुँच नाहिं,
रात-दिन एक-सो अँधेरो जहाँ छायो है।
प्रानायाम जानैं सो तो बैठि कछु काल सकैं,
नाकवारे प्रानिन कों साँसति सहायो है।
घोर दुरगंध को खजानो यहि घर में
न जानौं कौन दानौ पायखानौ बनवायो है॥

इसी अँधेरे सीलदार मकान में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अखिल भारतीय कार्यालय था। चारों विभागों के पाँच या छह कर्मचारी यहीं फर्श पर बैठकर काम किया करते थे। हिसाब-किताब-लेखक पंडित महावीर-प्रसाद त्रिपाठी से मेरी खूब बनती थी। वह हस्तलिखित कविता-पुस्तक मेरे इन्हीं मित्र की थी, जिसे मेरे सामान के साथ सहारनपुर में, प्रांतीय सम्मेलन के अवसर पर, चोर चुरा ले गये थे। किन्तु त्रिपाठीजी ने मुझसे उसके सम्बन्ध में कभी एक शब्द भी नहीं कहा।

वहाँ से उठकर सम्मेलन का दफ्तर विद्यापीठ के साथ कुछ दिनों के लिए फिर जान्स्टनगंज में आया, और उसके बाद क्रास्थवेट रोड पर। सम्मेलन ने यहाँ ज़मीन खरीदकर अब उसपर अपना एक कच्चा मकान खड़ा कर लिया था। जिस जगह आज विशाल सम्मेलन-भवन खड़ा है, वह बग़लवाली ज़मीन तो शायद बाद को खरीदी गई थी। टण्डनजी के साथ-साथ अपने उस नये कच्चे भवन में रोज़ सवेरे मैं अमरूद और केले के दरख्तों को पानी दिया करता था। एक-डेढ़ वर्ष यहाँ एक कोठरी में मैं रहा भी था। विनय-पत्रिका पर यहीं बैठकर मैंने 'हरितोषिणी' टीका लिखी थी। सम्मेलन-पत्रिका का संपादन भी यहीं पर किया था।

कुछ विद्यार्थियों को मध्यमा का साहित्य भी पढ़ाया करता था। प्रबन्ध-मन्त्री पंडित द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी दारागंज से रोज़ शाम को इक्के पर दफ्तर में काम करने आया करते थे। चतुर्वेदीजी ने अपने कार्य-काल में सम्मेलन का काम बड़े नियमित रूप से चलाया था।

मेरे ये संस्मरण तेईस-चौबीस वर्ष पहले के हैं। तब के अनेक कार्य-कर्त्ता आज नहीं रहे। उनमें से कई तो स्वर्ग सिधार गये; कइयों ने अवकाश ग्रहण कर लिया। सम्मेलन कुल मिलाकर तब से काफ़ी प्रगति कर चुका है। उसका आज वह पहले का रूप नहीं रहा, जो स्वाभाविक भी है। उसकी बढ़ती पर हम सबको सन्तोष होता है, पर उसके पुराने रूप के संस्मरण फिर भी मुझे अधिक सुन्दर और अधिक सुखद लगते हैं। ऐसा लगता है कि तब जैसे सम्मेलन में साधना की ओर झुकाव अधिक था। तब, जैसे उसके आराधक अधिक थे, आलोचक बहुत कम। विस्तार के साथ-साथ सम्मेलन ने अपने आलोचकों को भी बढ़ाया। हरिद्वार से काशीतक तो गंगा का शुद्ध आराधन किया गया—आगे उसका मूल्य व्यापारिक यातायात की सुविधाओं से आँका जाने लगा। अब देखता हूँ कि सम्मेलन साधना का वैसा तीर्थस्थल नहीं रहा। अब तो वह जैसे अधिकार और विवाद का विषय बनता जा रहा है। लेकिन लोक-तन्त्र में शायद ऐसी घटनाओं से बचा नहीं जा सकता। राजनीति-प्रधान युग में किसी संस्था को लोकव्यापी और दीर्घजीवी होना है, तो जन-विवाद का विषय, सद्भाग्य या दुर्भाग्य से, उसे बनना ही पड़ेगा। हममें से कुछ लोगों का खयाल है कि कम-से-कम साहित्य-देवता के आराधना-मन्दिर को तो राजनीति की छाया से अलिप्त रखना ही चाहिए। मैं भी

लगभग ऐसा ही मानता हूँ। हमारा हरिजन-सेवक-संघ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किन्तु संघ और सम्मेलन के विधानों में वस्तुतः अन्तर है। सम्मेलन बेचारा इस दलदल से अब निकल भी नहीं सकता।

मेरे जैसे भक्तों की दृष्टि में तो सम्मेलन का वर्त्तमान रूप भी ममता और श्रद्धा का पात्र है। सम्मेलन ने इस अल्पकाल में राष्ट्रभाषा हिन्दी की कम सेवा नहीं की। दोष-दर्शन बड़ा आसान है। पर सम्मेलन ने अबतक जो काम किया है उसका मूल्य न्यायतः कम नहीं आँका जा सकता। प्रचार की दिशा में उसने बहुत बड़ा काम किया है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रीतियों से। उसने संस्थाओं को जन्म दिया है और समर्थ बनाया है। कुछ संस्थाएँ उससे सम्बद्ध रहीं; कुछ स्वतन्त्र होगईं। सम्मेलन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की गई, तो कृतघ्नता भी प्रकट की गई। उसके 'स्वरूप' को नष्ट कर देने के भी कुप्रयत्न किये गये। मैं इस चीज़ में उतरना नहीं चाहता। मेरा तो इतना ही कहना है कि सम्मेलन की टीका-टिप्पणी करते समय 'अति राष्ट्रीयता' या 'अति साहित्यिकता' के आवेश में आकर हमें अपनी विवेक-बुद्धि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ऐसी एकपक्षीय आलोचनाओं द्वारा कई बार सम्मेलन के साथ अन्याय हुआ है।

अबोहर के १९४१ के अधिवेशन से कुछ मित्र लौटे थे, और हमारे हरिजन-निवास में कृपाकर मुझसे मिलने आये थे। कुछ तो उनमें खालिस राष्ट्रीयता के हिमायती थे और कुछ शुद्ध साहित्यिकता के पक्ष के थे। बातचीत के सिलसिले में एक पक्ष सम्मेलन को 'अराष्ट्रीय' सिद्ध कर रहा था, और दूसरा पक्ष उसे 'असाहित्यिक' बतला रहा था। मेरे

लिए दोनों ही पक्षों के मित्र समान आदरणीय थे। मैं कुछ भी बोलना नहीं चाहता था। मैंने तो तटस्थ-वृत्ति ले रखी थी। ऐसी चर्चाओं में उतरना नहीं चाहता था। पर उनकी वह चर्चा मुझे अच्छी नहीं लगी। मैंने देखा कि सम्मेलन के साथ दोनों ही पक्ष स्पष्ट ही अन्याय कर रहे थे। मैंने विषय बदल दिया और प्रयाग के कुछ पुराने प्रसंगों पर चर्चा छेड़दी।

उन मित्रों के चले जाने के बाद मैं कुछ गहराई में उतरकर विचार करने लगा कि इस प्रकार का अप्रिय वाद-विवाद पहले कहाँ होता था। हम लोग लड़-झगड़ लेते थे, पर सम्मेलन के प्रति हमारी निष्ठा में कोई कमी नहीं आती थी। अब तो यह जैसे उसके मूल पर ही आघात किया जारहा है। सचमुच आजतक सम्मेलन न तो अराष्ट्रीय या सांप्रदायिक रहा है और न असाहित्यिक ही। मैं मानता हूँ कि दोनों ही दिशाओं में आगे बढ़ने की काफ़ी गुंजाइश है। उसके मित्रों को शिकायत करने का हक़ है, मगर सचाई और सहानुभूति के साथ। मुझे लगा कि सच ही ऐसे-ऐसे आरोप करनेवाले दोनों ही पक्ष सचाई और न्याय से काम नहीं ले रहे। सही है कि सम्मेलन ने स्वयं साहित्य-निर्माण की दिशा में जैसा चाहिए वैसा संतोषकारक पग नहीं बढ़ाया, किन्तु परीक्षाओं और भाषा-प्रचार द्वारा साहित्य के पढ़नेवाले क्या उसने काफ़ी बड़ी संख्या में पैदा नहीं किये? इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्य-निर्माण की प्रेरणा हिन्दी-संसार को उससे खासी मिली है। सम्मेलन से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रेरणा पाकर विश्व-विद्यालयों ने भी राष्ट्रभाषा के प्रति अपना कर्त्तव्य समझा और उसे वे उचित स्थान दिलाने में प्रयत्नशील भी हुए।

उसने साहित्य-निर्माण स्वयं अधिक नहीं किया, पर दूसरों से बहुत अधिक परिमाण में कराया है। यह भी बात नहीं कि सम्मेलनने साहित्यकारों को भी कभी उपेक्षा की दृष्टि से देखा हो। प्रत्यक्ष रीति से भी, अपने सीमित साधनों से उसने साहित्य-सृजन और साहित्य-रक्षण का कुछ-न-कुछ काम किया ही है। फिर सम्मेलन असाहित्यिक कैसे होगया? उसकी कौन-सी साहित्य-विरोधिनी प्रवृत्ति रही है? और, आश्चर्य होता है कि दूसरा पक्ष अराष्ट्रीयता का आरोप करता है! दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के मन्त्री श्री मो० सत्यनारायणजी ने अपनी वर्धा की एक तक़रीर में कहा था, कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १९३५के इन्दौरवाले ठहराव में जब से तब्दीली की, और उसके मुताबिक अमल करना छोड़ दिया तब से 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की नज़र सही और फैली हुई क़ौमियत की नहीं रही।' जवाब देने की ज़रूरत नहीं। समय आयेगा, जब मेरे मित्र श्री सत्यनारायणजी पछताव के साथ स्वयं इस आरोप या निर्णय को वापस लेलेंगे। सम्मेलन पर अराष्ट्रीयता का आरोप करना आसान नहीं। जिस संस्था के प्रधान कर्णधार श्री टण्डनजी उसके आरम्भ-काल से अबतक रहे हों, उसे अराष्ट्रीय कहने का दुःसाहस करना सरल नहीं। यों कहनेवालों की ज़बान को कौन पकड़ता है? पिछले-दिनों पंडित जवाहरलालजीतक को मुस्लिमी लीगी अख़बारों ने 'महा-सभाई' लिख मारा था! राष्ट्रीयता की व्याख्या स्थिर है और रहेगी। वह पग-पग पर पलटनेवाली चीज़ नहीं है। उसके मूलतत्वों पर, जो स्थिर हैं, राजनीतिक दाव-पेचों के बल पर होनेवाले सौदे का असर नहीं पड़ना चाहिए। टण्डनजी ने और उन्हींकी तरह सोचनेवालों ने हिन्दी के

प्रश्न को हाथ में लिया वह इसीलिए कि राष्ट्रीय भावों और विचारों का हिन्दी के द्वारा अधिक-से-अधिक विकास हुआ है और हो सकता है। शुद्ध साहित्यिक पक्षवालों ने इस दृष्टि के कारण हमारे ऊपर आक्षेप भी किये, लेकिन हमने उनके आक्षेपों के डर से पीछे क़दम नहीं हटाया। फिर सम्मेलन पर यह आरोप कैसे किया जा सकता है कि उसकी नज़र फैली हुई क़ौमियत की नहीं रही ? इसे दृष्टि-दोष ही कहना चाहिए।

फिर सम्मेलन ने जिन परिस्थितियों में काम किया उनको बहुत अनुकूल नहीं कहा जा सकता। न उसे राजसत्ता से प्रोत्साहन मिला, न जैसा चाहिए वैसा श्रीमन्तों से और न देश के दिग्गज विद्वानों से ही। राजसत्ता से उसे प्रोत्साहन मिल भी नहीं सकता था। उसने तो सम्मेलन को सदा संदेह की ही दृष्टि से देखा। श्रीमन्तों ने भी प्रायः उपेक्षा की—इस काम को उन्होंने शीघ्र फलदायक नहीं समझा। हमारे विद्वानों ने राजभाषा अंग्रेजी में लिखना अधिक गौरवास्पद माना। सम्मेलन को सचमुच बड़ी विषम परिस्थितियों में से गुज़रना पड़ा। सदा वह क़दम फूँक-फूँककर चला। सीमित साधनों को लेकर वह अपनी जीवन-यात्रा के विषम पथ पर चला है। विरोध और अप्रिय असहकार का सामना उसने विनम्रता के साथ किया है। उसने अपने अस्तित्व को विनाश के पथ से बचाया है। मैं मानता हूँ कि कई बार मार्ग से वह थोड़ा भटक भी गया—भूलें उससे खासकर कुछ सभापतियों के चुनाव में हुई। परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकें चुनने में भी कभी-कभी यथेष्ट सतर्कता से काम नहीं लिया गया। दलबन्दियों को इससे जान या अनजान में बल भी मिला है। इतना सब होते हुए भी उसपर यह आरोप नहीं किया जा सकता कि

उसने कभी हिन्दी का—उसकी साहित्यिकता का तथा उसकी राष्ट्रीयता का—स्वार्थवश अहित किया। निश्चय ही, सम्मेलन ने अपनी प्रतिष्ठा को कभी बेचा नहीं।

सम्मेलन के अनेक निष्ठावान सेवकों के मधुर संस्मरण सदा मेरे हृदय में पवित्रता का संचार करते हैं। उनमें से कुछेक का उल्लेख अगले प्रकरणों में करूँगा। सम्मेलन के प्रयाग-निवासी पुराने शुभ-चिन्तकों में से सर्वश्री रामजीलाल शर्मा, गोपालस्वरूप भार्गव, व्रजराज, लक्ष्मीनारायण नागर, जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, सालगराम भार्गव, इन्द्रनारायण द्विवेदी, चन्द्रशेखर शास्त्री, द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति उल्लेखनीय हैं। सम्मेलन के साथ इन साहित्य-सेवियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सम्मेलन के एक और नैष्ठिक सेवक थे, जिन्हें मैं कभी नहीं भूल सकता। वह थे, व्रजलालजी। चपरासी का काम करते थे। रहनेवाले ज़िला प्रतापगढ़ के थे। अत्यन्त सीधे-सादे देहाती ब्राह्मण, पर अपने काम में चुस्त, होशयार और ईमानदार। इलाहाबाद के कोने-कोने से परिचित, मगर शहरी रंग उनके ऊपर ज़रा भी नहीं चढ़ा था। वही अपनी प्रतापगढ़ी बोली और वही देहाती रहन-सहन। कितने मन्त्री और कितने ही कर्मचारी आये और कितने ही चले गये। पर हमारे व्रजलाल, जबतक कि उन्हें पेंशन नहीं बाँधी गई, उसी अनन्य निष्ठा और लगन के साथ सम्मेलन की सेवा करते रहे। व्रजलाल के साथ हमारा खूब विनोद हुआ करता था। थोड़ी-सी टूटी-फूटी अवधी मैंने उन्हींसे सीखी थी। व्रजलालजी का एक बड़ा मनोरंजक प्रसंग याद आ गया। प्रयाग में वह आये ही थे।

एक दिन टण्डनजी ने सम्मेलन-संबंधी बहुत सारी चिट्ठियां डाकखाने में छोड़ देने के लिए एक सज्जन को कहा। उन्होंने घंटाघर के पास के लाल बंबे (लेटरबक्स) में छोड़ने के लिए चिट्ठियाँ व्रजलालजी को देदीं, और व्रजलालजी उन्हें छोड़ आये। दो हफ्ते राह देखने के बाद भी जब किसी भी पत्र का जवाब या पहुँच नहीं आई, तब टण्डनजी को कुछ आश्चर्य और सन्देह हुआ। पूछताछ की गई। व्रजलाल से पूछा गया कि चिट्ठियाँ उस दिन कहाँ छोड़ आये थे? उन्होंने बिना किसी हिचक के हाथ से दिखाते हुए कहा—'ओही सामने क बंबवा मां!' नीचे उतरकर उन्होंने बंबा दिखा भी दिया, और जिस तरह चिट्ठियाँ उसमें डाली थीं वह सारी क्रिया भी बतलादी। सड़क के किनारे पानी का जो आम बंबा (नल) था, उसकी टोपी खोलकर, जो किसी तरह खुल जाती थी, उसके अन्दर वे सारी चिट्ठियां छोड़ आये थे! बंबा खोलकर उन्होंने दिखाया तो सारे पत्र गल चुके थे। टण्डनजी को व्रजलालकी यह 'निपट सिधाई' देखकर गुस्सा भी आया और हँसी भी।

: १७ :

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

(२)

पिछले प्रकरण में मैंने श्रीगोपालस्वरूप भार्गव तथा श्रीसालगराम भार्गव और प्रो.व्रजराजजी का उल्लेख किया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन अनन्य सेवकों के नामोल्लेख के साथ सुप्रसिद्ध विज्ञान-परिषद् की चर्चा न करूँ यह कैसे हो सकता है ? हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण का उक्त परिषद् ने अपनी अल्प पूँजी और सीमित साधनों से खासा ठोस काम किया है। भारत की प्रान्तीय भाषाओं में विज्ञानविषयक जो कार्य हुआ है उसमें विज्ञान-परिषद् का एक विशेष स्थान है। इस पौदे को सन् १९१३ में श्रीरामदास गौड़ तथा प्रो० सालगराम भार्गव ने रोपा था। विज्ञान-परिषद् के इन कर्मठ सदस्यों ने बड़ी निष्ठा और परिश्रम के साथ, बिना किसी खास सहारे के, काम किया। विज्ञान के अंगों पर हिन्दी में विज्ञान-परिषद् ने अपने-अपने विषय के विद्वान् लेखकों से लगभग ४० पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित की हैं। विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का भी निर्माण परिषद् ने खासा किया है। परिषद् के मुखपत्र "विज्ञान" का तो हिन्दी-संसार में अपना खास स्थान है।

मगर हिन्दी का दुर्भाग्य ही समझिए कि इतने अच्छे ज्ञानवर्द्धक पत्र को यथेष्ट आदर न मिला। फिर भी कई दूसरे उपयोगी पत्रों की तरह 'विज्ञान' को अकालमृत्यु का सामना नहीं करना पड़ा। यह सही है कि वर्तमान वैज्ञानिक साहित्य को देखते हुए हिन्दी को आज सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। वह अभी बहुत रंक है। किन्तु अननुकूल परिस्थितियों में भी जिन साहित्यकारों ने अपनी परिमित शक्ति और साधारण साधनों से विज्ञान के शून्य कोष को थोड़ा-बहुत भरने का प्रयत्न किया है, उनकी सेवाओं की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। एक तो पराधीनता के प्रतिकूल वातावरण में मौलिक आविष्कारों के करने-कराने का हमें अनुकूल अवसर और प्रोत्साहन नहीं मिला; दूसरे, हमारे देश के इने-गिने विद्वान शोध करते और उसपर कुछ लिखते भी हैं तो अंग्रेजी में। हिन्दी में या अन्य प्रान्तीय भाषा में किसीने कुछ लिखा भी तो उसकी वैसी क़द्र नहीं होती, वह चीज़ प्रमाण-कोटि में नहीं आती। अंग्रेजी ने हमारे मानस को बुरी तरह मोह लिया है।

सचमुच हमारी कुछ ऐसी धारणा बन गई है कि ज्ञान का उपार्जन बस एक अंग्रेजी भाषा द्वारा ही हो सकता है। श्रीसम्पूर्णानन्दजी के 'आर्यों का आदि देश' नामक ग्रन्थ के एक-दो पन्ने भी नहीं उलटे थे कि मेरे एक विद्वान् मित्र ने उसपर अपनी यह राय बना डाली कि, "इस पुस्तक में ऐसी कोई खास शोध क्या हो सकती है, जिसमें वेद-मंत्रों को ही आधार माना गया है? यूरोप के दिग्गज इतिहास-लेखकों के आगे तुम्हारी इस हिन्दी पुस्तक की दलीलें ठहर नहीं सकतीं।" ऐसे ही लोगों ने यह हीन भावना अपने मन में बना रखी है कि हिन्दी में दूसरी भाषाओं के

मुक़ाबिले कुछ भी नहीं है। इसी हीन-भावना के कारण विज्ञान-परिषद् जैसी अत्युपयोगी संस्था को भी हमने सदा उपेक्षा की ही दृष्टि से देखा। हिन्दी में कुछ भी नहीं है, तो इसमें दोष किसका है? शिकायत क्यों, और किसकी? इसका आखिर क्या अर्थ है? क्या सचमुच ईमानदारी के साथ हम अपने साहित्य की श्रीवृद्धि देखना चाहते हैं? तो क्या इसका यही तरीक़ा है? इस मिथ्या दृष्टि पर, इस दूषित मनोवृत्ति पर हमें लज्जा आनी चाहिए। यह सच है कि अपनी यत्किंचित् साहित्य-सम्पदा पर हमें झूठे गर्व से फूल नहीं जाना चाहिए, पर हमारा यह कहना भी उचित नहीं कि हिन्दी के दरिद्र कोष में मूल्यवान वस्तुएँ बहुत कम हैं। असन्तुष्ट उपेक्षकों को शायद उन वस्तुओं का भी ज्ञान नहीं है, फिर भी शिकायत किये ही जाते हैं!

सम्मेलन को अबतक अपने उद्देश्यों में जो कुछ भी सफलता मिली है, उसका सारा श्रेय उसके तपस्वी साधकों को ही है। प्रचार के क्षेत्र में उसे सद्भाग्य से महात्मा गांधी का सबसे अधिक बल मिला है। उनके अनमोल उपकारों से वह कभी उऋण नहीं हो सकता। किन्तु कुल मिलाकर देश के धनिकों और साधन-समर्थों का सहारा या सहयोग सम्मेलन को बहुत कम, बल्कि नहीं के बराबर, मिला। कहना पड़ता है कि हमारे देश के श्रीमन्तों ने इतने बड़े प्रश्न का महत्त्व अभीतक समझा ही नहीं। कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर ऐसी लोकोपयोगी संस्थाओं को उदारतापूर्वक सहायता देना हमारे देश के सम्पन्न लोगों ने अभी सीखा ही नहीं।

बहुत वर्षों की बात है, धन संग्रह करने के लिए हम लोगों की

भिक्षु-मंडली आगरा गई थी। मंडली में सर्वश्री टण्डनजी, पद्मसिंह शर्मा, रामजीलाल शर्मा, भाई कोतवाल, लक्ष्मीधर वाजपेयी और मैं कुल इतने भिक्षु थे। कार्यक्रम कई स्थानों का बनाया था, पर वह पूरा न हो सका। मेरा तो यह पहला ही अनुभव था। देखा कि धन-संग्रह का काम सब के बस का नहीं है। काम यह सरल भी है और कठिन भी। इसे हम उत्तम भी कह सकते हैं, और निकृष्ट भी। सुना था—

बिन माँगे देइ सो दूध बरावर,
माँगे देइ सो पानी;
कह कबीर, वह रक्त बरावर
जिसमें खैंचातानी!

इस कलियुग में दान तो प्राय खैंचातानी से ही मिलता है। लेकिन रक्त-तुल्य दान लेने के लिए बहुत बड़ी सामर्थ्य चाहिए। हमारी मंडली के नेता में वह सामर्थ्य नहीं थी। टण्डनजी तो श्रद्धा और विवेक से दिया हुआ दान लेना चाहते थे। दूध न मिले तो पानी से भी सन्तोष कर लेते थे। 'खैंचातानी' का सफल प्रयोग करनेवालों की उनके सामने चलती नहीं थी। पं० रामजीलाल शर्मा को टण्डनजी का यह ढंग बहुत पसन्द नहीं आया। दिनभर में हम लोग ढाई-ढाई सौ रुपये के शायद तीन या चार स्थायी सदस्य ही बना सके थे। शर्माजी खूब खैंचातानी के साथ अर्थ-दोहन के पक्षपाती थे। दूसरे दिन खीझकर कहने लगे—"भला, यह भी कोई चन्दा माँगने का तरीक़ा है! टण्डनजी हरेक को सम्मेलन के उद्देश्य क्या समझाने लगते हैं, एक छोटी-सी वक्तृता दे डालते हैं! और उनकी बात अगर कोई ध्यान से नहीं सुनता, या सुन-

कर हमारे उद्देश्यों को महत्त्व नहीं देता, तो उस बेचारे को बुरी तरह झाड़ देते हैं। ऐसे कहीं चन्दा मिलता है ? चन्दा लेने की कला तो भाई, कुछ और ही होती है।" पं० पद्मसिंहजी का भी लगभग ऐसा ही मत था। मगर भाई कोतवाल ने उनके मत का समर्थन नहीं किया। मुझे तो टण्डनजी का तरीक़ा पसन्द ही था। वह अपनी बात को बड़े अच्छे ढंग से रखते हैं। ज़ोर भी डालते हैं, मगर एक हद्तक—उससे आगे नहीं जाते। अपने आपको धनाभिमानियों के आगे गिराना नहीं चाहते। चाहे जिस तरह और चाहे जिसके आगे हाथ फैलाना उन्हें पसन्द नहीं। धन-संग्रह करने का उनका अपना जो ढंग है, उससे उन्हों-ने काफ़ी शुद्धता से सार्वजनिक कार्यों के लिए रुपया इकट्ठा किया है, बल्कि रुपया उनके पास अपने-आप आया है।

हमारा धन-संग्रह का मुख्य उद्देश्य तब एक 'संग्रहालय' बनाने का था। हम सम्मेलन का एक सर्वांगपूर्ण संग्रहालय बनाना चाहते थे। संग्रहालय-भवन हमारा खड़ा तो होगया है, पर मुद्रित और हस्त-लिखित पुस्तकों तथा ऐतिहासिक व सांस्कृतिक वस्तुओं का जैसा आदर्श संग्रह हम वहाँ करना चाहते थे, वैसा अभीतक हो नहीं सका।

हमारी मंडली में साहित्य-चर्चा तो होती ही थी, विनोद भी आपस में खूब होता था। लेकिन बड़ा सुन्दर, शिष्ट और गहरा विनोद तो पं० पद्मसिंह शर्मा का होता था। उनके पास से उठने को जी नहीं करता था। कहने का ढंग उनका बड़ा आकर्षक होता था। संस्कृत कवियों की कितनी ही अनूठी सूक्तियाँ उन्हें कण्ठ थीं। इसी तरह उर्दू-फ़ारसी के मौक़े के फबते शेर भी हमेशा उनकी ज़बान पर रहते थे।

अकबर की कोई चीज़ सुनाते तो झूमने लगते थे। उनके अपूर्व सत्संग के, आगरे के, वे चन्द दिन जीवन में कभी भूलने के नहीं। पं० पद्मसिंहजी प्रकाण्ड विद्वान् और सिद्धहस्त लेखक तो थे ही, वक्ता भी उच्च कोटि के थे। उनकी समालोचना की शैली से भले ही कुछ अंशों में हम सहमत न हों, पर उनके गहरे पाण्डित्य और प्रखर प्रतिभा से कौन इन्कार कर सकता है? स्वभाव की सरलता और विनयशीलता भी उनमें उनकी विद्वत्ता के ही अनुरूप थी। फिर भी अफ़सोस है कि उनकी जैसी चाहिए वैसी क़द्र नहीं हुई।

हम हिन्दीवाले अपने साहित्यकारों की क़द्र करने में सचमुच बहुत पीछे रहे। प्रेमचन्द और प्रसाद को भी हमने कहाँ पहचाना। इस कोटि के साहित्यकार आज किसी दूसरे देश में या भारत के ही किसी अन्य प्रान्त में पैदा हुए होते, तो वहाँ के लोग दिग्दिगन्त में उनका यशःसौरभ फैलाने में कुछ उठा न रखते। 'कामायनी' का भाषान्तर यदि अंग्रेज़ी में होगया होता, तो यूरोप के गुण-ग्राहक साहित्यकार प्रसादजी का यथोचित आदर करने में पीछे न रहते। रवि बाबू को विश्व-साहित्य में ऊँचा स्थान मिला, इसमें बंगदेश की स्वाभाविक गुण-ग्राहकता का भी ज़बर्दस्त हाथ था। प्रसादजी के यशःसौरभ को दिगन्तव्यापी बनाने के लिए न कोई 'प्रवासी' था, न कोई 'मॉडर्न रिव्यू'। आचार्य द्विवेदीजी का भी गुण-गान, शिष्टाचार के नाते, उनकी मृत्यु के बाद ही किया गया। उनके जीवन-काल में किसी विश्व-विद्यालय ने, हमारे अपने हिन्दू-विश्वविद्यालय ने भी, उन्हें डॉक्टर की उपाधि प्रदान न की! आचार्य के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करके तो स्वयं विश्व-विद्यालयों का ही गौरव बढ़ता। यह सब हमारी मानसिक

दासता का ही कुफल है, जो हम अपने साहित्य-स्रष्टाओं की इस बुरी तरह उपेक्षा कर रहे हैं।

हमारे अन्दर जो यह हीन भावना घर कर बैठी है, और जिसके कारण हम कृतघ्नता के भागी बन रहे हैं, उसका उन्मूलन करना आवश्यक है। सम्मेलन क्यों न अपना सारा बल इसी ओर लगाये? उसे विविध कार्य-क्षेत्रों का मोह कुछ समय के लिए छोड़ देना चाहिए। उसकी शक्तियों का अधिकतर दुर्व्यय सभापतियों के निर्वाचनों और वैधानिक बारीकियों के वाद-विवाद में हुआ है। यह लोक-तंत्रवाद सचमुच कहीं-कहीं अभिशाप-सा सिद्ध हुआ है। किंतु ऐसी परिस्थितियों में सम्मेलन से अलग होकर भी तो सम्मेलन की ठोस सेवा की जा सकती है।

पर मुझे सुझाव पेश करने का भी क्या अधिकार, जबकि हिंदी की श्रीवृद्धि के लिए मैं स्वयं कुछ नहीं कर रहा हूँ? केवल कभी-कभी हलकी-सी पीड़ा का अनुभव होता है। पर ऐसा निर्जीव पीड़ानुभव किस काम का?

लेकिन इतना कहूँगा कि यद्यपि आज मेरा कार्य-क्षेत्र बदल गया है, तथापि सम्मेलन से हिन्दी के प्रति श्रद्धा-भक्ति की जो प्रसादी मुझे मिली थी, वह आज भी मेरे हृदय में पवित्रता का संचार कर रही है, और करती रहेगी। सम्मेलन से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता।

: १८ :

विद्यापीठ

पिछले एक प्रकरण में मैंने प्रयाग के विद्यापीठ का उल्लेख-मात्र किया है। इस प्रकरण में उसपर कुछ विस्तार से लिखूँगा।

प्रयत्न करने पर जमना-पार, महेवा गाँव के समीप, हमें सिरौंजी राज्य के स्व० राजा चन्द्रशेखरप्रसाद के बने-बनाये कई पक्के मकान, मय भूमि के, मिल गये। साहित्य के साथ-साथ स्वावलम्बन की दृष्टि से औद्योगिक शिक्षण देने का मूल में हमारा जो विचार था, उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए विद्यापीठ को शहर से बाहर ले जाना आवश्यक था। टण्डनजी और मैं उपयुक्त स्थान मिलते ही घर के दो-तीन लड़कों को लेकर वहाँ बैठ गये। दो लड़के टण्डनजी के थे, और एक मेरा ममेरा भाई। तीनों छोटे-छोटे बच्चे थे। दो दिन तो इनका वहाँ खूब मन लगा, पर तीसरे दिन जब उनसे मिट्टी ढुलवाई गई, तब मौक़ा पाकर वहाँ से दो लड़के खिसक भागे। पुल के उस पार भागते हुए वे पकड़े गये। बेचारे इस लालच से हमारे साथ गाँव में रहने गये थे कि वहाँ पीने को खूब दूध और खाने को हरे-हरे मटर और इलाहाबादी अमरूद मिलेंगे—उन्हें क्या पता था कि उनसे मिट्टी की टोकरियाँ ढुलवाई जायँगी!

टण्डनजी चाहते तो बहुत थे, पर जमकर वहाँ कभी दस दिन भी नहीं बैठ सके। पर मैंने तो अपना डेरा जमा लिया। शहर काम से ही कभी-कभी जाता था। सामने जमना, इर्द-गिर्द हरे-हरे खेत, पड़ोस में छोटा-सा गाँव—बड़ा सुहावना सब वातावरण था। हमारी अपनी दो गायें थीं और राजा साहब के समय के एक मिसरजी महाराज। यह हमारे चपरासी थे रसोइया थे, और खेती-बाड़ी के सलाहकर भी थे। राजा साहब की यह बड़ी मनोरंजक कहानियाँ सुनाया करते थे। राजा चन्द्रशेखरप्रसाद सनकी स्वभाव के होने के कारण 'पागल राजा' के नाम से वहाँ प्रख्यात थे। सुप्रसिद्ध स्वामी भास्करानन्द के वह पट्टशिष्य थे। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। राज-पाट छोड़कर विरक्त का जीवन बिताते थे। उनकी जीवन-कथा मैंने लोगों से ऐसी सुनी थी।

काशी में स्वामीजी के आश्रम में जब यह पढ़ते थे, तब उनकी सेवा में इतने अधिक दत्तचित्त रहते कि प्रायः शरीर का भी भान नहीं रहता था। साधारण घर के थे, पर संयोग से मिसैंडी राज्य के उत्तराधिकारी बन गये। विवाह तो करा लिया, पर अपनी स्त्री को पत्नी नहीं माना। शुरू से ही उसे 'माता' कहकर पुकारा। फिर 'स्त्रीमात्र' का मुँह देखना त्याग दिया। राज्य को भी लात मारदी। कुछ दिन कानपुर में, और फिर इलाहाबाद में जाकर रहे। जबतक मकान तैयार नहीं हुआ, तबतक नाव पर ही रहे। पीछे हस्त-संन्यास ले लिया। हाथों से बिलकुल काम नहीं लेते थे। मिसरजी ने उन सब दर्शनीय स्थानों को दिखाया, जहाँ 'पागल राजा' का विचित्र बनावट का शौचालय था, बग़ल में स्नान-गृह था और वहीं उनका भोजनालय भी था। बाहर कुछ बाँस और टीन की

चद्दरें पड़ी रहती थीं। इसलिए कि यदि उनके कमरे की छत पर कोई कौवा बैठ गया तो जबतक वह कमरा भीतर-बाहर धुल नहीं जाता, तब-तक उसमें रहना उनके अपने शास्त्रानुसार निषिद्ध था! तुरन्त बाँस गाड़कर उनपर टीन की चद्दरें छा दी जातीं और राजा साहब जबतक कि उनके 'काक-भ्रष्ट' कमरे की शुद्धि न हो जाती उसी टीन-मड़ैया में रहते थे। और उसे भी यदि किसी दुष्ट कौवे ने भ्रष्ट कर दिया तो तत्काल दूसरी मड़ैया तैयार कर दी जाती—और इसी क्रम से तीसरी, चौथी, पाँचवीं!

मिसरजी ने सुनाया कि एक आदमी की तो सिर्फ़ यही नौकरी थी कि राजा साहब कुल्ले करते और वह खड़ा-खड़ा एक लम्बी रस्सी में गाँठें लगाता जाता—जब ऊँचे स्वर से वह पुकारता, 'एक सौ आठ!' तब कहीं कुल्लों की प्रक्रिया का लम्बा क्रम बन्द होता!

सरकार से उन्हें शायद दो हज़ार रुपये की मासिक पेंशन मिलती थी, उसीसे उनका सारा खर्च चलता था। इससे यह अर्थ न लगाया जाये कि राजा चन्द्रशेखरप्रसाद निरे सनकी ही थे; वे ऊँचे योगी भी थे। संस्कृत के अच्छे कवि भी थे। अपने गुरुदेव का जीवन-चरित संस्कृत में उन्होंने बड़ा सुन्दर लिखा था। शायद वह इंडियन प्रेस में छपा था। पुस्तक का मुझे नाम तो याद नहीं आ रहा है, किन्तु रचना बड़ी सुन्दर थी।

राजा साहब की मृत्यु के बाद, कोशिश करने पर, यह भूमि और मकान सम्मेलन को मिल गये। धीरे-धीरे बाहर से भी विद्यार्थी आने लगे। कुछ प्रथमा परीक्षा का पाठ्य-क्रम पढ़ते थे, और कुछ मध्यमा का। कोई तीन-साढ़े तीन घंटे शारीरिक श्रम करते थे, बाकी समय पढ़ने में जाता था।

कताई सबके लिए अनिवार्य कर दी थी। अध्यापक अकेला मैं ही था। छात्रावास की भी व्यवस्था करता था। चित्त खूब प्रसन्न रहता था। थोड़े ही दिनों में हमारा यह स्थान एक आश्रम बन गया। अमरूदों का बाग़ तो पहले से ही था, कुछ और दरख्त लगाये गये। अपनी एक नाव भी हमने बनवाली, जिसे हम लोग खुद ही खेते थे। अपने पड़ोस के गाँववालों के साथ भाईचारा जोड़ने का भी प्रयत्न किया, पर अधिक सफलता नहीं मिली। एक-दो आदमियों के साथ तो झगड़े भी हुए। याद पड़ता है कि अमरूद के बाग़ के ठेके पर हमारा मनमुटाव हुआ था। आदर्श और व्यवहार के बीच के महान् अन्तर का पता मुझे पहले-पहल यहीं चला।

विद्यार्थी शारीरिक श्रम के कामों में उतना मन नहीं लगाते थे, जितना कि साहित्य के अध्ययन में। केवल एक दरभंगा की तरफ़ का विद्यार्थी मेहनत व लगन के साथ पौधों को सींचता और गायों की टहल करता था। खेती-बाड़ी की मेरे सामने बातें ही चली थीं, काम शुरू नहीं हुआ था। वहाँ से मेरे चले जाने के बाद कृषि-शिक्षण के प्रयोग चलाये गये, पर ठीक-ठीक सफल नहीं हुए। साल-सवा साल ही मैं विद्यापीठ में बैठ सका। टण्डनजी भी सन् १९२५ में लाहौर चले गये।

बाद को मैंने सुना, विद्यार्थियों की संख्या काफ़ी बढ़ गई थी। स्वामी सत्यानन्दजी (पूर्वनाम पं० बलदेव चौबे) ने शरीर-श्रम को वहाँ खासा प्रतिष्ठित किया। उनके साधु-जीवन के प्रभाव से विद्यापीठ का वातावरण भी अधिक पवित्र बन गया था। गाँव के लोगों के साथ भी स्वामीजी ने सम्पर्क बढ़ाया था। गाँव में हरि-कीर्तन करने भी जाया

करते थे। फिर भी विद्यापीठ का सिलसिला जैसा हम लोग चाहते थे वैसा जम नहीं पाया। विद्यापीठ को हम लोग अपने सुनहले स्वप्नों की संस्था न बना सके। न चाहते हुए भी टण्डनजी को राजनीतिक झंझटों में हमेशा व्यस्त रहना पड़ा। शान्तिपूर्वक वहाँ बैठ नहीं सके। पन्ना छोड़ने के बाद मैं सन् १९३२में दोबारा विद्यापीठ में बैठ जाने के उद्देश से प्रयाग गया, पर वहाँ एक-डेढ़ महीने से अधिक नहीं रह सका। दिल्ली ने खींच लिया। इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली में मुझे अपने स्वप्नों को सफल बनाने के साधन प्रचुरता से मिले, और वह भी अनायास, पर विद्यापीठ के उस शान्त मधुर वातावरण को मैं आज भी भुला नहीं सका—"मन चलि जात अजौं वहै वा जमुना के तीर !"

स्व० रामदासजी गौड़ हमारे विद्यापीठ में एक बार पाँच-सात दिन ठहरे थे। उनके साथ खूब सत्संग होता था। रामचरित-मानस और विनय-पत्रिका के कितने ही गूढ़ स्थलों का अर्थ गौड़जी ने मुझे बतलाया था। आहार-विज्ञान पर भी रोचक चर्चाएँ हुआ करती थीं। गौड़जी के साथ घनिष्ठ मैत्री मेरी विद्यापीठ में हुई थी। फिर वह बढ़ती ही गई। मेरे पन्ना चले जाने के बाद मिलना तो एक-दो बार ही हो सका, पर पत्र-व्यवहार का सम्बन्ध उनके साथ मेरा अन्ततक रहा। सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन के अवसर पर जब मैं कई साल बाद गौड़जी से मिला, तो बड़े प्रेम से गले लगा लिया, और आँखों में स्नेहाश्रु भरकर कहा—"हरिजन देखि प्रीति अति बाढ़ी।" शरीर काफी दुर्बल हो गया था। आर्थिक अवस्था भी उन दिनों उनकी अच्छी नहीं थी। किन्तु अपने इष्टदेव श्रीराम के प्रति उनकी जो अटूट अनुरक्ति थी, उसका

उन्हें बड़ा सहारा था। भक्ति-गद्गद होकर अपना रचा यह पुराना पद सुनाया, और मुझे काशी आने का साग्रह निमन्त्रण दिया: –

"मोसम को त्रिकाल बड़भागी ?
तजि साकेत सकेत हिये के
भये राम-अनुरागी ॥
कहाँ धवल पावन पयोधि, जेहि
सीकर-सृष्टि समाई।
कहाँ मोहतममय हिय मेरो,
भरी महा मलिनाई ॥
ना स्वागत-हित पुण्य पाँवड़े,
रघुपति, सकेउ बिछाई।
श्रद्धा-भक्ति हृदय की साँची,
पूजहु नहिं बनि आई।"

इत्यादि––

ऐसा स्मरण आता है कि विद्यापीठ में दो-तीन दिन हमारे विद्यार्थियों को गौड़जी ने पढ़ाया भी था। कथा तो रामायण की प्रायः नित्य कहते थे।

मेरे स्नेही मित्र पं बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी एक दिन वहाँ हमारा आतिथ्य स्वीकार किया था। यह १९२४ की बात है। साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा का कार्यक्रम उन्होंने वहीं पर बैठकर बनाया था। चतुर्वेदीजी ने मुझे उस संस्मरण की एक पत्र द्वारा याद भी दिलाई थी। लिखा था––"हिन्दी-विद्यापीठ (महेवा) में जो चार घंटे साथ

बिताये थे, और साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा का जो प्रोग्राम बनाया था, उसके बाद कभी भी तो दिल खोलकर बातचीत करने का अवसर नहीं मिला। आपके हरिजन-निवास में रहने की उत्कट अभिलाषा बहुत दिनों से है। मुझे वहाँ का सात्विक भोजन बहुत प्रिय है। यद्यपि मैं यह हर्गिज़ नहीं चाहता कि एक दिन के आतिथ्य के बाद अपना कोई भी भार आपकी संस्था पर डालूँ। चौबों को खिलाना सफ़ेद हाथी पालना है—और वह भी आजकल के 'रैशनिंग' के दिनों में!

आपने कभी लिखा था कि आप मुझे 'दरिद्र तपस्वी' ब्राह्मण के रूप में ही देखना चाहते हैं। तपस्या तो किसी चौबे के लिए उतनी ही आसान है, जितना 'पंगु-गिरि-लंघन', पर दरिद्रता कोई मुश्किल चीज़ नहीं।

चतुर्वेदीजी को इस बात का अफ़सोस ही रहा कि विद्यापीठ में बैठकर उन्होंने जो प्रोग्राम बनाया था उसे वह अबतक पूरा नहीं कर सके। स्व० द्विवेदीजी, पद्मसिंहजी तथा गणेशजी के जीवन-चरित लिखकर वह अपना कर्ज़ अदा करना चाहते हैं, मगर कर नहीं सके। सिर पर 'चक्रवृद्धि ब्याज' चढ़ते रहने का चतुर्वेदीजी को अगर कुछ भी डर होता, तो इस तरह मकरूज़ रहना उन्हें खुद भी अच्छा न लगता। मगर—विनोद में ही सही—मेरा यह उलाहना या उपदेश देना सोहता नहीं है। मैं स्वयं भारी ऋण-भार से लदा हुआ हूँ। कितने ही लेनदारों का देना है।

: १९ :

श्रद्धांजलियाँ

इस प्रकरण में हिन्दी-साहित्य के उन अनन्य सेवकों के कतिपय पुण्य संस्मरणों को देना चाहता हूँ, जिनके सत्संग से मैंने काफ़ी लाभ उठाया और जिनके स्मरण-मात्र से आज भी आनन्दानुभव करता हूँ।

श्रीराधाचरण गोस्वामी

यह मैं पिछले एक प्रकरण में लिख चुका हूँ कि 'संक्षिप्त सूरसागर' और 'व्रज-माधुरी-सार' के सम्पादन-कार्य के सिलसिले में तीन या चार बार मुझे वृन्दावन जाना पड़ा था। व्रज-साहित्य के सबसे बड़े आचार्य उन दिनों श्रीराधाचरण गोस्वामी थे। भारतेन्दुजी के यह अन्यतम मित्रों में से थे। गोस्वामीजी महाराज से मुझे अपने कार्य में बड़ी सहायता मिली थी।

मकान की वह ऊँची बैठक, दरवाजे के पास अक्सर किवाड़ के ओर कभी-कभी तकिये के सहारे उनका मौज से बैठना, सुपारी के बड़े-बड़े टुकड़े हमेशा मुँह में डाले बड़े मनोरंजक ढंग से साहित्य के किसी-न-किसी विषय पर चर्चा करते रहना—वह सब आज भी मेरी आँखों के आगे वैसा ही घूम रहा है।

एक दिन मैंने बीसियों प्रश्न पूछ-पूछकर गोस्वामीजी को काफ़ी

तंग कर डाला था। एक-दो बार खीझ भी गये, पर बिना सन्तुष्ट किये मुझे उठने नहीं दिया। गदाधर भट्ट, श्रीभट्ट, हरिराम व्यास, सूरदास मदनमोहन, घनानन्द, नारायण स्वामी आदि अनेक भक्त कवियों के विषय में मुझे कई नई बातें बताईं। 'ब्रज-माधुरी-सार' यह नाम भी मेरे ग्रन्थ का सुझाया और अन्त में हमारे कार्य को उत्साहित करते हुए कहा—

"सम्मेलन के सूत्रधारों से मेरी ओर से कहना कि ब्रज-साहित्य की शोध व सम्पादन के लिए एक अलग विभाग खोलें। लेनेयोग्य जितना समझें उतना इस अतुल राशि में से लेलें। बड़े महत्व का कार्य है। समुद्र भरा पड़ा है, इसमें से अनमोल रत्न निकाल लें। नागरी-प्रचारिणी-सभा से मुझे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। सुनता हूँ कि सभा 'सूरसागर' का शोधन-कार्य करायेगी। पर मेरे मित्र श्रीकिशोरी-लाल गोस्वामी तो निराश-से हैं। मैं भी अब उदासीन-सा हो गया हूँ। तुम्हारा सम्मेलन भी स्यात् ही इस कार्य को आगे कुछ बढ़ा सके, उसे तो आज भाषा प्रचार से ही फुर्सत नहीं। ख़ैर, यह काम भी अच्छा ही है। सम्मेलन से जितना बन पड़े करे। पर मुझाव सम्मेलन के संचालकों के आगे रख अवश्य देना।"

"पर आपको महाराज, हम लोग बार-बार कष्ट देते रहेंगे।"

"इसमें कष्ट की क्या बात है, मुझे तो ऐसे कामों में बड़ा आनन्द आता है। मेरे पास जो कुछ भी साहित्य-सम्पत्ति संचित है, श्रद्धापूर्वक उठा ले जाओ। मैं तो अश्रद्धालुओं से भयभीत रहता हूँ। वैष्णव सम्प्रदायों का तत्व-दर्शन किये बिना इस सुधा-सागर के बहुमूल्य रत्न हाथ

नहीं लगेंगे। तुम्हारे मिश्रबन्धुओं के शोध का ढंग मुझे पसन्द नहीं। वे लोग अवगाहन नहीं करते। श्रद्धा का सहारा लेकर खूब गहरे उतरो, तब कहीं व्रज-साहित्य का अपूर्व रसास्वादन कर सकोगे। मंथन करके इस समुद्र में से हमें साररूप अमृत निकालना है, इसके लिए श्रद्धा और श्रम दोनों की ही आवश्यकता है।"

श्रीमद्भागवत का एक बड़ा सुन्दर संस्करण अपने विशाल पुस्तकालय से निकालकर मुझे दिखलाया, और कहा—"इसे कहते हैं सच्ची शोध और परिश्रम। यह ग्रन्थ अनेक संस्कृत भाष्यों और बँगला टीका से अलंकृत किया गया है। पाद-टिप्पणियाँ और पाठ भेद इसमें बड़ी विद्वत्ता के साथ दिया गया है। बंगीय पंडितों की यह बड़ी सुन्दर कृति है। हिन्दी के विद्वानों से भी हमें ऐसी ही आशा करनी चाहिए।"

"अंग्रेज़ी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में शोध तथा सम्पादन का कार्य वहाँ के विद्वानों ने बड़े परिश्रम से किया है। मैंने पढ़ा है कि ऐसे कामों पर वहाँ लाखों रुपया खर्च किया जाता है।" मैंने कहा।

मुझे वहाँ का अधिक ज्ञान नहीं है। मेरे अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान को तो 'चंचु-प्रवेश' ही कहना चाहिए। किन्तु तुम्हारा कहना सच है, यह मैं मानता हूँ। मैंने भी सुना है कि पश्चिम के विद्वान बड़े परिश्रमी और अध्ययनशील होते हैं।

मैंने पूछा—"गोस्वामीजी महाराज, मेरा तो यह खयाल था कि आप अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं जानते होंगे। मैंने सुना था कि आपके पूज्य पिताजी अंग्रेज़ी और फ़ारसी से बहुत चिढ़ते थे। फिर इतनी भी

अंग्रेज़ी आपने कैसे सीखी ?"

"तुम जो कहते हो वह ठीक है। मैंने पिताजी की चोरी से अंग्रेज़ी की दो किताबें पढ़ी थीं। पिताजी उन दिनों काशी में रहते थे। मैंने चोरी से एक प्रायमर खरीदी और एक मित्र की सहायता से उसे पढ़ने लगा। जब उन्हें इसका पता चला तब मुझपर बहुत बिगड़े, किताब हाथ से छीनकर फाड़दी। म्लेच्छ-भाषा पढ़ने से उन्हें मेरे धर्म-भ्रष्ट हो जाने का भय था।"

"और फ़ारसी से भी चिढ़ते थे ?"

"हाँ हाँ, शुद्ध ब्रजभाषा को छोड़कर वे दूसरी कोई भाषा भूलकर भी नहीं बोलते थे। उनका यह बड़ा कड़ा नियम था। एक दिन साहजी साहब, याने ललितकिशोरीजी के आगे पिताजी ने बन्दूक चलने का वर्णन इस प्रकार किया था—"लौह-नलिका में श्याम चूर्ण प्रवेश करिके अग्नि जो दीनीं तो भड़ाम शब्द भयो !" ब्रजभाषा के ऐसे अनन्य भक्त थे मेरे पिता श्रीगल्लूजी महाराज ! मेरा भारतेन्दुजी से मिलना-जुलना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उनकी दृष्टि में हरिश्चन्द्र एक बिगड़ा हुआ लड़का था। पर मेरे लिए तो श्रीहरिश्चन्द्र मेरे 'सर्वस्व' थे। साथ ही, मैं पिताजी की भी अवज्ञा नहीं कर सकता था। इसलिए उनकी चोरी से, बड़ी चतुराई से, मिलता था।" भारतेन्दुजी का स्मरण करते ही गोस्वामीजी का गला भर आया। गद्‌गद कण्ठ से बोले—

"सचमुच भारतेन्दु मेरे सर्वस्व थे—मेरे स्वजन थे, मेरे गुरु थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मैं भला कभी उऋण हो सकता हूँ ? किस

और कह तो हरिश्चन्द्र गये, अब कोई क्या कहेगा ?"

स्वसम्पादित 'भारतेन्दु' पत्र के कुछ पुराने अंक गोस्वामीजी ने निकालकर मुझे दिये और कहा—"इन अंकों में भारतेन्दुजी के विषय में मैंने जो संस्मरण लिखे हैं, उन्हें तुम अवश्य पढ़ना।"

दुःख है कि गोस्वामीजी की उस प्रसादी को मैं अपनी लापर्वाही से सुरक्षित न रख सका।

गोस्वामीजी ने रूढ़िग्रस्त आचार्य-कुल में जन्म लिया, उसी वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ, तथापि अपने समय के हिसाब से वह उदार और सुधारवादी थे। उनके अन्दर राष्ट्रीय भावना भी थी। किन्तु सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी होने के कारण अपने उदार विचारों को कार्यरूप में परिणत न कर सके। गोस्वामीजी एक अच्छे कवि, लेखक, समालोचक और निर्भय वक्ता थे। उनकी मिलनसारी और ज़िन्दादिली तो उनकी अपनी खास चीज़ थी। गोस्वामीजी के ये मधुर संस्मरण मेरे स्मृति-कोष के सचमुच अनमोल रत्न हैं। उनकी गोलोक-यात्रा पर मैंने 'हा राधाचरण !' शीर्षक एक कविता भी लिखी थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे देकर अपनी तुच्छ श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ—

> ब्रज-बानी तें एक ललितपद टूटि पर्‌यौ के,
> ब्रज-बल्लरि तें कलित कुसुम कुम्हलाय गिर्‌यौ कै,
> ब्रज-नागरि-सिंगार-हार-मनि खोय गयौ के,
> भारतेन्दु-प्रतिबिम्ब बिम्ब में लीन भयौ कै !

श्री श्रीधर पाठक

ब्रज-बानी के रसिक और खड़ी बोली के आद्याचार्य पं० श्रीधर

पाठक का मैं उस दिन से परमभक्त बना, जिस दिन साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में, मेरी प्रार्थना पर, उनकी अध्यक्षता में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रथम जयन्ती मनाई गई थी। यह शायद १९२२ की बात है। स्व० अवधवासी लाला सीतारामजी ने भी उस सभा में भाषण किया था। अपने भाषण में उन्होंने कुछ ऐसा कह दिया, जो उस अवसर के उपयुक्त नहीं था। हम सबको लालाजी के उन शब्दों से चोट-सी पहुँची। पर उनकी असामयिक और असंगत बातों का कुछ जवाब देना गुस्ताखी करना था। सम्मान्य लालाजी अपने उत्सव के मेहमान थे, वयोवृद्ध थे और भारतेन्दुजी के मित्रों में से थे।

श्रद्धेय पाठकजी का भाषण बड़ा सुन्दर हुआ। दमे की शिकायत से पीड़ित थे, साँस फूल रही थी, पर अविरत गति से बोले चले जाते थे। उनका भक्ति-भावपूर्ण भाषण सुनकर मैं तो गद्गद हो गया। भारतेन्दुजी के प्रति आकर्षण मेरा और भी बढ़ गया।

जबतक प्रयाग में रहा, मास में एक-दो बार पाठकजी के निवास-स्थान 'पद्मकोट' पर उनका सत्संग-लाभ लेने में अवश्य जाया करता था। पद्मकोट की साधारण सजावट में भी उनकी साहित्य-रसिकता और कला की अभिव्यक्ति झलकती थी। बड़े प्रेम से मिलते थे। हृदय पाठकजी ने बड़ा सरस पाया था। कहा करते—"वियोगीजी, तुम चाहो तो दिन में दो बार पद्मकोट का चक्कर लगा सकते हो। मेरी कुटिया तुम्हारे स्थान से है ही कितनी दूर? दो ही डग तो है।" फिर अपनी कोई-न-कोई रचना ज़रूर सुनाते। शब्द छान-छानकर और तोल-तोल-कर रखते थे। शब्द-शोधन में अद्वितीय थे। कौन शब्द कहाँ किस

दृष्टि से रखा गया है, उसका अपना एक इतिहास होता था। वास्तव में, पाठकजी पद-रत्नों के एक ऊँचे जौहरी थे। समझाने का भी उनका अपना अनूठा ढंग था।

पाठकजी सच्चे अर्थ में प्रगतिशील कवि तथा प्रतिभाशाली लेखक थे। परम्परागत तत्त्वों का समूल उच्छेदन न कर उन्हें अधिक-से-अधिक विकसित करने का उनका प्रयास रहता था। प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि वह नया-से-नया मार्ग निकाल लेती थी।

कभी-कभी पाठकजी सम्मेलन-कार्यालय में, जब वह जान्स्टनगंज में था, शाम को आजाते थे। साहित्य-भवन में भी कभी-कभी बैठ जाते थे। एक दिन मेरे तथा पं०रामनारायण चतुर्वेदी के विशेष अनुरोध पर 'काश्मीर-सुषमा'का कुछ अंश पाठकजी ने बड़े भाव से सुनाया था। स्वर और लय का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। भाष्यरूप में काश्मीर के अनेक मनोरम दृश्यों का जो विशद वर्णन किया वह और भी अधिक हृदयरंजक था। उठने को जी नहीं करता था। उस दिन पाठकजी कोई डेढ़-दो-घंटे डटे और सुधा-वर्षण करते रहे। शायद वह क्वार का महीना था। फिर पाठकजी का वह मधुर कविता-पाठ, प्रकृति-सुषमा का वह अद्भुत चित्रण! छोटे-छोटे बालकों को भी मन्त्र-मुग्ध-सा कर दिया। जब जाने लगे तब मुझे हुक्म हुआ कि 'कल पद्मकोट तुम्हें ज़रूर आना होगा। मुझे तुमने दो घंटे बिठाया इसकी सज़ा यही है कि तुम्हें चार घंटे से पहले छुट्टी नहीं मिल सकेगी। साथ में चतुर्वेदीजी को भी लाना होगा।"

"ज़रूर कल पद्मकोट की हाज़िरी बजाऊँगा। आप इसी तरह रस बरसाते रहे तो कौन उठना चाहेगा? चार घंटे क्या मैं तो आठ घंटे

भी डटा रहूँगा। चौबेजी से भी प्रार्थना करूँगा। लाना मेरे वस का नहीं—ज़रा स्थूलकाय हैं। तो भी प्रयत्न तो करूँगा ही।" मैंने प्रणाम करते हुए कहा।

सन् १६२३ की बात है। प्रथम 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' की निर्णायक-समिति के सदस्य जब सर्वसम्मति से या बहुमति से किसी भी पुस्तक पर अपना निर्णय देने में असमर्थ हुए, तब नियमानुसार तुरन्त दूसरी निर्णायक-समिति सम्मेलन को नियुक्त करनी पड़ी। उसके ये तीन निर्णायक थे—पं० श्रीधर पाठक, श्रीरामदास गौड़ और मैं। हम लोगों ने सर्वसम्मति से पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भाष्य-भूमिका" के पक्ष में अपना निर्णय दिया। निर्णय उक्त पुस्तक पर बड़े विचारपूर्वक पाठकजी ने लिखा था। बड़ी गवेषणा-पूर्ण समीक्षा थी वह। गौड़जी का और मेरा तो उस निर्णय-पत्रमें बहुत कम अंश था। पाठकजी का साहित्य के अन्दर कितना सूक्ष्म प्रवेश था, इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उसी दिन हुआ। लगातार दो दिन हम लोग छह-छह घंटे बैठे, तब कहीं निर्णय तैयार हो पाया। एक-एक वाक्य को, एक-एक शब्द को खूब जाँचकर, तोलकर रखने की उनकी आदत थी।

उसके बाद, बस, एक बार और दर्शन हुए। उस दिन श्रद्धेय पाठकजी ने अपने रचे कुछ भारत-गीत सुनाये थे। उनका मंजुल मधुर स्वर में वह झूम-झूमकर सुनाना आज भी मानो कानों में गूँज रहा है। राष्ट्रीय गीत बाद को सैकड़ों बने, पर पाठकजी के भारत-गीतों की बराबरी, मेरे खयाल में, कुछ ही गीत कर सकेंगे।

कई वर्ष पूर्व अपने मित्र श्रीरामनाथ 'सुमन'से मिलने मैं लूकरगंज गया था। दूर से तीर्थोपम 'पद्मकोट' देखा तो हृदय भर आया। सामने दो मिनट ठहरा, प्रणाम किया और चल दिया। क्या मेरी भक्ति-श्रद्धांजलि वहाँतक पहुँची होगी ?

श्रीचन्द्रशेखर शास्त्री

ब्राह्मणों की आज बहुत आलोचना होती है, वे बहुत धिक्कारे जाते हैं--मैं स्वयं भी कभी-कभी आवेश में आकर ब्राह्मणवर्ग की कड़ी-से-कड़ी निन्दा कर बैठता हूँ; पर उस बिहारी ब्राह्मण को कैसे भुला दूँ; जिसके स्मरणमात्र से मेरा मस्तक अपने आप झुक जाता है ? मेरा आशय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनन्य भक्त स्व० पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री से है। मेरे श्रद्धेय मित्र शास्त्रीजी सच्चे अर्थों में शत-प्रतिशत ब्राह्मण थे। प्रकाण्ड विद्वान्, साथ ही बड़े विनयशील; स्पष्टवक्ता किन्तु प्रियभाषी, विचारों में अद्यतन उदार,मगर अपनी संस्कृति और नीति पर हमेशा दृढ़। लिखने की शास्त्रीजी की अपनी विशिष्ट शैली थी, जिसपर उनकी मौलिकता की छाप रहती थी। संस्कृत के पारंगत विद्वान् होते हुए भी हिन्दी के प्रति उनके सरस हृदय में ऊँची निष्ठा थी।

शास्त्रीजी बड़े आनन्दी जीव थे। जब भी मिलते 'आनन्दम्' कहकर नमस्कार करते। हम लोग भी ऊँचे स्वर से 'आनन्दम्' शब्द से उन्हें अभिवन्दन करते थे। सम्मेलन के सम्बन्ध में चर्चा चलती तो टण्डनजी की निन्दास्तुति सुनाये विना न रहते। टण्डनजी के मुँह पर भी उनकी अति उदारता या अति साधुता की कड़ी आलोचना किया करते थे, मगर प्रेम और श्रद्धा के साथ—'हृदय प्रीति मुख वचन

कठोरा।'

रहन-सहन उनका बहुत सादा था। खद्दर खूब मोटा पहनते थे। चटाई पर बैठकर लिखने-पढ़ने का सारा काम करते थे। सोते भी अक्सर चटाई पर ही थे। आय बहुत थोड़ी थी। प्रकाशक पृष्ठ-संख्या देखकर पारिश्रमिक देते थे। लेखक के व्यक्तित्व से उन्हें कोई मतलब नहीं था। कुछ प्रकाशकों ने शास्त्रीजी के साथ असत्य का भी व्यवहार किया था। आपस में भले ही शिकायत की हो, पर अखबारों में इन्होंने ऐसी बातों की कभी चर्चा नहीं की। सत्य और श्रम को उन्होंने अपने जीवन में सर्वोपरि माना। अशिष्टतापूर्ण आलोचना को उन्होंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया।

'सम्मेलन-पत्रिका' में, अपने सम्पादन-काल में, मैंने 'मिश्रबन्धु-विनोद' पर तीन या चार आलोचनात्मक लेख प्रकाशित किये थे। बाद को वे लेख मुझे बड़े हलके और अविनयपूर्ण मालूम दिये। प्रकाशित कर बहुत पछताया। तुरन्त 'नम्र निवेदन' शीर्षक मैंने एक छोटा-सा 'क्षमा-याचना-पत्र' लिखा और उसमें अपने अविनयपूर्ण लेखों पर खेद प्रकट किया। सम्मेलन-पत्रिका में उसे पढ़कर रात को ही शास्त्रीजी मेरे निवासस्थान पर पहुँचे और मेरी पीठ ठोंकते हुए गद्गद कण्ठ से बोले—"तुम्हें इस सत्साहस पर साधुवाद देने आया हूँ। तुमने यह 'नम्र निवेदन' लिखकर जो आत्मशुद्धि की है उससे, भाई, मुझे बड़ा आनन्द हुआ। तुमने यह सज्जनोचित ही कार्य किया है। विनय साहित्य का मुख्य लक्षण है। बस, इतना ही कहने आया था। अच्छा, आनन्दम्।" शास्त्रीजी के आशीर्वाद से मुझे बहुत बल मिला।

मैंने साश्रु नेत्र उन्हें दो बार नमस्कार किया।

अन्तिम दर्शन शास्त्रीजी का १६३२ के साल में यहीं दिल्ली में हुआ था। तब हमारे हरिजन-सेवक-संघ का दफ्तर बिड़ला मिल के दफ्तर के साथ था। शास्त्रीजी की आर्थिक अवस्था उन दिनों बहुत गिरी हुई थी। पर अपनी अन्तर्व्यथा उन्होंने व्यक्त नहीं की। किसी स्थानीय प्रकाशक से शायद संस्कृत-अनुवाद के विषय में कुछ तय करने आये थे। मुझे कुछ ऐसा लगा कि घर की ओर से भी कुछ दुखी-से थे। फिर भी चेहरे पर वैसा ही प्रसाद और वैसा ही तेज झलकता था। बड़ा सन्तोष प्रकट किया कि मैं 'हरिजन-सेवक' का सम्पादन-कार्य कर रहा हूँ। शायद आठ वर्ष बाद शास्त्रीजी के दर्शन हुए थे। कौन जानता था कि हमारा यह अन्तिम मिलन था!

: २० :

काशी के संस्मरण

मुक्ति-जन्म-महि जानि,
ज्ञान-खानि अघ-हानिकर।
जहँ बस संभु-भवानि,
सो कासी सेइय कस न॥

कितने ही बार इस सोरठे को पढ़ा होगा, यथामति मनन भी किया, पर इस भाग-दौड़ के जीवन में मुक्ति-भूमि काशी का कभी जी-भर सेवन न कर सका। बुलाया तो मुझे अपत्य-स्नेह से कई बार, पर काशीमाता ने अपने अंक में रखा कभी पन्द्रह दिन भी नहीं। किन्तु आकर्षण मेरा इस पुण्यनगरी की ओर सदा ही रहा। प्रयाग, पन्ना, दिल्ली जहाँ कहीं भी रहा, मेरा काशी का आना-जाना नहीं छूटा।

सबसे पहले १९१६ में जब विश्वनाथ बाबा की महापुरी का दर्शन किया था, तब मेरी शुद्ध तीर्थ-दृष्टि थी। तब इतना भी ध्यान में नहीं था कि भगवान् तथागत ने सर्वप्रथम यहीं अपना धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था; संत-शिरोमणि कबीर ने इसी काशी में अलख तत्त्व का रहस्य-दीपक जलाया था; भक्तराज तुलसी ने यहीं बैठकर 'विनय' के सार्व-भौम अद्वितीय पद रचे थे; कवि-शृंगार भारतेन्दु ने यहीं उदित होकर

हिन्दी-साहित्य का नया प्रकाश-युग उतारा था। नागरी-प्रचारिणी-सभा का तब कदाचित् मैंने नाम भी नहीं सुना था। साहित्य-सम्मेलन की जन्मदात्री सभा का पुण्य परिचय तो मुझे बहुत पीछे हुआ।

काशी के साथ मेरा निकट का सम्बन्ध तो १९१८ से हुआ, जब सम्मेलन की ओर से श्रद्धेय बाबू भगवान्दासजी को हिन्दी-विद्यापीठ का उद्घाटन करने के लिए निमंत्रण देने गया था। ठहरा स्व० बाबू शिवप्रसादजी गुप्त के यहाँ था। उन दिनों गुप्तजी अपनी शहर की हवेली में रहते थे। विश्वविद्यालय में श्रीरामदासजी गौड़ से भी मेरा तभी प्रथम परिचय हुआ था।

इसके बाद, असहयोग विषय के दो-तीन ट्रेक्ट ज्ञानमण्डल प्रेस में छपाने के सम्बन्ध में जब मैं काशी गया, तब श्री मुकुन्ददास गुप्त तथा पन्नालालजी से नीची बाग में मेरा परिचय हुआ। रेलवे हिन्दी टाइम-टेबल के प्रकाशक के रूप में प्रसिद्ध हमारे मुकुन्ददासजी ने पुस्तक-प्रकाशन का काम तब शुरू ही किया था। भाई रामनाथजी 'सुमन' के साथ भी मेरा तभी का परिचय है। मुकुन्ददासजी के प्रति उत्त-रोत्तर मेरा आत्मीय स्नेह बढ़ता ही गया—केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने मेरी 'विनय-पत्रिका', 'तुलसी-सूक्ति-सुधा' तथा अन्य पुस्तकें प्रकाशित कीं, बल्कि उनके सहज सौजन्य और सरल व्यवहार ने मुझे खींच लिया और वह मेरे स्नेह-भाजन बन गये। काशी के जिन कई साहित्य-सेवियों से मेरा पत्र-व्यवहार द्वारा परिचय हुआ था, उनसे प्रत्यक्ष मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य-रामचन्द्र शुक्ल, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, पं० अयोध्यासिंह

उपाध्याय, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० केशवप्रसाद मिश्र और श्री जयशंकर 'प्रसाद' के दर्शन एवं सत्संग का कई बार लाभ उठाया।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी से मिलने उनके घर पर दो बार गया, और दोनों ही बार उन्हें रुग्ण और विपन्न पाया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की नीति पर कुछ रुष्ट-से थे। उनके असन्तोष के कुछ कारणों का मैं निराकरण तो कर सकता था, पर विवाद में उतरना उचित नहीं समझा। मैं तो केवल दर्शन करने और आशीर्वाद लेने गया था। आचार्य के दर्शन एवं सत्संग से दोनों ही बार मैंने अपने आप को कृतार्थ माना। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी ने हिन्दी की जिस अनन्य निष्ठा से जीवनभर सेवा की, उसके स्मरण-मात्र से उनके चरणों पर हठात् मस्तक झुक जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहली बार जब मैं उनके घर 'गुरुधाम' पर जाकर मिला, तब उनकी गम्भीर मुख-मुद्रा देखकर अधिक बात करने का साहस नहीं हुआ। किन्तु कुछ ही क्षणों में उनके नवनीत-जैसे हृदय ने मेरा सारा भय व संकोच दूर कर दिया। कोई डेढ़-दो घंटे बिठाया। बड़े सौजन्य और स्नेह से बातें कीं। अपने ज़माने के पुराने सुन्दर सुखद संस्मरण सुनाये। नागरी-प्रचारिणी सभा के सनातन सेवक पं० केदारनाथ पाठक का ज़िक्र आया। गुरुजी ने गद्‌गद कंठ से कहा:—"पाठकजी ने ही तो मुझे हिन्दी में लिखने की ओर प्रेरित किया था। उनका मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा।"

दूसरी बार जब शुक्लजी से मिला तब उन दिनों वे "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" लिखने में व्यस्त थे। कुछ प्रसंग—शायद

प्रेमगाथा-काल का सुनाया भी था। एक स्थल वह भी दिखाया था, जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं की कड़ी आलोचना की थी। "मिश्रबन्धु-विनोद" का अपने इतिहास में शुक्लजी ने कई जगह खंडन किया था। १० मई, १९२९ के पत्र में मुझे लिखा था:—

"प्रियवर,

नमस्कार! "हिन्दी-साहित्य का इतिहास", जो हाल में मैंने 'शब्दसागर' की भूमिका के रूप में लिखा है, भेजता हूँ। आप इसका अवलोकन कर जाइए। इसमें विभाग आदि मैंने नये ढंग से किया है, और बीच-बीच में मिश्रबन्धुओं के अनर्गल प्रलाप का भी निराकरण किया है। मिश्रबन्धु इसपर बहुत कुढ़े हैं, और अनेक रूपों में मुझपर आक्रमण का उपक्रम कर रहे हैं। आप इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपना कुछ मत अवश्य प्रकट कीजिएगा।"

इस पत्र का मैंने संक्षेप में उत्तर दे दिया था। जब काशी में दोबारा मिला, तब इसी विषय पर हमारी फिर चर्चा हुई। मिश्रबन्धुओं की धारणाओं का कठोर भाषा में उत्तर देने के पक्ष में मैं नहीं था। यों शुक्लजी के निराकरण से मैं सर्वत्र सहमत था। उनके काल-विभाजन के सम्बन्ध में भी मेरा प्राय: मतैक्य था। पर उनका यह "अनर्गल प्रलाप" शब्द मुझे अच्छा नहीं लगा था। वह उनके अनुरूप नहीं था। किन्तु शुक्लजी उसपर दृढ़ थे। मेरी दलील में उन्हें दब्बूपन मालूम देता था। पर मैं तो उनकी ब्रजभाषा की रुचिर रचनाएँ सुनने गया था। शुक्लजी ने मुझे निराश नहीं किया। एक बड़ी सुन्दर रचना कागज़ों में से निकालकर पढ़ने को दी, और वह प्रसंग भी बतलाया,

जब उस कविता को लिखा था।

इसके बाद, बस, एक बार और शुक्लजी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह शायद सन् १९३० की बात है। कविवर रत्नाकरजी ने अपने निवास-स्थान पर स्थानीय कवि-गोष्ठी का आयोजन किया था। काशी का यह मेरा बड़ा मधुर संस्मरण है। सचमुच वह एक पुण्यदिवस था। एक ही साथ उस दिन कई साहित्य-महारथियों का उस गोष्ठी में दर्शन-लाभ हुआ। मुझे उस आयोजन का पता भी नहीं था। मैं तो श्रीरत्नाकरजी का दर्शन करने गया था, पर वहाँ तो एकसाथ हमारे कई गुरुजन विद्यमान थे। रत्नाकरजी और श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी का खूब हास्य-विनोद चल रहा था। गोस्वामीजी की आँखें क़रीब-क़रीब जवाब दे चुकी थीं। शरीर अस्वस्थ-सा था। पर ज़िन्दादिली में कुछ भी फ़र्क नहीं आया था। श्रद्धेय हरिऔधजी भी झूम-झूमकर विनोद-चर्चा में रस ले रहे थे। और शुक्लजी किसी पुस्तक के पन्ने उलट रहे थे। बीच-बीच में कुछ खाते भी जाते थे। मैं प्रसादजी से बातें कर रहा था। इतने में श्रद्धेय उपाध्यायजी ने प्रस्ताव रखा कि जलपान के पश्चात् हम सबको अपनी एक-एक रचना सुनानी ही होगी। गोस्वामीजी ने ताईद करते हुए कहा—"प्रस्तावक महोदय से ही क्यों न कविता-पाठ का आरम्भ कराया जाये।" हरिऔधजी ने अपने चार-पाँच चौपदे सुनाये। पर रत्नाकरजी चौपदों से खुश होनेवाले जीव नहीं थे। वह तो उनकी ब्रजभाषा की कोई शृंगार रस की कविता सुनना चाहते थे। हरिऔधजी ने भी ना नहीं की। रत्नाकरजी की फ़रमाइश पर शृंगारी कवित्तों का भी उन्होंने हम सबको रसास्वादन

कराया। गोस्वामीजी ने भी वैसी ही अपनी एक रसवन्ती रचना सुनाई। इन निपट बूढ़ों का रस-निर्झर देखकर मेरे मन में न जाने कैसा लग रहा था। लेकिन रत्नाकरजी ने स्वरचित 'गजेन्द्र-मोक्ष' के तीन या चार ओजस्वी कवित्त सुनाकर वह सारा कामुकतापूर्ण दृश्य बदल दिया। कवित्त कहने का रत्नाकरजी का बड़ा सुन्दर ढंग था। चित्र-सा सामने खड़ा कर देते थे। हम लोगों के आग्रह पर 'गंगावतरण' के भी पाँच-सात पद्य उन्होंने बड़े प्रेम से सुनाये।

अब शुक्लजी से निवेदन किया गया। बड़ी मुश्किल से कहीं एक दोहा सुनाया। उनकी गम्भीर प्रकृति को देखते हुए अधिक ज़ोर डालना उचित नहीं समझा गया। प्रसादजी भी नहीं सुनाना चाहते थे। बहुत-बहुत आग्रह किया, तब कहीं कुछ सुनाने को तैयार हुए। फिर भी अपनी रचना नहीं सुनाई। बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करते हुए घनानन्द का यह सुप्रसिद्ध सवैया सुनाया:—

"परकाजहिं देह कों धारे फिरौ,
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ,
सबहीं बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवन--दायक हौ,
कछु मेरियौ पीर हियैं परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुवान कों लै बरसौ॥"

प्रसादजी की इस विनयशीलता को देखकर तो मैं स्तब्ध रह गया।

मैंने अनुभव किया कि इस विनयशीलता और सरलता ने ही प्रसादजी को इस युग का इतना महान् कवि बनाया है। मैंने मन-ही-मन इस महाकवि को प्रणाम किया।

अन्त में अब मेरी ही बारी थी। मेरे लिए प्रसादजी ने रास्ता तैयार कर दिया था। सो उन्हींका पदानुसरण किया। रसखान का यह सवैया मुझे याद था:—

> "मानुष हौं तो वही 'रसखान'
>   बसौं नित गोकुल गाँव-गुवारिन।
> जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो,
>   चरौं नित नन्द की धेनु मँझारिन।
> पाहन हौं तो वही गिरि को,
>   जो कियो सिर छत्र पुरन्दर-धारिन।
> जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि
>   कालिन्दी-कूल कदंब की डारिन॥"

इस चिरस्मरणीय प्रीति-गोष्ठी के बाद, बस, एक बार और प्रसादजी के दर्शन हुए—मृत्यु से पाँच-छह महीने पूर्व रोग-शैया पर। गोस्वामीजी और शुक्लजी भी फिर नहीं मिले। वही, बस, अंतिम मिलन था।

मैंने ऊपर पं० केदारनाथ पाठक का उल्लेख किया है। पाठकजी को श्रद्धांजलि अर्पण किये बिना मेरे काशी के ये संस्मरण अधूरे ही रहेंगे। पाठकजी न लेखक थे न कवि। किन्तु हिन्दी के एक नैष्ठिक भक्त थे। नागरी-प्रचारिणी सभा के संग्रहालय की एक-एक पुस्तक का, एक-एक मासिक पत्रिका का उन्हें पूरा ज्ञान था। हिन्दी-साहित्य के नवयुग में

एक 'चलते-फिरते विश्वकोश' थे। भारतेन्दु-काल तथा द्विवेदी-काल के प्रायः सभी लेखकों व कवियों के संस्मरण उनके स्मृति-भण्डार में भरे पड़े थे। पाठकजी के साथ बात करने में बड़ा आनन्द आता था। पर उनकी जीवन का संध्याकाल बड़े कष्ट में बीता। आँखों की ज्योति चली गई थी। जीविका का कोई सहारा नहीं रहा था। बहुत बुरी अवस्था थी। जीवनभर सभा की सेवा की। सभा-संचालकों ने अंत में उनकी अवस्था पर शायद कुछ ध्यान दिया भी, पर पाठकजी ने सहायता लेना स्वीकार नहीं किया। मुझपर बहुत स्नेह रखते थे। जब कभी मैं काशी जाता, बड़े प्रेम से मिलते थे। अंतिम बार जब मैं उनसे मिला, तब उनकी दयनीय दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। तब मेरा किसी श्रीमंत से इतना अधिक परिचय नहीं था कि पाठकजी को कुछ मासिक सहायता दिला सकता। किसीसे इतना भी तो न हुआ कि उनके स्मृति-कोष में जो अनेक अनमोल संस्मरण भरे पड़े थे, उन्हें उनके पास बैठकर लिपिबद्ध कर लेता। उनका अपना एक निजी भी पुस्तकालय था। मालूम नहीं, उनकी मृत्यु के बाद उसका क्या हुआ।

काशी के, बस, एक पुण्यपुरुष का संस्मरण और। मेरा आशय स्व० श्री शिवप्रसादजी गुप्त से है। मृत्यु से नौ मास पूर्व सेवा-उपवन में अन्तिम बार मैं उनसे मिला था। काफ़ी अस्वस्थ थे। शरीर काम नहीं देता था। आरामकुर्सी पर लेटे हुए थे। तन पर शुभ्र खादी, श्वेत दाढ़ी और मस्तक पर चन्दन बड़ा भव्य मालूम देता था। ठक्कर बापा का तथा हरिजन-निवास के बालकों का कुशल-समाचार बड़े प्रेम से पूछा। हँसकर कहने लगे--"गत वर्ष मैंने जो लँगड़े आम भेजवाये

थे, वह आपके लड़कों को पसन्द आये थे न? इस वर्ष भी भेजवाऊँगा। काम तो सब ठीक चल रहा है न? आपका स्थान मुझे बड़ा प्रिय लगा था। और बापाजी तो देवता हैं। ऐसे सत्पुरुषों का सत्संग भाग्य से मिलता है। बापाजी से मेरा प्रणाम कहिएगा। आजकल कहाँ हैं?"

"दिल्ली में ही हैं। काशी का जब कभी प्रसंग आता है, बापाजी आपको पूछ लिया करते हैं। आपकी दया से हरिजन-निवास का कार्य ठीक-ठीक चल रहा है। आपने डेढ़-दो साल पहले हमारे विद्यार्थियों को प्रार्थना-स्थान पर बैठकर रात्रि को अपने जो यूरोप-यात्रा के रोचक संस्मरण सुनाये थे, वह उनको बहुत याद आते हैं। और आम तो लड़कों ने इतने स्वाद से खाये कि कुछ पूछिए नहीं—एक तो बनारस का लँगड़ा, दूसरे, आपके प्रेम का प्रसाद!" मैंने हँसते हुए कहा।

गुरुजी के जर्जरित स्वास्थ्य को देखते हुए मैं उनके पास अधिक देर नहीं बैठना चाहता था। उठने लगा तो पाँच मिनट और बिठा लिया। बोले—"मैं तो आपको पत्र लिख ही रहा था, मुझे आपसे एक शिकायत है। आपके द्वारा संपादित 'हरिजन-सेवक' मैं कभी-कभी बाँच लिया करता हूँ। मुझे उसकी भाषा पसंद नहीं। आप भाषा को क्यों बिगाड़ रहे हैं? आप लोगों की इस वर्णसंकरी भाषा से मुझे बड़ी चिढ़ है। आप उर्दू में शौक़ से लिखें, कौन रोकता है, पर कृपा-निधान! हिन्दुस्तानी की हंडिया में यह विचित्र खिचड़ी न पकाइए। बेचारी हिन्दी को छत-विक्षत न कीजिए।" कहते-कहते आवेश में आगये।

"पर गुरुजी, हमारी यह प्रवृत्ति यदि हमें ऐक्य की ओर लेजाये

में सहायक होती हो, तो शब्दों की खिचड़ी पकाने में हमारी क्या हानि है ?" मैंने नम्रतापूर्वक कहा।

"यह आपका निराभ्रम है। ऐसी बातों से ऐक्य-स्थापन नहीं हुआ करता। छोड़िए इस विषय को। मैंने भी ज़माना देखा है। देखते-देखते में आज निराशावादी-सा बन गया हूँ। ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियों से हमारा क्या सधनेवाला है ? पूज्य बापूजी को भी मैं कभी-कभी लिखता रहता हूँ।" दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कहा।

अधिक बोलना मैंने उचित नहीं समझा। प्रणाम किया और चल दिया। उनकी ज्वलन्त हिन्दीनिष्ठा को देखकर मैं तो गद्गद हो गया। उनके राष्ट्र-प्रेम पर, उनकी कांग्रेस-भक्ति पर कौन उँगली उठा सकता था ? मगर आज यदि श्रद्धास्पद गुरुजी जीवित होते, तो शायद उन्हें 'हरिजन-सेवक' की नई विचित्र भाषा को देखकर और भी मनोव्यथा होती। और उनकी हिन्दी-निष्ठा के अपराध पर उन्हें शायद सांप्रदायिकतावादी भी क़रार कर दिया जाता !

: २१ :

कैसे उऋण हो सकता हूँ ?

पिछले कई प्रकरणों में श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन के नाम का उल्लेख अनेक बार हुआ है। ऐसा होना अनिवार्य था। टंडनजी के निकट संपर्क में मैं कोई छह साल रहा। काफ़ी नज़दीक से उन्हें देखा। मैंने उन्हें अपना प्रथम मार्गदर्शक माना है। कहते हैं कि अति परिचय कभी-कभी अवज्ञा का रूप धारण कर लेता है। कुछ अंशों में यह धारणा सही भी है। टंडनजी की कुछ बातों की आलोचना मैंने भी कई बार की—अक्सर मन में और कभी कभी मित्रों के भी बीच में। मगर मेरी आंतरिक श्रद्धा-भावना, जहाँतक मुझे स्मरण है, कभी कम नहीं हुई।

टंडनजी को पहले-पहल मैंने १९१८ में देखा था। सान्निध्य १९२१ में हुआ। फिर तो मैं उनके घर का ही हो गया। अन्तर मैंने उनका सदा वैसा ही पाया, जैसा कि पचीस साल पहले देखा था। उनकी सहज सरलता में, अमन्द तेजस्विता में, शुद्ध सत्यनिष्ठा में और ऊँची विसर्जन-भावना में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा।

टंडनजी के स्नेहपूर्ण संपर्क या सत्संग के कितने ही दिन आज, जब कि यह प्रकरण लिखने बैठा हूँ, आँखों के सामने आ गये हैं। पर यहाँ तो मैं दो-चार प्रसंगों को ही लूँगा। मैं उनकी जीवन-कथा

लिखने नहीं बैठा हूँ। उनके साथ रहकर उनके जीवन में जिन दो व्यापक तत्वों को मैंने समीप से देखा उन्हींके विषय में यहाँ लिखना चाहता हूँ। वे दो तत्त्व हैं, क्षात्र तेज और निर्मल त्याग। यह प्रसादी उन्हें संत-मार्ग की जीवन-दीक्षा से प्राप्त हुई। कबीर व दूसरे सन्तों का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कबीर की कुछ साखियाँ तो टंडनजी को इतनी प्रिय हैं, कि मैंने उनको बहुधा बातचीत में और उनके भाषणों में भी दोहराते हुए सुना है, जैसेः—

पतिबरता मैली भली,
गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै,
ज्यों रवि-ससि की जोत॥
सिंहों के लैंहड़े नहीं,
हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ,
साध न चलैं जमात॥
'कबिरा' खड़ा बजार में,
लिये लुकाठी हाथ।
जो घर जालै अपना,
चलै हमारे साथ॥

इस अंतिम साखी को तो उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ भी कर दिखाया। देश की खातिर टंडनजी ने कितना त्याग किया इसका शायद बहुत थोड़े लोगों को ठीक-ठीक पता होगा। असहयोग-आन्दो-

उन के वे कसाले के दिन मुझे आज भी याद आ रहे हैं। उनकी घर की हालत उन दिनों काफ़ी गिर चुकी थी। वकालत को लात मार दी थी। लड़कों ने स्कूल से नाम कटा लिये थे। खुद लखनऊ-जेल में बैठे तप कर रहे थे। आमदनी का कुछ भी सिलसिला नहीं था। एक मित्र के पास शायद पहले की कमाई का थोड़ा-सा रुपया जमा था, उसीमें से ले-लेकर गिरस्ती चलाई जाती थी। मैं उन दिनों प्रायः उनके घर में ही रहता था। उनके सबसे बड़े पुत्र श्रीस्वामीप्रसाद ने कपड़े की एक छोटी-सी दूकान खोल ली थी। और चि० संतप्रसाद एक मशीन लेकर साड़ियों पर बेल-बूटे काढ़ा करते थे। घर में सब आठ या नौ प्राणी थे। बड़ी मुश्किल से गिरस्ती का छकड़ा चलता था। एक राष्ट्र-सेवी मित्र ने घर के लिए कुछ मासिक सहायता भेजने के लिए लिखा। हम कुछ उत्तर नहीं दे सके। जेल में जब स्वामीप्रसादजी और मैं टंडनजी से मुलाक़ात करने गये, तब हमने उस पत्र की भी चर्चा की। मित्र के स्नेह का बहुत आभार माना, पर ऐसा लगा जैसे उनके स्वमान को उनके प्रस्ताव से ठेस पहुँची। बोले, "तुम इस पत्र का उत्तर तो उसी दिन लिख सकते थे। मुझसे पूछने की ऐसी क्या आवश्यकता थी। देश-सेवा के व्रत को मैं मलिन नहीं करना चाहता। घर का भले ही सर्वनाश हो जाये, पर लोक-सेवा का विक्रय नहीं करूँगा।" सुनकर मैं अवाक् रह गया। श्रद्धा से मस्तक झुक गया।

और उनकी प्रखर तेजस्विता को तो मैंने कितनी ही बार देखा। इलाहाबाद का एक बड़ा सुन्दर प्रसंग याद आ रहा है। वह यह है :—

सन् तो याद नहीं; पर दिन वह दसहरे का था। चौक में रात को "भरत-मिलाप" होनेवाला था। पर शाम को कुछ सांप्रदायिक दंगा हो गया। भरत-मिलाप अब करें या न करें इस दुविधा में सब पड़े हुए थे। लोग बुरी तरह भयभीत थे। सड़कों पर हथियारबन्द पुलिस गश्त लगा रही थी। छतों पर से ईंट-पत्थर फेंके जा रहे थे। अपने लड़कों को राम और भरत बनाने के लिए कोई तैयार नहीं हो रहा था। टंडनजी को लोगों की यह कायरता बड़ी लज्जाजनक प्रतीत हुई। तुरन्त वहाँ पहुँचे और रामलीला-प्रबन्ध-समिति के सदस्यों को फटकारते हुए बोले—"आप लोगों के लिए यह बड़ी शरम की बात है कि आप भरत-मिलाप बन्द कराने की सोच रहे हैं। चन्द गुण्डों की शरारत से डरकर आप इलाहाबाद की शान को बट्टा लगाने जा रहे हैं। यों रामलीला के इस स्वांग के लिए मेरे दिल में कोई इज्जत नहीं। पर आज तो यह इलाहाबाद की शान का सवाल है। इस तरह अगर हम गुण्डों से डरने लगेंगे, तो इस शहर में रहना भी हमारा दुश्वार हो जायेगा। हम गुण्डई के आगे कभी सर झुकानेवाले नहीं। आप लोगों की यह कायरता है, जो दंगाइयों के डर से भरत-मिलाप बन्द कराने की सोच रहे हैं।"

डरते-डरते धीरे से किसीने कहा—"पर कोई अपने लड़कों को राम और भरत बनाने के लिए भी तैयार हो—"

"आप यह क्या लचर दलील दे रहे हैं! ज्यादा-से-ज्यादा यही होगा न कि वे लड़के गुण्डों के हाथ से मारे जायेंगे? अगर ऐसा हो, तब भी अंत में उसका अच्छा ही असर पड़ेगा। लोगों के अन्दर

उससे शक्ति पैदा होगी। चलिए, इस काम के लिए मैं अपने दो लड़कों को देता हूँ। अगर वे मारे गये, तो उनके बाद दो लड़के और दूँगा। भरत-मिलाप होगा, और फिर होगा।"

टंडनजी के ये ओजस्वी शब्द काम कर गये। एक-दो ज़िम्मेदार मुसलमान नेता भी, मेरा ख़याल है, वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने भी ज़िम्मा लेते हुए कहा कि भरत-मिलाप ज़रूर होना चाहिए। और भरत-मिलाप हुआ, और बड़ी शान्ति से हुआ। इलाहाबाद को शरमिन्दगी नहीं उठानी पड़ी।

इलाहाबाद के एक दूसरे हिन्दू-मुस्लिम-दंगे के अवसर पर भी टंडनजी की वही तेजस्विता और निर्भयता मेरे देखने में आई थी। नंगे सिर, बिल्कुल निहत्थे घंटाघर के आगे पहुँचे, जहाँ दंगाइयों का ख़ासा जमघट था। उन्हें जाकर डाँटा और डरी हुई औरतों व बच्चों को बग़ल के मुहल्ले में से निकालकर उनके घरों पर पहुँचाया।

उनकी तेजस्विता ने असत्य के साथ कभी समझौता नहीं किया। अनौचित्य के आगे वे कभी दबे या झुके नहीं। राजनीतिक हेतु साधने के लिए दाव-पेंच का हलका मार्ग ग्रहण करना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। ऐसी चीज़ें देखकर उन्हें हमेशा चोट पहुँची। १९४५ के सिमला-सम्मेलन में जो कुछ होने जा रहा था—ईश्वर को धन्यवाद कि सम्मेलन सफल नहीं हुआ—उसे देखकर वे बहुत व्यथित हो गये थे। उनका सदा से ही शुद्ध राष्ट्रीयता का पक्ष रहा है, हालाँकि उनका पक्ष कई बार ग़लत समझा गया। उन्होंने साम्प्रदायिकता को किसी भी रूप में फूलना-फलना क्या पनपना भी पसन्द नहीं किया।

भारत के अंग-विच्छेद पर उनके रोम-रोम में जैसे आग लग गई। इसमें उन्होंने कांग्रेस का दब्बूपन देखा और देश के प्रति द्रोह भी समझा। 'तुष्टीकरण' की इस नपुंसक नीति का उन्होंने प्रबल विरोध किया। उन्होंने माना कि सांप्रदायिकता का 'विषवृक्ष' तुष्टीकरण की इस नीति से ही पनपा और बढ़ा है। पर उनके इस पक्ष का समर्थन राष्ट्र के सिंहासन पर विराजमान देवताओं ने नहीं किया! दुर्भाग्य से उनका प्रकृति-सिद्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी का पक्ष भी ग़लत समझा गया। जिस शख्स के मुँह से यह ओजस्वी उद्गार निकले हों कि, "यदि मैं यह समझता कि हिन्दी से सांप्रदायिकता फैलती है, तो उसी क्षण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्यालय में आग लगा देता," उसके उद्देश को अन्यथा समझना पाप है॥

मुझसे कई मित्रों ने पूछा कि, क्या बात है कि "टंडनजी राजनीतिक क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सके, वर्किङ्ग कमेटी में भी नहीं आ सके?" इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ? सिवा इसके कि राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ने या वर्किङ्ग कमेटी में आने के लिए देशभक्ति के अलावा कुछ और भी साधनों की आवश्यकता हुआ करती है। उन साधनों का, सद्भाग्य से, टंडनजी के अन्दर अभाव है। राजनीति का जो अर्थ आज किया जाता है, उसमें बहुत आगे बढ़ना उनके लिए कठिन था, उनके स्वभाव के बहुत अनुकूल भी नहीं था। उन्होंने कइयों को, बड़ों-बड़ों को भी, आगे बढ़ाया, पर खुद पीछे ही रहे। और इसे मैं उनकी महत्ता ही कहूँगा। उन्होंने लोगों को अपना मित्र बनाया, 'अनुयायी' नहीं; उन्होंने 'कुटुम्ब' का निर्माण किया,

किसी 'दल विशेष' का नहीं। सत्य को उन्होंने सदा निरपवाद रूप में माना। राजनीतिक क्षेत्र में प्रयुक्त अहिंसा का उन्होंने प्रायः विरोध किया, पर 'जीव-दया' का उन हजारों की अपेक्षा उन्होंने अधिक आदर किया, जो प्रकट रूप से अहिंसा में विश्वास व्यक्त करते रहते हैं। अहिंसा के विषय में उनके कुछ अपने ही विचार हैं। उनके विचारों को मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका, यद्यपि उनके साथ इस विषय पर कई बार चर्चा हुई। पर उनके हृदय के निर्मल करुणा-स्रोत को मैंने प्रत्यक्ष देखा।

असत्य के साथ उन्होंने कभी किसी भी रूप में समझौता नहीं किया। उन्होंने वकालत की, और खासी की, किन्तु असत्य को उसमें तनिक भी प्रवेश नहीं करने दिया। मुझे याद पड़ता है कि एक ऐसा मुकदमा उनके पास आ गया था, कि उसकी अगर पैरवी करते तो मेहनताने का उससे उन्हें हजारों रुपया मिला होता। पर उस मुकदमे को हाथ में लेने से टंडनजी ने साफ इन्कार कर दिया। उसमें उन्हें असत्य की दुर्गन्ध आ रही थी। प्रतिष्ठित मुवक्किल को डाँटते हुए कहा—"आप आखिर क्या समझकर इस केस को मेरे पास लाये हैं? क्या मैं आपकी खातिर अदालत में झूठ बोलने जाऊँगा? कृपाकर आप अपने इस केस को किसी दूसरे वकील के पास ले जाइए।" मुन्शी ईश्वरीलालजी और भी इसी तरह के कई किस्से हमें अक्सर सुनाया करते थे।

ऐसे कई प्रसंग याद आते हैं, जब अपने उसूलों की खातिर वे बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए तैयार हो गये। उनमें से कई तो ऐसे

प्रसंग हैं। एक बार अपनी पत्नी के साथ किसी छोटी-सी सैद्धान्तिक बात पर मत-भेद हो गया था और उनकी भूल के लिए उन्होंने स्वयं एक सप्ताह का अनशन किया था। गृहस्थी के प्रति उनका कोई खास मोह नहीं रहा। अपने सिद्धान्तों को, हर परिस्थिति में, सदा सामने रखा। कितनी ही बातें घर के लोगों और मित्रों को भी अटपटी-सी मालूम दीं, पर उन्होंने परवाह नहीं की। उन्हें कभी-कभी सनकीतक कहा गया, पर उनकी सनक भी मुझे कभी अप्रिय नहीं लगी।

बहुत बरसों से टंडनजी ने चमड़े के जूते या चप्पल पहनना छोड़ रखा था। भावना इस व्रत के मूल में शुद्ध पशु-दया की थी। रबर-टायर के, या तो सुतली के तले के, जिनमें खादी की पट्टियाँ लगी रहती थीं, चप्पल पहना करते थे। पर जब मैंने उन्हें बतलाया कि हमारी उद्योगशाला में मुर्दार चमड़े के ही चप्पल व जूते बनते हैं, तो पहनने को तैयार हो गये। मैंने उनके पैर के माप का चप्पल तैयार करा दिया। देखकर प्रसन्न हुए, और कहा—"यह तो खासा मुलायम चमड़ा है। पर पट्टियों के नीचे जो यह सफेद चमड़ा लगा हुआ है यह किस जानवर का है?" मैंने बतला दिया कि यह चमड़ा भेड़ का है, और यह मुर्दार नहीं है।" चप्पल उठाकर फेंक दिया। "तब यह मेरे किस काम का? यह तो तुमने ठीक नहीं किया। मैं तो जिस चीज़ में रत्तीभर भी हलाली चमड़ा लगा हो, उसे बरतना पाप समझता हूँ। यह तो तुम्हें पहले ही साफ़-साफ़ बतला देना चाहिए था।"

मैंने भेड़-बकरी के चमड़े के पक्ष में काफी दलीलें दीं। गांधीजी द्वारा दी हुई इस सम्बन्ध की व्यवस्था को भी पेश किया। लेकिन उनके गले एक भी दलील नहीं उतरी। गांधीजी, संयोग से, उन दिनों हमारे हरिजन-निवास में ही ठहरे हुए थे। उनसे मैंने इस प्रसंग की चर्चा की। सुनकर हँसे, और बोले, "पुरुषोत्तमदासजी की प्रकृति को मैं जानता हूँ। तुम क्या ऐसा चप्पल तैयार नहीं करा सकते, जिसमें भेड़ का चमड़ा लगाया ही न जाये?" मैंने कहा, "सो तो बापू, हमने उनके लिए तैयार करा दिया है।"

पर उनकी आग्रह-वृत्ति के मूल में भी मैंने कोमलता और विनयशीलता को देखा। गांधीजी के साथ कई बातों में, और आज तो बहुत अधिक, उनका मत-भेद हो गया है। किन्तु गांधीजी पर उनकी जो ज्वलंत श्रद्धा-भक्ति है, उनके प्रति जो पूज्य भावना है, उसमें लेशमात्र भी कमी नहीं आई। और इस बात को गांधीजी भी भली भाँति जानते हैं।

मैंने टंडनजी के साधु-जीवन से बहुत पाया, इतना अधिक पाया कि ऋणमुक्त नहीं हो सकता। उनकी विसर्जन-वृत्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। श्रद्धास्पद टंडनजी के जीवन का निर्मल दर्शन मुझे उनकी रची 'पुष्प की अभिलाषा' कविता में मिला है। उन्होंने इस कविता को हिन्दी-विद्यापीठ में, शायद १९२४ में, लिखा था——

"भाग्यवान हूँ इस ही में—
यह जिनका शरीर करूँ सुरभित।

नहीं तनिक इच्छा मुझ को—
मधुकर-मंडित आरामों की।
दुर्बल अंग, स्वल्प सौरभ,
मम कामस्थल यह कोना है—
इसे सजाऊँ, इसे रिझाऊँ—
केवल यही कामना है।
यही लालसा हिय में इसका
इकदिन बिंध गलहार बनूँ;
अपना सब सौरभ समाप्त कर
रजकन में बस वास करूँ।"

: २२ :

साहित्य का अध्ययन

अबतक के मेरे अधिकांश संस्मरणों का सम्बन्ध साहित्य के क्षेत्र से रहा है। इधर कई वर्षों से यह क्षेत्र लगभग छूट चुका है, फिर भी मैं अधिकतर साहित्य का ही कीड़ा समझा जाता हूँ। शायद यह समझा जाता है कि मैं अब भी साहित्य का अध्ययन करता रहता हूँ। पर यह तो एक भ्रम है। साहित्य का अध्ययन तो मेरा पहले भी बहुत थोड़ा था, इधर आठ-नौ साल से तो उतना भी नहीं रहा। आज तो मुझे यह भी ठीक-ठीक पता नहीं रहता कि इस बीच में हिन्दी-साहित्य की अच्छी-अच्छी पुस्तकें क्या और कहाँ प्रकाशित हुई हैं। मासिक पत्रिकाएँ एक तो देखने को मिलतीं नहीं, दूसरे, कभी कोई हाथ में आ भी गई तो उसको उलट-पलटकर सरसरी नज़र से देख लेता हूँ। कविता तो कभी शायद ही कोई पढ़ता हूँ। मन नहीं लगता। लेख एकाध ज़रूर पढ़ लेता हूँ। वासुदेवशरण अग्रवाल व हजारीप्रसाद द्विवेदी-जैसे लेखकों की चीज़ बिना पढ़े नहीं छोड़ता। साहित्यकारों से भी अब पहले की तरह मिलना-जुलना नहीं होता। अलबत्ता, जैनेन्द्रकुमारजी से कभी-कभी मुलाकात हो जाती है। पर साहित्यिक चर्चा उनके साथ शायद ही कभी हुई हो। बस, ये मेरे एक मित्र हैं। साहित्यिक मित्र यह मेरी समझ में कदाचित् नहीं

आया, पर कभी-कभी ऐसे साहित्य-प्रेमी भी भूले-भटके आ जाते हैं, जिनका एकमात्र उद्देश साहित्यिक चर्चा करना होता है। सोच-विचार में पड़ जाता हूँ कि उनके साथ आखिर क्या बात करूँ। उस समय का मेरा अप्रत्याशित व्यवहार उन्हें शुष्क और कभी-कभी अहंकारपूर्ण भी प्रतीत होता है। कई सज्जन मुझपर रुष्ट होकर भी गये हैं। पर मैं उन्हें सन्तोष दूँ तो कैसे? जिन साहित्यिक प्रश्नों की मेरी अद्यतन जानकारी नहीं, यथेष्ट अध्ययन नहीं, वैसी अभिरुचि भी नहीं, उनपर भला मैं क्या चर्चा करूँ? जो मित्र मेरी इस दयनीय लाचारी को जानते हैं, वे कृपया क्षमा कर देते हैं; दूसरे रुष्ट हो जाते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि कविता तो शायद ही कभी कोई पढ़ता हूँ। न पढ़ने के दो कारण हैं। बहुत-सी रचनाएँ तो बिल्कुल साधारण होती हैं, उनको कविता, बल्कि, कहना भी नहीं चाहिए। और ऐसी होती हैं, जो ठीक-ठीक समझ में नहीं आतीं। इतनी गूढ़, इतनी रहस्यमयी कि बार-बार सोचने और दिमाग़ को खरोचने पर भी अर्थ उनका स्पष्ट नहीं होता। बहुत अधिक गहराईतक मैं जा नहीं पाता। पढ़ने की चेष्टा करता हूँ, पर समझ में न आने से घबराहट-सी लगने लगती है। तब फिर मैं यही मानूँगा कि मेरी बुद्धि सूक्ष्मतम भावों की गहराई-तक पहुँच नहीं सकती। अपवाद केवल एक है। प्रसादजी की 'कामा-यनी' को पढ़ते हुए मन वैसी उलझन में नहीं पड़ा, यद्यपि उसके भी कई स्थलों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगा सका। आधुनिक युग की जिन कविताओं को मैं समझ सका और जिन्हें सराहा, उनमें अधि-कारी आलोचकों ने कला का रहस्यमय दर्शन नहीं पाया। और जिन

पंक्तियों में उन्हें कला का दर्शन हुआ उनका गूढ़ातिगूढ़ भाव मेरी समझ में नहीं आया। और ऐसा ही चित्रकला के विषय में हुआ। लाक्षणिक अभिव्यंजनाओं से, मुझे लगता है कि, रचनाओं का सारा शरीर ढक दिया जाता है, यद्यपि कहा यह जाता है कि रचनाएँ वे निरलंकृता और निर्वसना होती हैं। उनकी स्पष्टता के तलतक पहुँचना मेरे लिए तो अशक्य-सा ही रहा।

फिर ऐसे साहित्य पर जो समालोचनात्मक लेख निकलते हैं, वे तो और भी गूढ़ार्थ-गर्भित होते हैं। किसी प्रकार किसी वाक्य को मैंने दो-दो, तीन-तीन बार पढ़ा, पर आशय उसका अन्ततक अस्पष्ट-सा ही रहा। समझ में स्पष्ट भाव कुछ आया ही नहीं। तब फिर यही मानना पड़ा कि वैसी चीज़ें मुझ जैसों के लिए लिखी ही नहीं गईं। एक विद्वान् समालोचक के एक लेख में पढ़ा था कि अमुक कवियित्री की कुछ रचनाओं में उच्चकोटि का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रहस्य भरा पड़ा है। इस लोभ से मैंने उन कविताओं को थोड़ा समझने का प्रयत्न भी किया। अध्यात्म मैंने उपनिषदों या ब्रह्म-सूत्रों की छाप का देखा है और उसे थोड़ा-थोड़ा समझ भी लेता हूँ। पर उन कविताओं में मुझे वैसा कोई अध्यात्म-दर्शन नहीं मिला। सम्भव है कि जिस सम्पूर्ण चिंतनशीलता से उन कविताओं के व्याख्याताओं ने उनमें एक नव उपनिषद का दर्शन किया हो वह मेरे साधारण-से अनुशीलन के मूल में सन्निहित न हो। कबीर और जायसी मुझे अधिक सुगम, अधिक समीप और अधिक आत्मीय मालूम दिये हैं। मीरां की पदावली की रस-प्राप्ति अधिक सुलभ रही है। हो सकता है कि जिसे कबीर, जायसी और मीरां को पढ़ने का

आकर्षण और अभ्यास रहा हो, उसे रहस्यमयी आधुनिक कविताएँ दुरूह या अपरिचित-सी लगती हों और इसीलिए उसे उनमें वैसा रस-दर्शन न होता हो। हो सकता है कि कलात्मक दर्शन या दर्शनात्मक कला से मेरा अद्यतन परिचय न होने से भी इस प्रकार की उलझन पैदा हुई हो। हूँ तो मैं इसी युग का, पर मैं अपने को युग के साँचे में ढाल न सका। अस्तु, आयु के इस उत्तरार्द्ध काल में उलझनों के सुलझाने में समय और शक्ति का क्यों व्यर्थ अपव्यय करूँ—यह सोचकर, और जीवन-यात्रा में इधर एक दूसरी ही पगडंडी पकड़ लेने के कारण भी, इस नवागन्तुक साहित्य-धारा से मैं विरत-सा ही रहना चाहता हूँ। मुझे तो गोसाईं तुलसीदास की यह कविता-कसौटी ही प्रिय लगती है—

'कीरति, भूति, भनिति भलि सोई;
सुरसरि सम सबकर हित होई।'

सन्त-साहित्य पर यही मेरे सहज अनुराग का कारण है। अबतक तो यही माना है कि जो साहित्य 'सर्वोदय' का साधक हो, जिसमें लोक-सुलभ प्रसाद की अभिव्यक्ति हो, उसीमें सच्ची सौन्दर्य-कला है और उसीमें जीवन का संपूर्ण रसात्मक दर्शन है। कला की दूसरी विविध व्याख्याएँ गले के नीचे कभी उतरी ही नहीं।

कविता का यह विविध 'वादों' के साँचों में ढाला जाना भी मेरी समझ में नहीं आया। सिद्ध किया तो यही जाता है कि ये विविध 'साँचे' अपने यहाँ के साहित्य में पहले भी विद्यमान थे। इस तथ्य को अंशतः स्वीकार करते हुए भी मुझे तो ऐसा लगता है कि इन

साँचों को तैयार करने में अधिकतर पाश्चात्य मसाले और नमूनों से काम लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि योरपीय साहित्य का जो लोग उसके मूलरूप में रसास्वादन कर चुके हैं उनकी दृष्टि में हमारी चीज़ भोंडी-सी जचती है, और जो उस साहित्य से अनभिज्ञ हैं उन्हें वह अटपटी-सी लगती है। साँचे में रचना को पहले के कवि भी ढालते थे, मगर साँचा उनका अपना होता था। ढली हुई चीज़ को रीतिकाल में अपनाया था सही, पर समाज में उसको बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया। यह कह सकते हैं कि उस युग के कवि की जानकारी बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं होती थी, पर यह अभाव भी उनके लिए एक वरदान था। उनका अध्ययन बहुत लम्बा-चौड़ा न होकर अपने आप में गहरा होता था। अब, 'अपना' बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। जिनको बाहर का थोड़ा-बहुत परिचय है, उनके लिए इन रचनाओं में कुछ खास तंत नहीं रहता। दूसरे, जो उन रचनाओं से अपरिचित होते हैं, वे या तो आश्चर्य-चकित हो जाते हैं, या फिर उनसे अभिभूत। ऐसा लगता है कि पराये भावों को भोंड़ेपन से रखा जाता है, आत्मसात् करने की शक्ति जैसे जड़ीभूत होती जा रही है। हम आगे बढ़े हैं सही, पर अपनी मूल परम्परा से सम्बन्ध हमारा छूटता जा रहा है। हम आज कहाँ 'सिंहावलोकन' करते हैं?

ऊपर मैंने लिखा है कि साहित्य का मेरा अध्ययन छूट गया है। पर अध्ययन ही छूटा है, अध्यापन नहीं। अध्यापन के साथ-साथ अध्ययन भी कुछ-न-कुछ हो ही जाता है। पर तुलसी, कबीर, जायसी आदि सन्तकवियों का ही साहित्य अधिकतर पढ़ाता हूँ। यह मेरे लिए सुगम रहता है। आनन्द-

दायक तो है ही। प्रसाद की 'कामायनी' भी कुछ परीक्षार्थियों को पढ़ाई और उसमें भी खासा आनन्द आया। मैथिलीशरण की भी 'साकेत' और 'यशोधरा' ये दो रचनाएँ पढ़ाते हुए रोचक मालूम हुईं। इन चीज़ों को पढ़ाता हूँ, तो मुझे तो आनन्द आता ही है, मेरे विद्यार्थियों का भी मन लगता है। पर कई अर्वाचीन सुकवियों की कविताओं को चूँकि मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका, इसलिए उनका अर्थ बतलाना मुझे कठिन या भार-जैसा मालूम दिया। मेरे विद्यार्थियों ने कुछ कहा नहीं, पर स्पष्ट था कि उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। विद्यार्थी, बल्कि, कई ऐसी कविताओं का अर्थ लगा लेते हैं, जिनका अर्थ मैं नहीं कर सका। पर अधिकतर वे अपने मन में ही उनका गूढ़ार्थ समझते हैं, दूसरों को समझा वे भी नहीं सकते। इस अभाव को अनुभव करता हूँ, पर मुझे अपनी इस अयोग्यता पर कभी पछताव नहीं हुआ।

कई बार विचार किया कि कुछ समय निकालकर नियमपूर्वक कुछ अध्ययन करूँ, पर कर नहीं सका। यंत्रवत् भी वाचन नहीं हो सकता। पढ़ना दैनिक अखबारोंतक सीमित रह गया है; अथवा, लड़कों को पढ़ाते समय जो पढ़ लेता हूँ। पाठ और पारायण करने को चित्त कभी-कभी दौड़ता है तो, बस, इनकी ओर—कबीर, दादू, रैदास आदि संतों की साखियाँ और शब्द; पद्मावत के कुछ स्थल; रामचरित-मानस, मुख्यकर अयोध्या और उत्तर काण्ड; विनय-पत्रिका; मीरां के कुछ भजन, कामायनी की कई कविताएँ; साकेत और यशोधरा के कुछ प्रसंग।

पर यह सब तो कविता की बात हुई। लेकिन यही बात साहित्य के दूसरे अंगों—नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना आदि पर भी लागू होती है। जिन दस-पंद्रह नाटकों को पढ़ा, उन्हें नाट्यकला आज नाटक ही नहीं मानती। प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल के उपन्यासों के अलावा, चार-छह ही मुश्किल से और पढ़े होंगे। कहानियाँ भी पढ़ने का शौक़ नहीं रहा। समालोचना का साहित्य भी बहुत कम देखा। आशय यह कि साहित्य की दुनिया आज जहाँतक पग बढ़ा चुकी है, उस मंजिल से मैं बहुत, बहुत पीछे रह गया हूँ। मेरे साथी मुझसे बहुत आगे निकल गये। मैं देखता हूँ कि मेरे बाद भी जिन्होंने क़दम रखे थे वे भी छलाँगें मारते हुए बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। और मैं वहीं-का-वहीं पैर घसीटता रहा! मगर मेरे मित्र मुझे भी साहित्य-पथ का एक यात्री समझते हैं। उनकी इस अनोखी समझ को मैं क्या कहूँ! वे या तो निपट भोले हैं, या फिर मखौल करते हैं। मैं सफ़ाई पेश करता हूँ तो उसे भी मज़ाक में उड़ा देते हैं। कहते हैं, तुम्हारी यह सफ़ाई भी साहित्य के रंग से अलग नहीं है। मेरी इतनी ही विनीत प्रार्थना है कि कृपाकर वे ब्रह्मानन्द-सहोदर साहित्य-रस को इस तरह उपहास की वस्तु न बनाएँ।

: २३ :

पन्ना में छह साल

सन् १६२५ में श्रद्धेय टंडनजी पंजाब नेशनल बैंक के मैनेजर होकर लाहौर चले गये। स्व० लाला लाजपतराय के बहुत ज़ोर देने पर टंडनजी ने बैंक की यह नौकरी स्वीकार की थी। बिना किसी आय के गृहस्थी का छकड़ा आखिर कबतक चल सकता था? देश-सेवा से फ़ुर्सत नहीं थी, और लड़कों में से तबतक कोई कमानेलायक नहीं हुआ था। लड़कों ने स्कूल-कालिजों से कई वर्षतक असहयोग किये रहने के बाद फिर से नाम लिखा लिये थे। यह चीज़ भी टंडनजी को जैसे कुछ अखरी-सी थी। मालवीयजी महाराज भी जीविका-निर्वाह के लिए कोई-न-कोई धंधा करने का आग्रह करते रहते थे। सो आपद्-धर्म समझकर टंडनजी ने बैंक की यह नौकरी स्वीकार तो करली, फिर भी मन उनका उचटा-सा रहता था। किन्तु परिस्थितियों ने लाचार-सा कर दिया था। मगर लाहौर में भी सार्वजनिक कार्यों से वे अलग नहीं रहे। लालाजी के कुछ विचारों से यद्यपि उनका मत नहीं मिलता था, फिर भी लालाजी को इस बात का विश्वास हो गया था कि उनके लोक-सेवक-मंडल (सर्वेण्ट्स ऑफ़ पीपल्स सोसाइटी) का काम टंडनजी ही उनके बाद सँभालेंगे, और हुआ

भी यही। लालाजी की मृत्यु के बाद टंडनजी ही लोक-सेवक-मंडल के आजीवन अध्यक्ष चुने गये।

टंडनजी लाहौर गये, मैं पन्ना चला गया। सम्मेलन के कुछ तत्कालीन अधिकारियों की नीति से मेरा ठीक-ठीक मेल नहीं बैठ रहा था। उधर पन्ना-नरेश महाराजा यादवेन्द्रसिंहजी से पाँच-सात महीने पहले मेरा परिचय भी हो गया था। उन्होंने पन्ना आने के लिए दो-तीन बार आग्रहपूर्वक लिखा भी था। बुन्देलखंड से मेरा पाँच-छह साल से संपर्क छूटा हुआ था। वहाँ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य रह-रहकर आकर्षित भी कर रहे थे। सोचा, विद्यापीठ में जिस विचार से आकर बैठा था वह आज कहाँ पूरा हो रहा है ? सम्मेलन के एक अधिकारी को तो लड़कों का चरखा कातना भी नापसन्द था। एक दिन आकर हमारे रसोइये से उन्होंने कहा—"बेकार ही ईंधन की शिकायत करते रहते हो। इतने तमाम चरखे ये किसलिए रखे हैं ? खासी सूखी लकड़ी है यह। चूल्हे में फिलहाल इन्हींको जला-जलाकर काम चलाओ। लकड़ी का इन्तज़ाम बाद को कर दिया जायेगा। लड़के यहाँ पढ़ने के लिए आये हैं, चरखा कातने के लिए नहीं। यह तो बुढ़ियों और बेवा औरतों का काम है।" उन अधिकारी महोदय के इस प्रवचन के समय मैं वहाँ मौजूद नहीं था। रसोइये ने ईंधन की इस नवीन व्यवस्था का हाल जब मुझे सुनाया तो बड़ी मनोव्यथा हुई। लड़कों को भी उनकी यह बात बुरी लगी। मैंने उसी क्षण विद्यापीठ छोड़ देने का निश्चय कर लिया। चरखे का यह घोर अपमान मेरे लिए असह्य हो गया।

इलाहाबाद से मेरा दाना-पानी उठ गया। माँ को छतरपुर भेज

दिया। मैं पन्ना चला गया। वहाँ गया तो मैं इस विचार से था कि मनोरम दृश्यों से घिरे हुए उस एकान्त प्रदेश में शान्तिपूर्वक बैठकर अध्ययन करूँगा और कुछ लिखूँगा। पर जो सोचा था वह हो न सका। यद्यपि छह साल के अर्से में पाँच-सात पुस्तकें पन्ना में ही मैंने लिखीं, पर जिस एकान्त-सेवन की मधुर शान्त कल्पना लेकर मैं वहाँ गया था वह नहीं सध सका। 'आये थे हरि-भजन को, ओटन लगे कपास' की मसल हुई। भरसक निर्लिप्त रहने का प्रयत्न करते हुए भी राज्य के वातावरण से मैं अपने को एकदम अलग न रख सका।

शुरू में मुझे राज्य के अतिथि-निवास में ठहराया गया। इस मेहमान-घर का नाम बाद को हम लोगों ने 'वीर-भवन' रख लिया था। पुराने राज-महल के यह बिल्कुल समीप था। हमारे पड़ोस में प्रसिद्ध प्राणनाथजी का विशाल मन्दिर था। 'परणामी' पन्थ का यह सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान है। पन्ना को ये लोग 'पद्मावतीपुरी' कहते हैं। हर साल दूर-दूर से हजारों परणामी भाई स्वामी प्राणनाथ के इस विशाल मन्दिर का दर्शन करने आते हैं। यह एक पहुँचे हुए सन्त थे। महाराज छत्रसाल इन्हें गुरुवत् मानते थे।

पन्ना छोटा-सा सुन्दर क़स्बा है। 'झन्ना-पन्ना' के नाम से यह दूर-दूरतक प्रसिद्ध है। हीरे की खानें भी यहाँ की मशहूर हैं। जन-संख्या इस नगर की लगभग बारह हज़ार के है। पहाड़ी जगह है। पन्ना राज्य में एक-से-एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य हैं। पाण्डव, बृहस्पति-कुण्ड, केन का प्रपात आदि यहाँ के बड़े ही रमणीक स्थान हैं। प्राचीन तपोभूमि के कितने ही चिह्न आज भी वहाँ देखने में आते हैं।

पाण्डव का झरना तो मुझे इतना प्रिय था कि उसे देखने में अक्सर आया करता था।

पन्ना का वातावरण इलाहाबाद से कितना भिन्न था इसका अनुभव मुझे दिन-दिन होने लगा, यद्यपि देशी राज्यों का जीवन मेरे लिए नया या निराला नहीं था। इलाहाबाद में पाँच-छह साल ही तो रहा था, फिर भी शुरू-शुरू में ऐसा लगा जैसे दुनिया के एक ऐसे कोने में मुझे लाकर रख दिया गया हो जहाँ के हर आदमी और हर चीज़ में मुझे एक अजीब-सी भिन्नता दीख रही थी। बाहर के हालात से लोग अनजान थे और इसका उन्हें कोई खेद भी नहीं था। उनकी बिल्कुल अपनी दुनिया थी---अपने ही विचार, अपनी ही कल्पनाएँ। पूर्ण या अपूर्ण सब अपने आपमें ही थे। मेरे सामने कोई काम भी नहीं रहता था। सुबह और शाम महल में जाकर हाज़िरी बजाना, महाराज के साथ मोटर पर नई-नई जगह घूमना, नई-नई बातें सुनना और कवि-सुलभ भाव-धारा में बहते रहना—प्रायः यही यहाँ मेरी दिन-चर्या रहती थी।

बहुत दिनोंतक मैं अजनबी-सा नहीं रहा। धीरे-धीरे यहाँ कई सज्जनों से मेरी मित्रता हो गई। साहित्यिक वातावरण भी बनाना चाहा, पर वह हो नहीं सका। इलाहाबाद की और यहाँ की गोष्ठियों में अन्तर था। वहाँ साहित्यकारों के बीच में बैठता था; यहाँ सरदारों और अधिकारियों के साथ। चर्चा के विषय यहाँ रहते थे---अपने राज्य और राजा की तारीफ़ व पड़ौस के राज्यों की नुक्ताचीनी; अपने-अपने वैभव का बखान; शिकार का रोमांचकारी वर्णन या गपशप और महा

हँसी-मज़ाक। वहाँ इलाहाबाद में आये दिन नेताओं का आगमन होता रहता था; यहाँ राजा-महाराजाओं और सरदारों की अवाई-जवाई में लोग व्यस्त रहते थे। वहाँ मीटिंग होती थीं; यहाँ दरबार। महाराजा की वर्षगाँठ के उपलक्ष में जो शानदार मेला लगता था, वही यहाँ का सब से बड़ा सार्वजनिक समारोह या जलसा कहा जासकता था। अधिक देखने या जानने की लोगों को कुछ इच्छा भी नहीं होती थी। अलबत्ता, एक-दो सरदार और कोई-कोई अधिकारी मुझे देखकर कांग्रेस या स्वराज्य की चर्चा भी छेड़ दिया करते थे। लेकिन अक्सर ऐसा वे मेरे मन का भाव भाँपने के लिए करते थे। मगर मैं जोश में आकर काफ़ी कह जाता था। सीधे-सादे बुड्ढे सरदार स्वराज्य की बात को अव्वल तो समझते नहीं थे; दूसरे, वे इसकी कभी कल्पना भी नहीं करते थे कि देशी राज्यों का किसी दिन नाम-निशानतक नहीं रहेगा और अंग्रेज़ी हुकूमत का भी तख्ता उलट जायेगा! वे इसे शेखचिल्ली की बात समझते थे। मगर जो सचमुच समझते थे वे मेरे विद्रोही विचारों को खैरख्वाही के साथ ऊपरतक पहुँचा देते थे। पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब तो खास इसीलिए मुझसे दोस्ती रखते थे। लेकिन मैंने अपने मन के विचारों को कभी दबाया नहीं। देशी राज्यों और अंग्रेजी सत्ता के विषय में मेरे क्या विचार थे पन्ना-नरेश को इस बात का पूरा पता था। उनके हृदय में मेरे स्पष्ट विचारों की बाद को चाहे जो प्रतिक्रिया होती हो, पर जहाँतक मुझे याद पड़ता है, उन्होंने प्रकट रूप से कभी कुछ कहा नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे विचारों को राजमहल के वातावरण में पसन्द किया जाता था। मैं अन्दर-अन्दर, धीरे-धीरे

अवांछनीय बनता जा रहा था। पर इस बात का मुझे पता कोई चार साल बाद चला।

धीरे-धीरे अज्ञात रूप से अब मैं वहाँ के वायु-मण्डल में घुलने-मिलने लगा। अधिकतर मैं महाराजा के छोटे भाई श्रीभारतेन्द्रसिंहजी के छोटे से कमरे में बैठा करता था। उन्हें साहित्य की पुस्तकें पढ़ने का शौक था। बातें भी वे मुझसे दिल खोलकर किया करते थे। शिक्षा-विभाग उन्हींके अधीन था, जिसके साथ मेरा भी सीधा सम्बन्ध था। शाम को अक्सर क्लब में भी जा बैठता था। वहाँ रोज़ क्लब के सदस्य बिलियर्ड खेलते थे। मैं देखा करता, पर समझ में कुछ भी नहीं आता था। वहीं राज-काज की बातें भी चलती थीं। राजनीति के मानी थे एक-दूसरे की शिकायत व बुराई, कानाफूसी और खुशामद। कभी-कभी जागीरी मन्दिरों के महन्त भी आजाते थे, पर ज्ञान और भक्ति की बातों से उनका सरोकार नहीं रहता था। वे भी प्रपंच की ही बातें सुनने-सुनाने में रस लिया करते थे। एक बात ज़रूर कहूँगा कि वहाँ कोई शील-मर्यादा के बाहर नहीं जाता था। यह दूसरी बात है कि कोई-कोई सरदार क्लब में एकाध पेग ब्राण्डी या ह्विस्की चढ़ा लेते थे, जिसका वहाँ निषेध सर्वथा नहीं था।

दस-ग्यारह महीने मेरे वहाँ ठाली बैठे रहने में ही बीते। काफ़ी समय बेकार जाता था। महीनों की मेहमानदारी या मुफ़्तखोरी मुझे अब खलने लगी। मैं कोई-न-कोई काम चाहता था, पर वैधानिक रूप में नहीं। काम मुझे मिल गया, और मेरे मन का मिला। शिक्षा-विभाग के 'विशेष सहायक' के नये पद पर मैं नियुक्त किया गया। हाईस्कू

को छोड़कर, राज्य के बाक़ी सारे स्कूल मेरे सिपुर्द किये गये । किन्तु राज्य से मैंने भोजन-मात्र का ही सम्बन्ध रखा, उससे कोई वैतनिक या आर्थिक सम्बन्ध नहीं जोड़ा। अपनी समझ से मैंने यह अच्छा ही किया। ऐसा करके अपने व्यक्तित्व का मैं बहुत-कुछ बचाव कर सका।

पन्ना में भी रहा मैं 'मसिजीवी' ही। 'वीर-सतसई', 'भावना', 'प्रेम-योग', 'पगली' और 'अनुराग-वाटिका' इन पुस्तकों को मैंने पन्ना में ही लिखा था। शिक्षा-विभाग के काम से और व्यर्थ गपशप से जो समय बचता था उसका उपयोग लेख या कविता लिखने में करता था। कमाई का सिलसिला यहाँ भी वही 'इलाहाबादी' ही था, बल्कि पन्ना में मकरूज़ कुछ अधिक हो रहा। खर्च यहाँ काफ़ी बढ़ गया था। छतरपुर से मां तथा ममेरे भाई को चार-पाँच महीने के बाद बुला लिया था। उनका ख़र्च तो मामूली था, पर मेरा अपना ख़र्च बढ़ गया था। राजघराने के सम्पर्क में रहते हुए मेरे रहन-सहन में स्वभावतः अन्तर आगया था। अकिंचिनता के प्रति पहले जो सहज आकर्षण था, उसमें धीरे-धीरे अब कमी आने लगी थी। पहनता तो खादी की धोती और कुरता ही था, पर कई-कई जोड़ रखता था। दो रुपये मासिक धोबी को धुलाई के देता था। धोबी से मैंने पन्ना में ही कपड़े धुलवाये। जूते-चप्पल भी आधे दर्जन तो रखता ही था! बालों में सुगन्धित तेल भी डाला करता था। उसके बाद तेल छूटा सो छूटा। आईने का भी इस्तेमाल करता था। आईना कैसे छूटा इसकी कहानी है। बालों में मेरे अपने-आप छल्ले पड़ जाया करते थे। एक दिन आईना हाथ में लेकर सामने के बालों को मैं प्रयत्न-पूर्वक ज़रा मोड़ने लगा। एक क्षण में ही ऐसा करना वाहियात-सा

मालूम दिया, और इसके लिए मैंने उस ग़रीब आईने को दोषी ठहराया। ज़ोर से उसे ज़मीन पर दे मारा, उसके टुकड़े-टुकड़े होगये। तब से फिर, सिवा कभी-कभी दाँत या आँख देखने के, आईने में चेहरा नहीं देखा। बिना आईने के ही दाढ़ी बनाने का अभ्यास डाल लिया। दाढ़ी भी वहाँ हर दूसरे दिन बनवाया करता था।

इस सब परिग्रह का मुझे पता भी नहीं चल रहा था। अज्ञात रूप से फिसलता चला जारहा था। यदि किसी तरह राज्य के कोष से रुपया लेने के लिए मैं तैयार हो गया होता, तो परिग्रह के दलदल में शायद और भी बुरी तरह फँस जाता। ईश्वर ने ही बचाया। अवसर मेरे ज़िद्दी स्वभाव ने, जिसका बचाव दलीलों से नहीं हो सकता, कितने ही अनिष्टों से मुझे दूर रखा। वह ज़िद ही थी—और घरवालों की दृष्टि में दुराग्रह—कि मैंने वहाँ शिक्षा-विभाग की जो छह साल सेवा की, उसका कोई पारिश्रमिक राज्य से नहीं लिया। मुझे इस बात का संतोष है कि पारिश्रमिक न लेकर मैंने अच्छा ही किया, भले ही मेरे कुछ हितैषियों ने मेरी इस ज़िद को हिमाक़त कहा।

एक दिन वयोवृद्ध दीवान ठाकुर विश्वनाथसिंह महाराजा साहब के आदेश से ७००) लेकर मेरे डेरे पर पहुँचे, और पूरा ज़ोर डालकर मुझसे कहा—"यह रुपये तो तुम्हें लेने ही होंगे। तुम्हारे सिर पर काफ़ी कर्ज़ होगया है, इस बात का हमें पता है; कर्ज़ इन रुपयों से उतार दो। ना, मैं तुम्हारी एक नहीं सुनूँगा।" उनके निश्छल स्नेह की मैं अवज्ञा नहीं कर सका। नीचा सिर करके रुपया तकिये के नीचे रख लिया। पर रात को नींद नहीं पड़ी। पड़े-पड़े सोचता रहा—यह तो संकोच में बुरी

वह डाल दिया। पर कुछ भी हो, रुपया तो अपने पास नहीं रखूँगा। इस फंदे से क्यों गला फाँसूँ ? मान लेता हूँ कि मेरे राज्य से कुछ न लेने के निश्चय के मूल में नासमझी ही थी, पर यह निश्चय तो मैंने उस समय धर्म समझकर ही किया था, उसे आज सात सौ रुपये के लोभ में पड़कर क्यों भंग करूँ ?

रास्ता निकाल लिया। दूसरे दिन "श्रीछत्रसाल-स्मारक-निधि" में वह रुपया जमा करा दिया। तब कहीं चित्त को शांति मिली। किन्तु एक-दो बार रुपया अपने पास रख लेने के विचार ने भी ज़ोर मारा था। मेरी परिस्थिति भी इस प्रकार के विचार के अनुकूल थी और दलीलें तो रुपया रख लेने के पक्ष में थीं ही।

: २४ :

"छत्रसाल-स्मारक"

पन्ना-नरेश बहुत दिनों से अपने महाप्रतापी पूर्वज महाराजा छत्र-साल का स्मारक बनाने की बात सोच रहे थे। पन्ना में छत्रसाल की एक विशाल मूर्ति खड़ी की जाये, केवल इतना ही तब उनके ध्यान में था। एक दिन मुझसे भी, शायद पँचमढ़ी में, उन्होंने इस संबन्ध में सलाह ली थी। मूर्ति के अतिरिक्त, मैंने ये चीज़ें और सुझाईं—(१) प्रतिवर्ष अच्छे समारोह के साथ 'छत्रसाल-जयन्ती' मनाना, (२) छत्रसाल के ग्रन्थों का सम्पादन व प्रकाशन कराना, और (३) पन्ना तथा बुन्देलखण्ड के दूसरे राज्यों में 'छत्रसाल-संवत्' चलाना। संवत् तो नहीं चल सका, पर मेरे पहले दो सुझावों को सहर्ष मान लिया गया। पन्ना में यह एक खासा अच्छा काम हुआ। इस नव्य आयोजन को राजा एवं प्रजा दोनों का हार्दिक सहयोग मिला। यों तो बुन्देलखण्ड के अधिकांश राज्यों के शासक महाराजा छत्रसाल के ही वंशज हैं, पर उनका स्मारक बनाने की बात किसीको भी न सूझी। और बाद को भी किसी अन्य राज्य ने जैसा चाहिए वैसा इस शुभ कार्य में पन्ना राज्य को सहयोग प्राप्त नहीं हुआ।

छत्रसाल-स्मारक बनाने के सम्बन्ध में पन्ना में जो क़दम उठाया

गया, वह निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। छत्रसाल के एक प्राचीन चित्र पर बम्बई के प्रसिद्ध शिल्पी श्री म्हात्रे द्वारा एक विशाल मूर्ति तैयार कराई गई। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व का कार्य तो वहाँ छत्रसाल–जयन्ती मनाने का हुआ। संयोग से ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया को मेवाड़-केसरी महाराणा प्रताप का भी जन्म हुआ था। अतः पन्ना में हमने पहले-पहल १९२६ में एकसाथ दोनों स्वातंत्र्य-वीरों की जयन्तियाँ बड़े उत्साह और समारोह के साथ मनाईं। इस अवसर पर बाहर से भी कुछ अच्छे-अच्छे विद्वानों और कवियों को राज्य की ओर से आमंत्रित किया गया था। पड़ोसी राज्यों तथा मध्यप्रांत और संयुक्तप्रान्त के कई नगरों में भी छत्रसाल-जयन्ती उत्साहपूर्वक मनाई गई। किन्तु बाद को पहले के जैसा न तो वह उत्साह रहा, न शायद वैसा संगठन ही।

'छत्रसाल-ग्रन्थावली' के संपादन और प्रकाशन का काम मैंने ले लिया। इस शोध-कार्य में काफ़ी परिश्रम करना पड़ा था। साहित्य-संसार में छत्रसाल के विषय में तब केवल इतना ही प्रसिद्ध था कि उनके दरबार में कवियों का बड़ा आदर होता था, यहांतक कि भूषण के पालकी में उन्होंने अपना कन्धा लगा दिया था, और स्वयं भी वे एक अच्छे कवि थे।

'मिश्रबन्धु विनोद' में राज-विनोद, गीतों का संग्रह, छत्र-विलास, नीति-मंजरी और महाराज छत्रसालजू की काव्य इन पाँच पुस्तकों की उल्लेख मिलता है। छत्र-विलास एक संग्रह-ग्रन्थ है, जो चरखारी के राजकीय प्रेस में छपा था। पाठ इसका बड़ा ही भ्रष्ट था। जिन हस्त-

लिखित पुस्तकों के आधार पर मैंने 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' का संपादन किया, वे सभी बड़े महत्त्व की थीं। पन्ना राज्य के पुस्तकालय में मुझे तीन हस्तलिखित पुस्तकें मिली थीं—मेहराज-चरित्र, महाराज छत्रसालजू की काव्य और नीति-मंजरी। इन तीनों प्रतियों तथा छत्र-विलास के पाठ मिलाकर संशोधित रूप में, शोधपूर्ण छोटी-सी भूमिका के साथ, मैंने 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' तैयार की, और उसे स्मारक-समिति की ओर से प्रकाशित कराया। किन्तु दुःख है कि साहित्य-संसार में 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' यथेष्ट आदर और प्रचार न पा सकी। आशा तो मुझे यह थी और आज भी है कि छत्रसाल की रचनाओं पर हमारे विद्वत्समाज में अच्छी चर्चा होनी चाहिए।

स्वयं छत्रसाल पर भी हमारे इतिहास-लेखकों ने नगण्य-सा ही ध्यान दिया है। इसमें बुन्देलखण्ड की प्रजा का भी दोष है। कोई सवा सौ साल पहले एक अंग्रेज़ कर्नल ने लालकवि कृत "छत्र-प्रकाश" का अंग्रेज़ी अनुवाद, पाद-टिप्पणियों के साथ, फोर्ट विलियम में छपाया था। बाद को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने मूल 'छत्रप्रकाश' प्रकाशित किया। छत्रपुर के श्रीकुँवर कन्हैयाजू ने 'बुन्देलखण्ड-केसरी' नाम की एक प्रामाणिक पुस्तक छत्रसाल पर लिखी। मराठी में श्रीबालचन्द लालचन्द शाह वकील ने 'छत्रसाल' नाम का एक उपन्यास लिखा, जिसका श्रीरामचन्द्र वर्मा ने हिन्दी में अनुवाद किया। इतिहास-ग्रन्थों में छत्रसाल की प्रायः उपेक्षा ही की गई। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल ने छत्रसाल पर अंग्रेज़ी में एक बड़े महत्त्व का लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि छत्रसाल का

नाम संसार के बड़े-बड़े स्वातंत्र्य-वीरों के साथ लिया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि जातीय जागरण का जो काम महराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी ने किया था वही काम बुन्देलखंड में महाराजा छत्रसाल ने किया। तत्कालीन राष्ट्र-निर्माताओं के साथ छत्रसाल के नाम का उल्लेख न करना एक ऐसा ऐतिहासिक अपराध है, जो किसी तरह क्षमा नहीं किया जा सकता। छत्रसाल धर्म और देश की रक्षा के लिए मुग़ल-साम्राज्य के विरुद्ध जीवनभर लड़े। राष्ट्र-निर्माण के साथ-साथ उन्होंने साहित्य का भी खासा निर्माण किया। भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टियों से उनकी रचनाएँ टकसाली कही जा सकती हैं। राजनीति पर उन्होंने जो पद्य लिखे उनसे उनका राज्य-शासन-सम्बन्धी गहरा अनुभव व्यक्त होता है। शासकों के लिए उनकी कई सूक्तियाँ तो सदैव पथ-प्रदर्शक का काम देती रहेंगी, जैसे—

रैयत सब राजी रहै,
ताजी रहै सिपाहि।
'छत्रसाल' ता राज को,
बार न बाँको जाहि॥
'छत्रसाल' जन पालिबो,
अरिहिं घालिबो दोय।
नहिं बिसारियो, धारियो,
धरा-धरन कोउ होय॥
बालक लौं पालहिं प्रजा;
प्रजा-पाल 'छत्रसाल'।

ज्यों सिसु-हित-अनहित सुहित,
करत पिता प्रतिपाल ॥
'छत्रसाल' राजान कों,
वर्जित सदा अनीति ।
द्विरद-दंत की रीति सों
करति न रैयत प्रीति ॥

दतिया के प्रसिद्ध संत अक्षर अनन्य के कुछ आध्यात्मिक प्रश्नों के महाराज छत्रसाल ने जो उत्तर उन्हें भेजे थे, उनसे ज्ञात होता है कि वे न केवल महान् वीर, योद्धा तथा सफल शासक थे, वरन् ऊँचे भक्त और तत्ववेत्ता भी थे।

नीचेलिखे पद्य में तो शासन-नीति का सारा निचोड़ भर दिया गया है--

चाहौ धन धाम भूमि भूपन भलाई भूरि,
सुजस सहूरज़ुत रैयत कों लालियौ,
तोड़ादार घोड़ादार वीरन सों प्रीति करि,
साहस सों जीति जंग खेत तें न चालियौ।
सालियौ उदंडनि कों, दंडनि कों दीजौ दंड,
करकै घमंड घाव दीन पै न घालियौ,
विनती छत्रसाल करै, होय जो नरेस देस,
रैहै न कलेस लेस, मेरो कह्यौ पालियौ ॥

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद, बादशाह बहादुरशाह ने छत्रसाल से वैर रखना उचित नहीं समझा। १७०८ में बादशाह ने महाराज

छत्रसाल को एक बहुत बड़े प्रदेश का अधिपति स्वीकार कर लिया और उन्हें अपना मनसबदार बनाना चाहा, पर उन्होंने मनसब लेना स्वीकार नहीं किया। बादशाह को लिख भेजा—

जाको मानि हुकम सुभानु तम-नास करै,
चन्द्रमा प्रकास करै नखत दराज को,
कहै छत्रसाल, राज-राज है भँडारी जासु,
जाकी कृपा-कोर राज राजै सुरराज को।
जुग्म कर जोरि-जोरि हाजिर त्रिदेव रहैं,
देव परिचार गहैं जाके गृह-काज को
नर की उदारता में कौन है सुधार, मैं तौ
मनसबदार सरदार ब्रजराज को॥

ऐसे महान् स्वाभिमानी नर-केसरी के वंशजों को जब समीप से हम ने देखा कि देश का बुरी तरह विनाश करनेवाली विदेशी सत्ता की अधीनता को क़ायम रखने में वे अपना मान और गौरव समझते हैं, तब लज्जा से सिर नीचा हो गया। तोपों की सलामी बढ़वाने और खिताब पाने के लोभ से ये लोग बुरे-से-बुरा देश-द्रोह का काम करने के लिए तैयार हो जाते थे। छत्रसाल, शिवाजी या प्रताप की स्मृति-रक्षा की ये सारी योजनाएँ तब निरर्थक-सी लगने लगीं। परतंत्रता की जड़ें सींचनेवालों के लिए कब शोभा देता है कि वे स्वातंत्र्य-वीरों के स्मारक निर्माण करें? पन्ना में पहले जब छत्रसाल-स्मारक बनाने की चर्चा चली, मन में तब काफ़ी उत्साह हुआ था। बाद को वह बात नहीं रही। मुझे ऐसे स्मारकों में कुछ सार्थकता दिखाई नहीं दी।

: २५ :

शिक्षा-विभाग में

शिक्षा-विभाग में 'विशेष सहायक' के नये पद पर मेरी अवैतनिक नियुक्ति कर दी गई। काम भी यह मुझे मन का मिल गया। मेरे दफ्तर के लिए बाज़ार में श्रीबलदेवजी के विशाल मन्दिर का एक बड़ा कमरा दिया गया। मेरे दफ्तर में दो इन्सपेक्टर थे, दो क्लार्क थे और दो चपरासी। दफ्तर के काम का तब मुझे कुछ भी अनुभव नहीं था। न तो हिसाब-किताब समझ में आता था, न छोटी-बड़ी मिसलें। दफ्तरों में जिस भाषा का चलन था उसमें फारसी के मुश्किल लफ्ज़ों की भरमार रहती थी। मगर मैं घबराया नहीं। अपने अनुभवी मुन्शियों से रोज़ कुछ-न-कुछ सीखता था, पर उन्हें अपनी नाजानकारी का पता नहीं चलने देता था। दो-तीन महीने के अर्से में सारा काम मैंने अच्छी तरह समझ लिया। नये अफसरों को रियासती अहलकार लोग किस तरह बनाते और उन्हें अपने हाथों में रखते हैं, इस बात का पता मुझे दस-बारह दिन में ही चल गया। मेरा पेशकार काफ़ी होशियार व तजर्बेकार था। तनख्वाह तो उसकी शायद १२) से भी कम थी, पर ऊपरी आय अच्छी हो जाती थी। मुदर्रिसों पर उसका काफ़ी रौब-दाब था। दफ्तर आने-जाने के लिए मुझे एक पुरानी

टमटम दी गई थी। राज्य की टमटम ने लोगों की नज़रों में मेरी खासी इज़्ज़त बढ़ादी। और सालाना दौरे मैं मोटर पर किया करता था।

मेरे चार-पाँच साल के कार्य-काल में ग्राम-पाठशालाओं की संख्या खासी अच्छी बढ़ गई। चार नये मिडिल स्कूल क़ायम हो गये और दो या तीन छोटी-छोटी कन्या-पाठशालाएँ। संस्कृत-विद्यालय खास पन्ना नगर में पहले से ही था। मैं यह कहूँगा कि ग्राम-शिक्षासम्बन्धी मेरी कई योजनाओं में राज्य ने प्रायः कोई बाधा उपस्थित नहीं की। मगर कुछ तहसीलदारों और पुलिस के छोटे-मोटे अधिकारियों को ग्रामों की जागृति का मेरा यह मामूली-सा प्रयत्न भी अच्छा नहीं लगता था। उन्हें भय था कि कहीं साक्षरता का प्रकाश पाकर प्रजा अपनेको उन्हींकी तरह 'मनुष्य' न समझने लग जाये! मैं यह जानता था कि राज्यों में, खासकर छोटे-छोटे राज्यों में, किसी भी प्रकार की जन-जागृति को अक्सर शंका की नज़र से देखा जाता है। हाईस्कूल की अंग्रेज़ी शिक्षा में वे कोई ऐसा तात्कालिक खतरा नहीं देखते। खतरा तो ग्राम-शिक्षा-योजनाओं से उन्हें रहता है। एक खासे समझदार सुसभ्य नरेश ने मुझसे, बातचीत के सिलसिले में, एक बार कहा था कि, "मैं अपने राज्य में हाईस्कूल तो एक के बजाय दो या तीन भी खोल देने को तैयार हूँ, पर ग्राम-शिक्षा-प्रसार को मैं अधिक उत्तेजन देने के पक्ष में नहीं हूँ। ग्रामीण प्रजाजनों में जो सहज राज-भक्ति आज मैं देखता हूँ, वह उनके साक्षर हो जाने के बाद भी वैसी ही क़ायम रहेगी, इसमें मुझे पूरा सन्देह है; क्योंकि पड़ौसी ब्रिटिश भारत के ज़हरीले साहित्य का हमारे ग्रामों में पहुँचना राज्य के हित में कदापि

अच्छा नहीं।" मैं तो दंग रह गया उनकी यह विचित्र-सी दलील सुनकर। मगर 'राज्य के हित में' इन शब्दों के बजाय अगर उन्होंने 'राजा के हित में' यह कहा होता, तो शायद उनका कथन कुछ सही भी होता। लेकिन असल में शिक्षा-प्रसार का काम जैसा आसान मैंने समझ रखा था वैसा था नहीं। उन ग़रीब इलाक़ों की नग्न वास्तविकता को देखा तो मेरी आँखें खुल गईं। दौरों में मुझे कितने ही नये-नये अनुभव हुए। गाँवों को खूब नज़दीक से देखने का अवसर मिला। जनता में शिक्षा के प्रति सर्वत्र प्रायः उदासीनता ही पाई। मैंने देखा कि ग़रीबी व बेकारी ने लोगों को एकदम जड़ बना दिया है। अपने नन्हें-नन्हें बच्चों को मदरसे में भेजने के बदले ग़रीब आदमी उनसे दो-तीन घंटे रोज़ खेत-खलिहान में मज़दूरी कराना कहीं अधिक लाभदायक समझते हैं। मदरसों से बच्चों के नाम कटवाने की कोशिशें की जाती हैं। एक स्कूल में मुझे अपने चपरासी से मालूम हुआ कि मेरे मुन्शी को एक बूढ़ी काछिन एक रुपया, अपना लोटा बेचकर, नज़र करने आई थी कि वह मास्टर से सिफ़ारिश करके उसके पोते का नाम मदरसे से कटादे! लड़का कोई नौ साल का था। बुढ़िया का वही एकमात्र सहारा था, जो घर पर रहकर चार-पाँच पैसे रोज़ की मज़दूरी कर सकता था। चार अक्षर उसे पढ़ा-लिखाकर वह हमारी अनिवार्य शिक्षा-योजना को सफल बनाने के पक्ष में नहीं थी। और इसी तहसील के एक भाग में 'अनिवार्य शिक्षा' का प्रयोग चलाने की बात मैं सोच रहा था! मेरा जोश वहीं ठंडा पड़ गया।

उस दरिद्र इलाक़े के एक गाँव का भयंकर और दर्दोत्पादक

चित्र मैं आपके सामने रखता हूँ।

सन् १६२६ के माघ का महीना था। मोटर मेरी खराब हो गई थी, इसलिए रात को हमें एक छोटे-से पुरवा में रुक जाना पड़ा। मैं उन दिनों एक पहाड़ी परगने का दौरा कर रहा था। शाम से ही कड़ाके की सरदी पड़ने लगी थी। दाँत से दाँत बजते थे। चारों ओर घना जंगल, और दूरतक निर्जन पहाड़ी सूनसान। साँझ पड़ चुकी थी, पर सारी बस्ती में कहीं एक दिया भी नहीं टिमटिमाता था। तीस-चालीस झोंपड़ियों का पुरवा था वह। बीच गाँव में एक बड़ा-सा कोंडा (अलाव) धधक रहा था, जिसमें बड़े-बड़े लक्कड़ जला रखे थे। वहाँ पन्द्रह-बीस आदमी कुछ तो बैठे ताप रहे थे, और कुछ वहीं खड़े बातें कर रहे थे। हम पहुँचे तो देखकर वे कुछ डर से गये, यद्यपि मोटर को हम डेढ़-दो मील के फासले पर छोड़ आये थे। सभी बिना वस्त्र के थे। कमर पर केवल एक-एक चीथड़ा था। उनमें कुछ तो क्वाँदर-(एक जंगली जाति) थे, और कुछ चमार और लोधी। सौ थीगरों का लत्ता लपेटे वहीं एक अंधी बुढ़िया लाठी के सहारे खड़ी थी—जैसे हाड़ों की माला। उसके पींजर की एक-एक हड्डी दीखती थी। आग के मुँह पर खड़ी भी वह थर-थर काँप रही थी। पाँच-सात नंग-धड़ंग बच्चे भी वहीं अलाव के इर्द-गिर्द खेल रहे थे। एक हाथ में बसारा (एक मोटा धान्य) की काली-काली कंडा-रोटी का टुकड़ा था, तो एक नन्हीं लड़की कुदई और भाजी कठौती में गींज-गाँजकर (सानकर) खा रही थी। फोड़ों से सिर उसका जैसे सड़ गया था, और नाक से रेंट बह रही थी। बीच-बीच में खाज भी खुजलाती जाती थी। एक लड़का अपनी बहिन को गोदी

में लिए महुवा और चरवा (चिरौंजी के फल) बड़े स्वाद से चबा रहा था। वहीं एक लँगड़ा बुड्ढा अपने लड़कों को गंदी-गंदी गालियाँ दे रहा था। बात यह थी कि उन मौंड़ों (लड़कों) की लापरवाही से मुसौल में रखा हुआ कुछ पाला पड़ोसी की एक बकरी चर गई थी। बूढ़ा बेचारा चिचियाता ही रहा, पर उन मुरहों (शैतानों) ने कुछ भी ध्यान न दिया।

हम लोगों को देखकर उनमें से कुछ तो मारे डर के खड़े हो गये, और कुछ सरककर परे जा बैठे। हमें सब अविश्वास की दृष्टि से देख रहे थे। हमारी भी समझ में नहीं आ रहा था कि उन लोगों से आखिर हम क्या बात करें। देहातों के मैंने इससे पहले कई हृदय-विदारक दृश्य देखे थे, पर इस पुरवा का यह दृश्य देखकर तो रुलाई आ गई। दरिद्रता और विपदा का कुछ पार! अन्न का कहीं दाना नहीं, तन पर धागा नहीं। जंगली फलों, जड़ों और कुधान्य से सब पेट भर रहे थे। जानवरों से भी बदतर हालत थी उनकी।

मैं उस इलाक़े में नये-नये मदरसे खुलवाने का इरादा और उत्साह लेकर गया था। दिल वहीं-का-वहीं बैठ गया। सोचने लगा, इन कंकालों के साथ मैं कैसा निर्दय मखौल करने आया हूँ! तड़प तो रहे हैं ये अस्थि-पंजर बच्चे रोटी के लिए, और मैं इनके हाथ में देने आया हूँ स्लेट का पत्थर और पोथी का कागज़! मैं अपनी सालाना रिपोर्ट में बड़े अभिमान से लिखूँगा कि राज्य के इतने बच्चों को साक्षर बना दिया गया है! उस अलाव पर बैठे-बैठे मैंने अपने आपको मन-ही-मन बहुत धिक्कारा।

मेरे मुन्शी ने, बग़ैर मुझसे पूछे, उन क्वाँदरों में से दो को तो चपरासी के साथ बिस्तरे और सामान लाने के लिए बेगार में पकड़-कर भेज दिया था, और एक झोंपड़ी में से मेरे लिए एक खाट भी निकलवा ली थी। मुन्शीजी की व्यवस्था में मैं कभी हस्तक्षेप नहीं करता था। एक दूसरे गाँव से मेरे लिए उन्होंने दूध भी दो-ढाई सेर मँगवा लिया था। उन दिनों दूध और साग व फलों पर मैं तपश्चर्या का व्यय-साध्य जीवन व्यतीत कर रहा था। शीतल वायु का झोंका जैसे पसीने को सुखा देता है, उसी तरह मुन्शीजी की इस सुन्दर व्यवस्था ने मेरी करुणा के स्रोत को वहीं-का-वहीं सुखा दिया। मेरा वह करुणोद्रेक सचमुच क्षणिक था, एक भावुक कवि का उफान था। वह चीज़ गहरी नहीं चुभी थी। संवेदन का चमड़ा मेरा मोटा पड़ गया था। अब वैसी चुभन नहीं होती थी। मुन्शी, अर्दली और मोटरगाड़ी ने अंतर में बहनेवाली मेरी करुण-धारा को जैसे सोख लिया था।

जहाँ कहीं शिक्षा-प्रसार के लिए थोड़ा-बहुत क्षेत्र भी था, वहाँ उपयुक्त साधनों का अभाव था। सुशिक्षित अध्यापक शायद ही कोई था। योग्य अध्यापक मिलते भी नहीं थे। देहात के मास्टर का वेतन पाँच रुपये से लेकर बारह-तेरह रुपयेतक होता था। बहुत-से स्कूलों में पढ़ाई नाममात्र की ही होती थी। हाज़िरी लड़कों की बहुत कम रहती थी। जब कभी महाराजा साहब या उनके भाई अथवा कोई उच्च अधिकारी स्कूल के सामने से गुज़रते, तो गाँव के सारे लड़कों को मिठाई की लालच देकर कतारबन्द खड़ा कर दिया जाता था। लड़के

एकाध स्वागत-गीत भी गा देते, और मास्टर अतिथि देवता के गले में फूलों की माला डाल देता । इसी तरह इन्स्पेक्टर साहब का भी यह यथाशक्ति स्वागत-सत्कार कर देता था । टीका के साथ एक रुपये का नज़राना मुआइने के बाद शिकायत का मौक़ा नहीं आने देता ।

मैंने शुरू में कुछ सख्ती से काम लिया । बहुत-से अयोग्य अध्यापकों को नौकरी से अलहदा कर दिया, और उनके स्थान पर कुछ अधिक वेतन देकर अच्छे शिक्षित अध्यापकों को रखा । ब्राह्मण अध्यापकों में इससे बड़ा असंतोष फैला । उनमें से कुछ तो बिल्कुल निरक्षर भट्टाचार्य थे । एकाध ग़लत-सलत आशीर्वादी श्लोक या दोहा उन्हें कंठाग्र था, उसीके नाम पर उन्हें 'शिक्षण-वृत्ति' मिलती थी । उन्होंने मुझे बहुत कोसा । एक ने तो रोष में आकर मेरे सामने अपना जनेऊ तोड़कर फेंक दिया । पर उस अक्षर-शत्रु दुर्वासा के अभिशाप का मुझ विप्र-द्रोही पर कुछ भी असर नहीं हुआ !

मकानों का भी काफ़ी कष्ट था । जीर्ण-शीर्ण छोटी-छोटी कोठरियों में अधिकांश पाठशालाएँ लगती थीं । मैंने एक योजना बनाई, जिसके अनुसार अच्छे नये मकान खड़े किये जा सकते थे । जितना रुपया एक पाठशाला पर खर्च होता उसका आधा जनता से चन्दे के रूप में लेने का विचार था और आधा राज्य से । ऐसे पचास 'सरस्वती-मन्दिर' आसानी से बन सकते थे । मगर अभिमानी राज-परिवार ने इसमें अपनी अप्रतिष्ठा समझी । प्रजा को शुभ कार्य में भी बराबरी का दर्जा देना उसे अपने हक़ में अपमान-जनक-सा मालूम दिया । यहीं से राज्य के साथ मेरा संघर्ष

चलना शुरू हुआ। मैं हैरान था कि मेरी ऐसी निर्दोष योजना से राज्य को क्यों खटका हुआ। इस सम्बन्ध का अपना मन्तव्य समझाने के लिए मैंने जहाँ-तहाँ सभाओं में जो व्याख्यान दिये, वह भी राज्य को पसन्द नहीं आये। एक दिन पुलिस-सुपरिंटेंडेंट ठा० निर्भलसिंह ने, जो मुझसे मित्रता मानते थे, मुझे इस बात का संकेत कर दिया कि मैं राज्य की दृष्टि में अपनी नियत मर्यादा का उल्लंघन कर रहा हूँ। 'सरस्वती-मन्दिर' वाली योजना तो मैंने त्याग दी, पर शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से जन-सम्पर्क का कार्य-क्रम जारी रखा। अन्दर-अन्दर मेरे विरुद्ध क्या-क्या कहा-सुना जा रहा था, इसका मुझे पता नहीं चलता था। यह सब होते हुए भी महाराजा साहब तथा राज्य के उच्च पदाधिकारी बिना किसी हिचकिचाहट के यह मानते थे कि शिक्षा के क्षेत्र में जो जागृति हुई है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सन् १६२६ में राजधानी में हमने एक वार्षिक उत्सव मनाया, जिसमें मिडिल स्कूलों के विद्यार्थियों व अध्यापकों को राज्य की ओर से आमन्त्रित किया गया। हमने एक ग्राम-प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया। इस प्रदर्शिनी में लड़कों के हाथ की तैयार की हुई तथा संग्रहीत वस्तुएँ रखी गईं। लोक-प्रचलित कहानियाँ व गीत भी बहुत-से विद्यार्थी लिखकर लाये थे। कई लड़कों ने अनेक जड़ी-बूटियों और रंग-बिरंगे पत्थरों का भी संग्रह किया था। द्वितीय वार्षिक उत्सव की नुमाइश और भी अच्छी हुई। लड़कों ने व्यायाम के भी कई सुन्दर प्रदर्शन किये। कुश्तियाँ भी हुईं, और अनेक देशी खेल भी। उत्तीर्ण विद्यार्थियों को पारितोषिक इत्यादि भी दिये गये। यह

मेला एक सप्ताहतक रहा। पन्ना-नरेश ने ऐसे दो या तीन उत्सवों में बड़े उत्साह से भाग लिया। उन्होंने प्रेरणात्मक भाषण भी दिये। किन्तु बाद को उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। शिक्षा-विभाग के इस वार्षिक उत्सव में भी राज्य के अधिकारियों को कुछ राजनीतिक गन्ध आने लगी। उनके व्यवहार में मुझे फ़र्क दिखाई देने लगा। अछूत बालकों को सरकारी स्कूलों में दाखिल करने के बारे में मैंने अपनी सालाना रिपोर्ट में जो ज़ोरदार तजवीज रखी थी, उसने साफ़ ज़ाहिर कर दिया, बल्कि आसार दिखने लगे कि मेरे विरुद्ध जल्द ही एक तूफ़ान उठनेवाला है।

: २६ :

तूफान के सामने

अब मुझे रह-रहकर बेबसी महसूस होने लगी थी। मन में कितने ही ऊँचे-नीचे विचार उठते थे। मैं आखिर यहाँ बेकार पड़ा-पड़ा क्या कर रहा हूँ? यहाँ तो मामूली-से समाज-सुधारों की भी आशा नहीं। मेरे विचारों को केवल यहाँ सुनभर लेते हैं, उनपर अमल कब होने दिया जाता है? ये लोग सब कितनी छूत-छात मानते हैं! अगर मैं मेहतर से बिस्तर बिछवा लेता हूँ, तो इसपर भी उँगली उठाई जाती है। उस दिन अपने मेहतर के हाथ से अगर मैंने एक गिलास पानी मँगाकर पीलिया, तो क्या बुरा किया?

महाराजा साहब के छोटे भाई नन्हें राजा के साथ मैं उन दिनों मोहन-निवास में रहता था। केवल वही एक मेरे विचारों से सहमत थे। पर 'लोक-मर्यादा' के भंग होने का उन्हें भी भय था। राज-कुटुंब का खयाल तो था ही। मैं उनकी स्थिति को संकट में नहीं डालना चाहता था। साथ ही, अपने सही विचारों को अधिक दबाना भी नहीं चाहता था। मेहतर के हाथ से पानी मैंने एक या दो-बार मोहन-निवास में ही पिया था। चार-पाँच बसोरों को कभी-कभी भजन गाने के लिए भी बुला

लिया करता था। उनके राज़ी न होने पर भी एक दिन मैंने उन लोगों को अपने कमरे में दरी पर हाथ पकड़कर बिठा लिया कि ग़ज़ब होगया! नौकरों व सरदारों में आपस में कानाफूसी होने लगी। तिल का ताड़ बन गया। अफवाह यहाँतक फैल गई कि बलोरों की उस मंडली को मैंने अपने साथ खाना भी खिलाया है, हालांकि मेरे मन में ऐसा विचार कभी नहीं आया था। मगर अफवाह दब गई। मुझे आगाह भी कर दिया गया कि ऐसा कोई क़दम नहीं उठाना चाहिए, जिससे रियासत में मनमुटाव और शांति-भंग होने का अंदेशा हो। उन ग़रीब बलोरों पर ऊपर से डाँट भी पड़ी। मैंने उन्हें बाद को कई बार बुलाया, पर आने की उनकी हिम्मत न पड़ी। मैं समझ गया। हवा का रुख बदला हुआ था।

अपने विचारों को अन्दर-अन्दर बहुत दबाने से ऐसा लगता था जैसे किसी बंद कोठरी में मेरा दम घुटा जारहा हो। राज्य के स्कूलों में अछूत बालकों का दाखिल न किया जाना एक ऐसा सवाल था जो मुझे सबसे ज्यादा परेशान कर रहा था। मैं हैरान था कि मनुष्य-समाज का एक भाग, जिसका कोई भी अंग प्रकृत्या अपूर्ण नहीं है, शिक्षा के लाभ से क्यों वंचित रखा जाता है? मेरे दौरे की पवई तहसील के मिडिल स्कूल की बात है। एक बनिये का लड़का शाम को बंद मकान पर मैं मुझे रामायण सुना रहा था। वहीं एक अधेड़ चमार बैठा हुआ था। भगत था। रामायण खूब प्रेम से सुन रहा था। मैंने उससे पूछा—'तुम भी अपने बच्चों को पढ़ाओ न? बातचीत करने में लड़के तो तुम्हारे होशि-यार मालूम देते हैं। मज़े से एक साल में रामायण पढ़ने लग जायँगे।

थोलो उन्हें पढ़ाओगे ?' 'मालिक, हमारे बच्चन के भाग में पढ़बो-लिखबो कहाँ बदो ? हमें ढिंगालुक (पास-तक) तो कोउ बैठन नईं देव'—कहते-कहते उसका गला भर आया।

पढ़ाने को मास्टर हिचकिचाता था। उसे तहसीलदार का डर था, और तहसीलदार को अपने सबसे ऊँचे अधिकारी का भय था। बहाना था कि प्रजा में इससे हलचल मच जायेगी। जोखिम लेने को कोई तैयार नहीं होरहा था। मैंने उसी चमार के हाथ से दोपहर को अपना पानी का घड़ा भरवाया था। मेरा मुंशी मेरे इस दुःसाहस को देखकर काँप गया। चपरासी और ड्राइवर ने भी नाक-भौं सिकोड़ी। मेरे पन्ना पहुँचने से पहले ही मेरी इस 'धर्मभ्रष्टता' की खबर महाराजा साहब के कानोंतक पहुँच चुकी थी।

मुझे भारी मानसिक पीड़ा होरही थी। कैसा अंधेर है, इस गरीब चमार के होनहार बच्चे हमारे मदरसे में चार अक्षर भी नहीं पढ़ सकते! इन बेचारों के लिए साधारण शिक्षा का भी द्वार बन्द है। यदि इन बच्चों के लिए मैं शिक्षा की सुविधा राज्य से न करा सका, तो फिर इस विभाग में मेरा रहना बेकार है, बल्कि पाप है। एकबार प्रयत्न करके देखता हूँ। सामान्य स्कूलों में फिलहाल इनके लिए प्रवेश की बात को छोड़ देता हूँ, पन्ना चलकर इनके लिए अलग स्कूल खुलवाने की चेष्टा करूँगा। इसमें भी विफल रहा, तो शिक्षा-विभाग को लात मार दूँगा।

यह सन् १९२१ का प्रसंग है। मैंने निश्चय कर लिया कि खास पन्ना में हमें एक अछूत-पाठशाला जल्द-से-जल्द स्थापित कर ही देनी

है। सद्भाग्य से तीन-चार मित्र मेरे इस विचार के समर्थक मिल गये। महाराजा साहब ने भी कुछ पशोपेश के साथ पाठशाला खोलने की स्वीकृति देदी। अब प्रश्न अध्यापक का था। प्रभुदयाल नाम का एक कायस्थ नवयुवक हिम्मत करके पढ़ाने के लिए भी तैयार होगया। एक राज-पंडित ने दबी ज़बान से हमें शास्त्रीय व्यवस्था भी देदी। और खुशनसीबी से स्कूल के लिए हमें एक छोटा-सा मकान भी मिल गया।

एक दिन श्रीबलदेवजी के मन्दिर के सामने सार्वजनिक सभा का आयोजन करके राज्य की ओर से अछूत-पाठशाला खोलने का निश्चय मैंने घोषित कर दिया। सभा में बड़े प्रयास से कुछ मेहतरों को भी बुलाया गया था। बहुत ज़ोर डालने पर दो-तीन मेहतर भाई सबके साथ दरी पर डरते-डरते बैठे। पाँच-सात बच्चों को भी सभा-स्थल पर ही, गणेश-वन्दना के साथ, वर्णमाला का पहला पाठ पढ़ाया गया। तत्पश्चात् सभा की समाप्ति पर सब उपस्थित जनों को मिठाई बाँटी गई। रूढ़िवादी जन-समुदाय इससे विचलित हो उठा। धर्म मानो रसातल को चला गया। जहाँ-तहाँ यही चर्चा सुनाई देती थी कि भाई, हमारे छत्रसाली राज्य में इतना बड़ा अन्धेर आजतक कभी नहीं हुआ। बेचारे प्रभुदयाल को तो तत्काल जाति-बहिष्कार का दण्ड मिला। दलित वर्ग भी मारे डर के काँपने लगा। अपने बच्चों को हमारी पाठशाला में भेजने के लिए भी तैयार नहीं होता था। दूसरे दिन बड़ी मुश्किल से तीन बालकों को उनके घरों से लाकर प्रभुदयालजी ने पढ़ाया। उन्हें धमकियाँ भी खूब दी गईं।

उधर मन्दिरों के महन्त व पुजारी धर्म की 'रक्षा' के लिए कमर

सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार होगये । इन सारे अनर्थों का मूल मैं ही समझा गया। अफ़वाह तो यहाँतक उड़ी कि अछूतों का दल ज़बर्दस्ती मन्दिरों में घुसने का प्रयत्न करनेवाला है, और उनका नेतृत्व वियोगी हरि करेगा। रूढ़िवादी समाज मरने-मारने के लिए आमादा होगया। इस तूफ़ान की खबर रात के एक बजे पुलिस के एक बड़े अधिकारी ने हमारे मोहन-निवास में आकर दी और मुझे सतर्क कर दिया। मज़ा यह था कि सामने कोई विरोध नहीं करता था, पीठ-पीछे ही यह आंदोलन खड़ा होरहा था । लेकिन राजकुटुम्ब और रूढ़िप्रिय प्रजा के विरोध के बावजूद भी पन्ना-नरेश ने दृढ़ता से काम लिया। मन्दिर-प्रवेश का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। विरोधी दल के पाँच-सात प्रतिनिधियों को एक दिन क्लब में बुलाकर श्रीमन्तने समझाया, डाँटा भी, और कहा कि "अछूत-पाठशाला मेरे हुक्म से खोली गई है, वह अब बन्द नहीं हो सकती । इस काम में अगर कोई अनुचित दख़ल देगा तो उसके खिलाफ़ सख्त कारवाई की जायेगी।" विरोधियों का जोश ठंडा पड़ गया। मगर मेरे प्रति विरोध की भावना ने जड़ पकड़ी सो पकड़ी। किन्तु मुझे सन्तोष है कि उस विषवृक्ष में भी अन्ततोगत्वा अमृत-फल ही लगा; इस प्रकरण का पीछे अच्छा ही परिणाम निकला। इससे मुझे बहुत प्रेरणा मिली।

इस घटना के फलस्वरूप पन्ना से एक पाक्षिक पत्र निकालने का मैंने निश्चय किया। नाम उसका 'पतित-बन्धु' सोचा । पन्ना का राजकीय प्रेस मेरी ही देख-रेख में चलता था, और पत्र उसमें आसानी से छप सकता था। पर मुझे इजाज़त नहीं मिली। फलतः जबलपुर से

मुझे उसके प्रकाशन का प्रबन्ध करना पड़ा। पूँजी मेरे पास केवल छह सौ रुपये की थी। डेढ़ सौ रुपये मेरे अपने थे, और साढ़े चार सौ तीन-चार मित्रों से माँग लिये थे। मास में दो बार मुझे जबलपुर की दौड़ लगानी पड़ती थी। मेरे विद्याव्यसनी मित्र ब्योहार राजेन्द्रसिंहजी मेरी बहुत सहायता किया करते थे। ठहरता मैं हमेशा उन्हींके घर पर था। साहित्य-सेवी युवक पं० नाथूराम शुक्ल का भी सहयोग मुझे संपादन-कार्य में अच्छा मिला था।

'पतित-बन्धु' के मैंने, अपनी दृष्टि के सामने, दो उद्देश मुख्य रखे थे—एक उद्देश तो सर्वधर्म-समन्वय, और दूसरा दलितजनों की सेवा। दिव्यवाणी, सन्त-सुधा और दलित-संसार ये हमारे मुख्य स्तम्भ थे। सहयोग कई लेखकों का, सद्भाग्य से, मिल गया था। मगर पत्र मेरे चलाये चल नहीं सका। न तो उपयुक्त क्षेत्र था, और न साधन, न अनुभव। जैसे-तैसे ११ अंक निकालने के बाद मेरे सामने आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। मेरे कुछ मित्रों ने इस 'अव्यापारेषु व्यापार' में पड़ने से मुझे रोका भी था। फिर भी मैंने हाथ आग में डाल दिया। अपनी भावना या सनक को पवित्र बनाये रखने के लिए विज्ञापन भी नहीं लिये। हर मास केवल काग़ज़, छपाई और डाक इत्यादि का खर्च सौ रुपये से ऊपर आता था। ग्राहक सिर्फ १६० बन सके थे। पास में अब एक भी पैसा नहीं था। अपनी फूल की झोंपड़ी को भी फूँककर दो दिन तमाशा देख लिया। मैंने हृदयस्पर्शी अपीलें भी निकालीं, पर सब अरण्य-रोदन था। जैसे-तैसे एक-दो जगह से क़र्ज़ लेकर चार अंक और निकाले। क़र्ज़ को बाद में ब्योहारजी ने पटाया। अपनी प्यारी

हसरत को अपनी आँखों के आगे, अपने ही हाथों, मैंने बुरी तरह मसल दिया। मेरे प्यारे 'पतित-बन्धु' की एक वर्ष के भीतर ही अकाल-मृत्यु होगई।

उधर शिक्षा-विभाग का कार्य भी अब निर्बाध रूप से चलाना मेरे लिए कठिन होगया। राज्य को मेरा वहाँ रहना भी वांछनीय नहीं लगा। फलतः १६३२ के अगस्त में फिर इलाहाबाद आगया। किन्तु पन्ना के निवास-काल के जो एक-दो संस्मरण रह गये हैं, उन्हें अगले प्रकरण में देकर आगे बढ़ूँगा।

: २७ :

एक-दो प्रसंग और

पन्ना के एक-दो प्रसंग और देना चाहता हूँ। न दूँ तो पन्ना राज्य के मेरे निवास की कहानी शायद अधूरी ही रह जायेगी।

सन् १९३० की बात है। ब्रिटिश भारत में सत्याग्रह खूब वेग से चल रहा था। बुन्देलखण्ड की रियासतों में भी इस आग की लपटें पहुँचीं। रेल और अखबारों से दूर इन अँधेरे कुओं की प्रजा के बीच तरह-तरह की अफ़वाहें फैलीं—जैसे, अंग्रेज़ अपने बँधने-बोरिये ले-लेकर भाग रहे हैं; कलकत्ते पर महात्मा गांधी का कब्जा हो गया है; जगह-जगह लूट-मार मच रही है, वग़ैरह, वग़ैरह। परिस्थिति से अनुचित लाभ उठानेवाले अप्रमाणित नेता जहाँ तहाँ उठ खड़े हुए। उनमें बहुत-से पेशेवर डाकू भी जा मिले। तीन-चार रियासतों में 'स्वराज' के नाम पर कई वारदातें हुईं। एक गिरोह ने तो यह भी सोचा कि काश्तकारों को डरा-धमकाकर लगान भी वसूल किया जाये। रियासतों की पुलिस व फौज के साथ मुठभेड़ होने और गोली चल जाने का भी अन्देशा था, जिसमें सैंकड़ों निरपराध आदमी मारे जाते। पन्ना राज्य की एक तहसील में एक बहुत बड़ी सभा करने का उन लोगों ने आयोजन किया था। वहाँ भारी उपद्रव हो जाने की आशंका थी। ईश्वर

को धन्यवाद कि रक्तपात होते-होते बच गया। ऐन मौक़े पर महाराजा साहब के मँझले भाई श्रीराघवेन्द्रसिंहजी की नेक सलाह व दूरंदेशी काम कर गई। उन्होंने रात के ग्यारह बजे मुझे बुलाया और कहा—"वियोगीजी, मेरे पास पवई के तहसीलदार ने जो रिपोर्ट भेजी है अगर वह सच है तो भयंकर है। कल शाम को वे लोग वहाँ बहुत बड़ी सभा करने-वाले हैं। गैरजिम्मेदार आदमियों ने रिआया को काफ़ी भड़काया और डराया-धमकाया है। मगर मैं चाहता हूँ कि सभा उनकी होने दी जाये और पुलिस उसमें दस्तन्दाज़ी न करे। मैंने सोचा है कि आप वहाँ चले जायें, और उन नासमझ मुखियों को एक बार अच्छी तरह समझायें।"

मैं उस आन्दोलन के बारे में सुन चुका था। उनमें कोई जिम्मेदार मुखिया नहीं था, जो प्रजा की माँगों को ठीक तरह से राज्य के सामने रख सके। वे लोग तो केवल गड़बड़ी फैलाकर उस परिस्थिति से बेजा फायदा उठाना चाहते थे। फिर भी मुझे सन्देह हुआ कि मैं राज्य के हाथ का औजार तो नहीं बनाया जा रहा हूँ। माना कि वे लोग ग़लत रास्ते पर जा रहे हैं, पर इन बेहद पिछड़े हुए राज्यों में इतनी-सी भी जन-जाग्रति का होना बुरा नहीं है। मैं अपने मन में उस आन्दोलन का बलाबल तोलने लगा। काफ़ी सोच-विचार के बाद मैंने कहा—"जाने को तो मैं तैयार हूँ, पर क्या आप भी मुझे यह आश्वासन देने के लिए तैयार हैं कि यदि प्रजा की कोई उचित माँग वहाँ उपस्थित की गई, तो राज्य उसपर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगा? अगर उनमें से कुछ जिम्मेदार आदमी शान्तिपूर्वक प्रजा की उचित माँग व मत का प्रति-

निश्चित्व करें, और मैं उन्हें विश्वास दिलादूँ कि उनकी आवाज़ सुनी जायेगी, तो बाद को राज्य की ओर से उनके साथ विश्वासघात तो नहीं किया जायेगा ? अगर ऐसा हुआ तो मेरे लिए तो मरण ही हो जायेगा।"

"नहीं, ऐसा नहीं होगा। दूसरे राज्यों की तो मैं नहीं कह सकता, पर अपने पन्ना की तरफ़ से ऐसी कोई बात नहीं होगी। आप ज़रूर जाइए।"

मैं रात को ही वहाँ पहुँच गया। पुलिस सुपरिंटेंडेंट भी अपने दल-बल के साथ पहुँच गये थे, पर वे सभा-स्थल पर नहीं गये। सभा में आठ हज़ार से कम आदमी नहीं थे। ठाकुरों की भी काफ़ी बड़ी संख्या थी, और लगभग सभी हथियारबन्द थे। प्रधान नेता उनका एक ब्राह्मण था। किन्तु दृश्य वह सभा के जैसा नहीं था। मगर लोगों में उत्साह खूब था। मेला-सा मालूम देता था। कोई डफली बजा रहा था, कोई ढोलक। कोई भजन गा रहे थे, तो कोई क़िस्से-कहानियाँ सुना रहे थे। नारे भी नये-नये लगा रहे थे। खूब शोरगुल हो रहा था। लोगों को शायद यह भी पता नहीं था कि वे वहाँ किसलिए इकट्ठे हुए हैं। पर सबके दिलों में एक कुतूहल था। मैं अचानक ही उनके बीच में पहुँचा। मुझे पहले से उनके तीन-चार मुखिये पहचानते थे। उन लोगों ने मेरा स्वागत किया, और सबको परिचय दिया। लोगों के चेहरों पर मुझे कुछ ऐसा नहीं दिखाई दिया कि वे कोई विद्रोह करने के लिए आये थे। लेकिन, अगर पुलिस वहाँ हस्तक्षेप कर बैठती तो ज़रूर उपद्रव हो जाता, दोनों तरफ़ से गोली भी चल

जाली। मैंने मुखियों से काफ़ी देरतक बातें कीं। पड़ोस के एक राज्य के खिलाफ़ उनकी कई शिकायतें थीं। पर इस बात को वे भी अनुभव कर रहे थे कि उनका संगठन बिल्कुल कमज़ोर है, और उनके साथ कुछ डाकू भी शामिल होगये हैं। अपने आन्दोलन की सफलता पर उन्हें खुद भी पूरा सन्देह था। कोई किसीकी नहीं सुन रहा था। मैंने सलाह दी कि उन्हें सबसे पहले अपना संगठन करना चाहिए। मैंने सुझाया कि आप लोग अपने कुछ अच्छे प्रतिनिधि चुनलें, और प्रजा की जो शिकायतें और उचित माँगें हों उन्हें जल्द-से-जल्द भेजवादें। इस बात का ध्यान रखा जाये कि कहीं भी किसी प्रकार का उपद्रव न होने दें। मैंने एक घंटा भाषण भी दिया। लोगों ने मेरी बातें शान्ति-पूर्वक सुनीं भी। मेरे भाषण के बाद वहीं पर प्रतिनिधियों का चुनाव हुआ और यह निश्चय हुआ कि प्रतिनिधि-मण्डल की ओर से प्रजा की माँगों के निवेदन-पत्र जल्द-से-जल्द पन्ना तथा अजयगढ़-दरबार को भेजे जायें। सभा बड़ी शान्ति से समाप्त हुई। मुझे इस बात का तो सन्तोष रहा कि उपद्रव होने की नौबत नहीं आई, पर ऐसा लगा कि मेरे सिर पर जैसे बहुत बड़ी जिम्मेदारी आपड़ी हो। उनकी एक-दो माँगें पूरी हो सकती थीं, मगर अफसोस, उनकी तरफ़ से कोई माँग आई ही नहीं। सब अपने-अपने घर बैठ गये। यह सुनकर कि अंग्रेज़ों के भाग जाने की कोई आशा नहीं और अंग्रेज़ी फ़ौजों ने एक-दो जगह गोली भी चलाई है, हथियारबन्द नेताओं या डाकुओं के भी हौसले पस्त होगये। दूसरे नेता भी, जो वहाँ चुने गये थे, बुज़दिल ही निकले। मुझे उनकी ढिलाई पर बड़ा दुःख हुआ। एक का तो यहाँतक पतन

हुआ कि उलटे प्रजा के विरुद्ध झूठी शिकायतें अधिकारियों के पास पहुँचाने लगा। अधिकारियों ने ऊपर से तो मुझे शाबाशी दी, पर अन्दर-अन्दर जलने लगे—इस बात पर कि सभा में मेरी सलाह को लोगों ने माना है, तब यह भी सम्भव है कि मेरे कहने से किसी दिन ये शान्तिभंग भी कर बैठें! यह विचित्र अर्थ लगाया जायेगा, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। देशी राज्यों की राजनीति कहाँ-से-कहाँ जाती है!

अब थोड़ा शिकार के सम्बन्ध में। पाठक इससे चौंक न जायें। मेरा आशय शिकार खेलने से नहीं, बल्कि शिकार देखने से है। पन्ना-महाराज के साथ मैं अक्सर शिकार में जाया करता था। खाकी कपड़े पहनकर मचान पर बैठता, शेर के हाँकों में जाता, और शिकार की मनोरंजक कहानियाँ सुनने में खूब रस लिया करता था। बन्दूक भी चलाता था, पर किसी पशु-पक्षी पर नहीं। केवल निशाना लगाने का शौक़ था। आहत पशुओं का तड़पना देख-देखकर हिंसा के प्रति यद्यपि मन में काफ़ी घृणा पैदा होती थी, फिर भी सबके साथ शिकार में जाना प्रिय लगता था। संसर्ग-दोष पूरा असर कर गया था।

बारहसिंगा, रोज, सुअर, चीता, तेंदुआ, लकड़बग्घा आदि जानवरों के विषय की धीरे-धीरे मुझे काफ़ी जानकारी होगई थी। शिकारी व बनरखे एक-एक जानवर के बारे में बड़ी मनोरंजक बातें सुनाया करते थे। पर सबसे अधिक आनन्द तो शेर की शिकार में आया करता था। जेठ की आग उगलनेवाली दोपहरी भी शीतल प्रतीत होती थी, जब हम लोग शेर का पता पाकर विकट जंगलों को चीरते हुए कोसों पैदल

भागते थे, झाड़ियाँ पकड़-पकड़कर पहाड़ियों पर चढ़ते और उतरते थे। एकसाथ छह-छह, सात-सात शेरों का झुण्ड जब मचान के पास से गुज़रता हुआ देखते तो हमारी खुशी का पार न रहता।

मचान पर बैठनेवाले हथियारबन्द शिकारी हमेशा सुरक्षित रहते थे, जान तो जोखिम में गरीब हाँकेवालों की रहती थी। घायल जानवर अक्सर उन बेचारों पर हमला भी बुरी तरह कर बैठता था। मचान पर बैठकर शिकार खेलना कोई ऐसी वीरता का द्योतक नहीं, जिसपर गर्व किया जा सके, मगर चाटुकार सरदार और दरबारी कवि ऐसे लुका-छिपी के शिकारों का भी बड़ा अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते थे। कुछ दिनों बाद मेरा मन अन्दर-अन्दर ऐसे शिकारों के खिलाफ़ विद्रोह करने लगा। 'वीर-सतसई' में के नीचेलिखे दोहे लिखने की प्रेरणा ऐसे ही क्षोभोत्पादक दृश्यों ने मुझे दी थी:—

लुकि-छिपि छरछन्दनि अरे,
खेलत कहा शिकार!
जियत बाघ की पीठ पै,
क्यों न होत असवार?
लुकि-छिपि बैठि मचान पै,
करत मृगन पै वार;
जियत सिंह की मूँछ कौ,
क्यों न उखारत वार?

कभी-कभी तो ग़रीब रिआया का ही शिकार होता था। बेचारों पर आफ़त आ जाती थी। घर का सारा काम-काज छोड़-छोड़कर हाँकों में

जाना पड़ता था। मजदूरी नाम-मात्र को मिलती थी। पूस-माघ की लम्बी हड़कम्प रातें उन्हें मैदान में बैठे-बैठे काटनी पड़ती थीं और जेठ-बैशाख की तेज लूवें उनके सिर पर जाती थीं; हाँके में कोई-कोई जान से भी हाथ धो बैठते थे।

हिंसा-अहिंसा की बात को थोड़ी देर के लिए मैं छोड़ देता हूँ। पर मुझे तो यों भी शिकार एक दुर्व्यसन के रूप में ही दिखाई दिया। मैं जानता हूँ कि शिकार के पक्ष में काफ़ी कहा जा सकता है, किन्तु देशी राज्यों में तो यह व्यसन हर तरह से अभिशापरूप ही सिद्ध हुआ है। पन्ना में तो फिर भी ग़नीमत थी, दूसरे कई देशी राज्यों की प्रजा तो राजाओं के इस दुर्व्यसन के कारण काफ़ी तबाह हुई है। पर मैं इतना जरूर कहूँगा कि शिकार के दृश्यों व अनुभवों ने अप्रत्यक्ष रूप से मुझे करुणा या अहिंसा का भक्त बनने में मदद दी। साथ ही, कुछ प्रत्यक्ष रूप में भी लाभ हुआ। बिना डरे हिम्मत के साथ कठिन रास्ता पकड़ना शिकार की उन विकट किन्तु रोचक यात्राओं ने ही शायद मुझे सिखाया। अपने दौरों में जान-बूझकर बीहड़ रास्तों से जाना मुझे प्रिय लगता था। पर एक बार ऐसे दुस्साहस की सज़ा भी मिली थी।

जहाँतक मुझे स्मरण है, सन् १९२१ के माघ का महीना था। स्थान का नाम याद नहीं आरहा है। महाराजा तथा नन्हे राजा पड़ाव पर चार-पाँच घण्टे पहले पहुँच चुके थे। मुझे बीच में एक जगह कुछ काम था, इसलिए रात के दस वहीं बज गये। रात को मुझे वहीं ठहर जाने की सलाह दी गई। ड्राइवर भी हिचकिचा रहा था। साथ में जो सिपाही था वह भी अलसा रहा था। मगर मैं तो रात को ही पड़ाव

पर पहुँच जाना चाहता था। रात अँधेरी थी। सड़क भी पक्की नहीं थी। कच्चा रास्ता जंगल में होकर जाता था। लोगों की सलाह पर ध्यान न देकर मैं साढ़े दस बजे वहाँ से चल दिया। पड़ाव वहाँ से लगभग बीस मील था। कोई १८ मील तो हम लोग मज़े में निकल गये, आगे गड़बड़ी में पड़ गये। भ्रम हुआ कि वहाँ से रास्ता फट गया है। पठार का उतार था वह। वहाँ से पड़ाव की रोशनी साफ़ नज़र आरही थी। हमने ग़लत रास्ते को पकड़ लिया था। मुश्किल से पचास क़दम चले कि हमारी मोटर बहककर बग़ल के एक गड़े में जा गिरी। ड्राइवर को ईश्वर ने बचाया, छाती में धक्के से मामूली-सी चोट आई। मैं ड्राइवर के बराबर बैठा था। शीशे के फ्रेम से बुरी तरह टकराया। नाक पर चोट आई; बाँसा बाल-बाल बचा, जो मर्म-स्थान था। नाक से खून की धार लग गई। पर मैं बेहोश नहीं हुआ। मोटर को वहीं छोड़कर हम तीनों आदमी जैसे-तैसे रात को कोई एक बजे पड़ाव पर पहुँचे। खून मेरा बन्द नहीं होरहा था। प्यास से गला बिल्कुल सूख गया था। मुँह से बोला भी नहीं जाता था। रात बड़े कष्ट में कटी। अच्छा होने में एक हफ्ते से ऊपर ही लगा। फिर भी ऐसी दुस्साहसपूर्ण यात्राओं से मैं भयभीत नहीं हुआ।

: २८ :

तीसरा पड़ाव

१९३२ के सितम्बर मास में मैने पन्ना छोड़ देने का अंतिम निश्चय कर लिया। मन को शान्ति नहीं मिल रही थी। अशान्त चित्त का भार लेकर मैं वहाँ के अननुकूल वातावरण में आखिर कबतक बैठा रहता! तैयारी तो मुझे कुछ करनी नहीं थी। सामान के नाते मेरे पास केवल पुस्तकें थीं। उनमें से बहुत सारी स्थानीय पुस्तकालय को देदी थीं। मेरे पास थोड़ी ही गिनी-चुनी बची थीं। सो उनका मुझे कोई ऐसा खास मोह नहीं था।

माँ तथा ममेरे भाई को छतरपुर भेज दिया। चिन्ता अब केवल तीन-चार साथियों की थी। स्थानीय अनाथालय के व्यवस्थापक पं० रामाधार तथा अछूत-पाठशाला के अध्यापक श्रीप्रभुदयाल के बारे में मुझे सोचना था। दो छोटे-छोटे अनाश्रय बच्चे भी थे—मंगलसिंह और उसकी बहिन सुकीर्ति, जिन्हें मेरी सलाह से रामाधारजी ने स्नेहपूर्वक रखा था। रामाधारजी को तो मैंने अपने साथ रखने का तय किया, और सुकीर्ति को प्रयाग के महिला-विद्यापीठ में दाखिल करा दिया। चार महीने के बाद मंगलसिंह को भी दिल्ली बुला लिया। और कोई

छह महीने बाद श्रीप्रभुदयाल को भी पन्ना से हटाकर दिल्ली की साँसी-बस्ती में बिठा दिया। प्रभुदयाल ने निष्ठा, त्याग और लगन के साथ हरिजनों की सेवा की। मंगलसिंह कुछ काल मेरे साथ रहा; बाद को उद्योगशाला में बढ़ई का काम सीखा, और फिर शाला में ही शिक्षण-कार्य करने लगा। सुकीर्ति को तो मैंने लड़की के समान ही मान लिया था। दुःख है कि आज सुकीर्ति इस संसार में नहीं है।

दो शब्द रामाधारजी के विषय में। महोवे से आकर इन्होंने पन्ना में एक अनाथालय खोला था। कुछ तो बाज़ार से चन्दा कर लेते थे, और कुछ मासिक सहायता राज्य से मिल जाती थी। अनाथ बच्चों की अच्छी सेवा करते थे। मेरे यहाँ अक्सर आना-जाना रहता था। विचार आर्यसमाजी थे, पर बहुत कट्टर नहीं। धुन के पक्के, स्वभाव के चिड़-चिड़े व ज़िद्दी, मगर वफ़ादार। यों क्रोधी, लेकिन मेरी डाँट-दपट को हमेशा सहन किया। मैंने बहुत समझाया कि अनाथालय को चलाया है तो उसे छोड़कर जाना उचित नहीं। मगर मेरी सुनी नहीं। मेरे साथ इलाहाबाद रहना ही मुनासिब समझा। शुरू-शुरू में एक साल दिल्ली में भी रामाधारजी मेरे साथ रहे थे, फिर घर चले गये।

मोहन-निवास से मैं खुशी-खुशी बिदा नहीं हुआ। मोहन-निवास के साथ मैंने इतना घरेलू सम्बन्ध जोड़ लिया था कि उसे व्यक्त नहीं कर सकता। नन्हे राजा और उनकी पत्नी के निश्छल स्नेह को मैं कभी भूल नहीं सकता। उनकी धर्म-पत्नी को मैंने अपनी बहिन माना

और उनमें बहिन का पूरा स्नेह पाया। बहिन के स्वाभाविक प्रेम की तुलना किससे की जाये? आश्चर्य होता है कि कवियों और कलाकारों ने इस पवित्रतम प्रेम की क्यों इतनी उपेक्षा की! मैं स्पष्टतः अनुभव करता हूँ कि यह सुरसरि-धारा 'करुणा' का ही दूसरा रूप है। अद्भुत और दुःखद है कि हमारा कवि-कुल प्रेम की उष्ण धारा में ही अपनी मधुमयी कल्पना को डुबाये रहा, उसकी शीतल धारा का उसने हमें स्पर्श भी न कराया! भीगी आँखों और भरे हुए गले से मैंने उस दिन मोहन-निवास से अन्तिम विदा ली। उस दिन के उस करुण-दृश्य को मैं आज भी नहीं भूल पाया हूँ।

इलाहाबाद न जाकर मैं पहले जबलपुर गया। वहाँ "पतित-बन्धु" की छपाई व कागज़ के बिल चुकता करने थे, और ग्राहकों को पत्र बन्द करने की दुःखसूचक सूचना भी देनी थी। इसमें मेरे दस-बारह दिन लग गये। वहाँ से सुहृद्वर पं० माखनलालजी के प्रेम-पूर्ण आग्रह से तीन चार दिन के लिए मुझे बेतूल जाना पड़ा। बेतूल में २६ सितम्बर को पहुँचा, जिस दिन गांधीजी ने अपना इतिहास-प्रसिद्ध—१९३२ का आमरण अनशन तोड़ा था। मेरे सहृदय मित्र पं० माखनलालजी तथा श्रीदीपचन्द गोठी चाहते थे कि मैं वहीं बैठ जाऊँ, और साहित्यिक कार्य के साथ-साथ कुछ रचनात्मक कार्य भी करूँ। बेतूल के पास एक सुन्दर स्थान भी उनकी दृष्टि में था। पाँच-सात महीने पूर्व जब मैं पहले-पहल बेतूल गया था, तब यह विचार मेरे सामने आया था। मेरा मन उस सुरम्य स्थान को देखकर पहले तो कुछ ललचाया, पर हिन्दी-विद्यापीठ के पूर्व सम्बन्ध ने, पवित्र आकर्षण ने बेतूल में बैठने

की मुझे अनुज्ञा नहीं दी। विद्यापीठ का स्नेह बार-बार मुझे अपनी ओर खींच रहा था।

साढ़े छह वर्ष बाद मैं फिर उसी स्थान पर आगया—जमना का वही रेतीला तट, पागल राजा की वही कोठी, वही बारहदरी, अमरूदों का वही बाग और वही हमारी प्यारी किश्ती। पर विद्यार्थी वे नहीं थे, जिन्हें मैं छोड़कर गया था। दस या बारह विद्यार्थी अब वहाँ रहते थे, जो सभी नये थे। वहाँ पहुँचने पर ऐसा लगा कि मैं साढ़े छह वर्ष-तक जैसे राजसिक अन्तरिक्ष में स्वप्न-विचरण करता रहा—आँख खुली तो मैंने अपने को उसी पूर्व स्थान पर पाया, जहाँ मोह-निद्रा ने मेरी चेतना के पलकों को बिना जताये गिरा दिया था। धीरे-धीरे मोहक स्वप्न की उन झलकों और झाँकियों को मैं अब भूलने लगा।

श्रद्धेय टंडनजी उन दिनों गोंडा के जेल में बन्द थे। उनसे जेल में जाकर मिला, तो मुझे यह सलाह दी कि विद्यापीठ के अपने उसी पुराने काम को फिर हाथ में लेलूँ, और साथ-साथ साहित्य-सेवा भी करता रहूँ। किन्तु मेरे सिर पर तो "पतित-बन्धु" के पुनर्प्रकाशन की धुन सवार थी। अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन का सूत्रपात हुए दस-बारह दिन ही हुए थे। मेरा मन इसी प्रवृत्ति की ओर जारहा था। गोंडा-जेल से लौटकर गांधीजी को पत्र लिखा। अस्पृश्यता-निवारण के विषय पर बातचीत करने के लिए गांधीजी से जेल में मिलने की आज्ञा उन दिनों हर किसीको मिल जाती थी। मैंने "पतित-बन्धु" के प्रकाशन के बारे में खासकर पूछा था। जवाब तुरन्त मिला।

"मुझे तो टंडनजी की सूचना अच्छी लगती है। साहित्य और

भाषा-सेवा तुम्हारा कार्यक्षेत्र रहा है, और यह करते हुए हरिजन-सेवा भी होसके तो उसमें सब कुछ आ जाता है। 'पतित-बन्धु' के पुनरुद्धार करने की कोई आवश्यकता मैं नहीं देखता। अपने बर्ताव से तुम ज्यादा प्रचार कर सकते हो। मिलना चाहो तो अवश्य आसकते हो।"

यरवडा-जेल में गांधीजी से जाकर मिला। अपनी सारी विचार धारा, मैंने देखा, अस्पृश्यता-निवारण के प्रश्न पर ही गांधीजी ने केन्द्रित कर रखी थी। दूसरे किसी भी विषय पर चर्चा नहीं करते थे। जेल के अंदर पूरा दफ्तर चल रहा था। मुझे अब कुछ पूछना नहीं था। मैं तो केवल दर्शन करने की इच्छा से गया था। सो वह पूरी होगई। पत्र में जो लिखा था उसीपर चलने की मुझे सलाह दी। कहा—"साहित्य-सेवा के द्वारा भी दलित-सेवा हो सकती है। फिर तुम्हें तो विद्यापीठ-जैसी संस्था भी मिल गई है। वहाँ बैठकर अस्पृश्यता निवारण की प्रवृत्ति में भी तुम योग दे सकते हो।"

इलाहाबाद पाँच-सात दिन बाद पहुँचा ही था कि श्रीघनश्यामदास बिड़ला का तार मिला। मुझे तुरन्त दिल्ली बुलाया था। दिल्ली में बिड़लाजी से मिलकर मालूम हुआ कि अस्पृश्यता-निवारक-संघ (अब हरिजन-सेवक-संघ) की संरक्षता में अंग्रेजी साप्ताहिक 'हरिजन' के साथ-साथ हिन्दी में भी एक साप्ताहिक पत्र निकालने का निश्चय किया गया है और उसका संपादन-कार्य वह मुझे सौंपना चाहते हैं। यह कार्य मुझे कठिन मालूम दिया, पर इस विचार से कि प्रस्तावित पत्र के द्वारा हरिजन-सेवा करने का अधिक-से-अधिक अवसर मिलेगा, मैंने हामी भरली। टंडनजी ने दिल्ली में ज्यादा-से-ज्यादा छह महीने रहने

की ही सलाह दी थी। यह पंद्रहवाँ साल है--फिर भी अभी छह महीने पूरे नहीं हुए!

१९३२ के १९ नवंबर को मैं हरिजन-सेवक-संघ में आगया। मेरी जीवन-यात्रा का यह तीसरा पड़ाव था।

जीवन-कहानी के क्रम को यहाँ से मैं कुछ तोड़ना या मोड़ना चाहता हूँ। पाठक इस मोड़ को विषयान्तर कहना चाहें तो भले ही कहें। मुझे ऐसा लगता है कि हरिजन-सेवा-विषयक प्रकरणों में प्रवेश करने से पूर्व मैं उन संस्मरणों को लिखूँ, जो धर्म-दर्शन और तत्त्व-चिन्तन से सम्बन्ध रखते हैं, यद्यपि इस दिशा में मेरे अबतक के टूटे-फूटे प्रयत्न प्रायः विफल ही रहे हैं। इसके लिए मुझे मुड़कर ठेठ अपने बचपनतक जाना पड़ेगा। उसी तरह, जैसे कोई अपनी वस्तु खोजाने पर उसे खोजने के लिए उलटकर ठेठ वहाँतक जाता है, जहाँ से कि वह चला था, पर जब वह खोई वस्तु हाथ नहीं लगती, वह फिर वहीं-का-वहीं लौट आता है। हकीकत को वह जानता है, फिर भी उसकी याद और खोज में उसे सांत्वना मिलती है। ठीक वैसी ही दशा मेरी भी है।

: २६ :

धर्म-परिचय कहूँ ?

मेरा जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें धर्मतत्त्व का परिचय करानेवाला शास्त्री तो क्या कोई साधारण पढ़ा-लिखा भी नहीं था। इस बात का पता तो बाद को चला कि धर्म की कितनी विविध व्याख्याएँ हुई हैं; और जगत् में न जाने कितने अलग-अलग विश्वास हैं। आज देखता हूँ कि शिक्षितों का परिचय धर्म से जिस प्रकार का होता है, 'साधकों' का धर्म उससे भिन्न होता है, और सामान्य जनता का बिल्कुल तीसरे प्रकार का। रूढ़िगत विचार जहाँ निश्चयपूर्वक घातक समझे जाते हैं, वहाँ कई बद्धमूल विश्वास करोड़ों के लिए जीवन-प्रवर्तक और शान्तिप्रद भी सिद्ध हुए हैं। बुद्धिवादी वर्ग जहाँतक प्रगति कर गया है उस सीमा पर खड़े होकर देखा, तो ऐसा लगा कि विश्लेषण करते-करते इस वर्ग का जैसे अपने आप में भी विश्वास नहीं रहा है—तर्कवाद से यह समुदाय खुद भी घबराया हुआ-सा है, पर अभागा उससे मुक्ति पाने में असमर्थ है। फिर ऊँची धर्म-शोधों के लिए आज कौन गहरे उतरते हैं ? जीवन का तात्त्विक परीक्षण कितनों के बस का है ? किन्तु सामान्य जन आज भी धर्म को अन्धे की लकड़ी की तरह

पकड़े हुए हैं। ऐसे ही एक घर में मेरा जन्म हुआ, और वहीं मैं बड़ा हुआ, जहाँ पूछने पर धर्म-तत्त्व का न कोई अर्थ बतला सकता था, और न किसीने धर्म की कभी गहरी साधना ही की थी। वर्षा के बाद जैसे भूमि जल को अपने अंतर में सोख लेती है, उसी तरह धर्म के कितने ही तत्त्व, अज्ञात रूप से, जनसाधारण के जीवन में प्रविष्ट होगये हैं, जो ऊपर से दिखते नहीं, जिनका तर्क द्वारा पर्यवेक्षण लगभग अशक्य-सा होगया है। श्रद्धा को छोड़कर करोड़ों का कोई दूसरा बल या सहारा है ही नहीं। इस श्रद्धा की ही बदौलत उनका जीवन-रस एकदम सूखने नहीं पाया। राम का नाम, गंगा का जल, सन्तों की वाणी—ये सब आज भी उनके लिए तारक हैं। इनके सहारे अपनी मामूली जीवन-यात्रा वे ठीक ही चला लेजाते हैं। कहने का यह आशय नहीं कि इस प्रकार की सामान्य जीवन-यात्रा को मिथ्याचार कलुषित नहीं करता। तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि करोड़ों के इस सामान्य धर्म-श्रद्धा के सहारे चलनेवाले सांसारिक जीवन में ईमानदारी से देखा जाये, तो उतना मिथ्यात्त्व या दम्भ नहीं दिखता, जितना कि धर्म को अभिमान-पूर्वक ठुकरा देनेवाले तथाकथित सुसंस्कृत जीवन में देखा गया है। सचमुच उतना लोभ, उतना मोह, उतना असत्य साधारण धर्मभीरु प्रजा में कहाँ देखने में आता है?

हमारे घर में बालमुकुन्द और सालिगराम की नित्य नियम से पूजा होती थी। पूजा कभी मेरे नाना करते थे और कभी मामा। भोग नित्य आठ-दस बतालों या चिरौंजी-दानों का लगता था। प्रसाद के लोभ से मैं शान्तिपूर्वक पूजा की समाप्तितक वहीं बैठा रहता। 'शान्ताकारं भुजग-

शयनम्' श्लोक मुझे कण्ठ करा दिया था। पीछे मेरे नाना ने 'रामरक्षा स्तोत्र' रटा दिया। हमारे पड़ोसी लाला चिन्ताहरण नित्य पार्थिव शिवलिंग बनाकर पूजा किया करते थे और उच्चस्वर से महिम्नस्तोत्र का पाठ। उनकी यह शिव-अर्चा भी मैं ध्यान से देखा करता। मेरे नाना छुटपन से ही मुझे धनुषधारीजी तथा बिहारीजी के मन्दिरों में दर्शन कराने अपने साथ लेजाया करते थे। रावसागर पर वैरागियों की बड़ी-बड़ी जमातें आकर पड़ाव डालती थीं। जमातों का दर्शन करने नर-नारियों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। वैरागियों की सन्ध्या-आरती में मुझे बड़ा आनन्द आता था। प्रसाद भी वहाँ खूब अच्छा मिलता था।

कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव छतरपुर के मोहल्ले-मोहल्ले में मनाया जाता था। अष्टमी को झाँकी मैं बड़े चाव से सजाया करता था। बचपन के उस उछाह का मैं वर्णन नहीं कर सकता। कभी कीर्तन होता था, कभी रासलीला। दर्शनार्थियों का रात के बारह बजेतक ताँता लगा रहता था।

जब कुछ बड़ा हुआ, तो हनुमानजी के मन्दिर में जाने लगा। 'हनुमान-चालीसा' और 'हनुमान-बाहुक' का पाठ भक्ति-भाव से किया करता। चैत और क्वार के नवरात्र में रामायण के कई नवाह्न-पारायण भी किये थे। पर तब मेरी आयु चौदह-पन्द्रह साल की थी। जब नौ-दस वर्ष का था, तब रामलीला के राम-लछमण मेरी दृष्टि में सचमुच के राम-लछमण होते थे। मेरी यही भावना रासलीला में भी रहा करती थी। 'माखन-चोरी' की लीला मुझे कितनी प्रिय लगती थी। "मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो'—यह सुन्दर पद आज भी मेरे

कानों में वैसा ही गूँज रहा है। बारह-तेरह वर्ष की उम्रतक मेरे मन में कभी कोई शंका नहीं उठी। शंका उत्पन्न होने का कोई ऐसा कारण भी सामने नहीं आया था। मैं नहीं जानता कि वह मेरी धर्म-भावना थी या क्या थी; जो भी हो, मेरी वह भावना या बाल-भावुकता निःसंशय थी, और अपने आप में सम्पूर्ण थी। मेरी आज की इस 'ज्ञानावस्था' की अपेक्षा—मैं जानता हूँ कि यह शब्द-प्रयोग सही नहीं है—तब की वह अज्ञानावस्था कहीं अधिक आनन्ददायिनी थी। किन्तु बाल्यावस्था सदा कहाँ रहनेवाली थी? आज न अपने पास निश्चयात्मक बोध है और न वह बचपन का सरल अबोधपन। भोली भावना का खिलौना हाथ से छिन गया और अधूरी जानकारी का ठीकरा थमा दिया गया। मगर कुढ़ने से अब क्या होता है? नव प्रभात का वह सुनहला किरण-जाल अब लौटने का नहीं।

मूर्ति-पूजा और अवतारवाद के विरोध में जब पहले-पहल छतरपुर में एक भाषण सुना तो बड़ा बुरा लगा। वक्ता के तर्कों का काटना कठिन था। सुनकर दुःख ही हो सकता था। उन्हीं दिनों सनातनधर्म के प्रसिद्ध उपदेशक पंडित कालूराम शास्त्री आये हुए थे। उनके व्याख्यानों की बड़ी धूम थी। मूर्ति-पूजा के विरुद्ध जिन सज्जन ने भाषण दिया था वे छतरपुर के ही थे। संस्कृत के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। नाम उनका पंडित रामदयालु ज्योतिषी था। कालूराम शास्त्री कोई बड़े विद्वान् नहीं थे। किन्तु आर्यसमाजियों को गालियाँ देने में बड़े पटु थे। शास्त्रीजी से प्रेरणा पाकर स्थानीय पंडितों ने रामदयालु ज्योतिषी पर मान-हानि का मामला चला दिया। आरोपियों की तरफ़ से

मैंने भी गवाही दी थी, यद्यपि उम्र मेरी तब मुश्किल से चौदह वर्ष की रही होगी। आज अपने उस अज्ञानपन पर हँसी ही आती है। विद्वान् वक्ता ने इतना ही तो अपने भाषण में कहा था कि, "ईश्वर पूर्ण है, अखण्ड है, जब कि मूर्ति को खण्ड-खण्ड किया जा सकता है।" आर्य-समाज का तब मैंने नाम भी नहीं सुना था। इलाहाबाद में जब आर्य-समाज से परिचय हुआ, तब भी उसके बहुत से खंडनात्मक विचारों से मैं असहमत ही रहा। सनातनधर्मियों की भी खंडनात्मक प्रवृत्ति कभी अच्छी नहीं लगी। संभव है कि इस अरुचि का कारण मेरी तर्क-दुर्बलता हो। वाद-विवाद में उतरने से मैं हमेशा डरता व झेंपता-सा रहा।

इस खंडनात्मक भाषण ने, फिर भी, मेरी सरल भावना के अन्दर एक महीन दरार डाल ही दी। उस दरार में से संशय-कीट भीतर घुस गया। दुर्भाग्य से एक पुस्तक भी हाथ में पड़ गई, जिसमें खंडन-मंडन किया गया था। मैं उसे पढ़कर अधिक समझ नहीं सका, पर मेरी कोमल श्रद्धा को झकझोरने के लिए उतना ही काफ़ी था। मगर रामायण पढ़ने का शौक़ लग गया था, इसलिए मैं बहुत डगमगाया नहीं। एक बार तो कीटाणु नष्ट होगये। भीतर का मामूली-सा संघर्ष अपने आप वहीं दब गया। तुलसीकृत रामायण का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आज भी, जब कि मेरी विचार-धारा अनिश्चित-सी ही है, रामायण से—क्षण-भर के लिए ही सही, संतुष्टि और शान्ति मिल जाती है। रामायण का अर्थ तब बहुत ही कम समझ में आता था। घर में तो खुले पत्रों की रामायण थी, उसपर वह बाबा रामचरणदास की टीका थी। भाषा टीका की अवधी थी, शैली भी क्लिष्ट। एक दूसरी टीका देखकर अर्थ

लगाया करता था, जिसका नाम मुझे स्मरण नहीं आरहा। किन्तु अर्थ से भी अधिक रामायण के गाने में आनन्द आता था। कितनी ही सुन्दर चौपाइयाँ कण्ठ करली थीं। अयोध्याकाण्ड और उत्तरकाण्ड का अपूर्व रसास्वादन तो बहुत पीछे किया। मेरे जीवन के वे क्षण सचमुच धन्य हैं, जब रामायण से मेरा प्रथम परिचय हुआ, प्रेम बढ़ा, और उसका रसास्वादन मिला। भाषा-शिवपुराण, ब्रज-विलास और शुक-सागर ये तीन ग्रंथ भी मैंने बचपन में ही पढ़े थे। ब्रज-विलास में मन नहीं लगा। शुक-सागर अच्छा लगता था। किन्तु रामायण को इनमें से एक भी नहीं पाता था। 'विनयपत्रिका' के रस का चस्का जब पाया, तब हृदय ने बड़ी उत्फुल्लता अनुभव की। पर यह तो बाईस बरस की उम्र के बाद की बात है।

ऊपर मैंने कहा है कि वाद-विवादों में पड़ने से मैं हमेशा डरता व झेंपता रहा। त्रिविध वादों का थोड़ा-सा अनुभव तो बहुत पीछे किया, और यह अब जाना कि तर्क-बुद्धि का अतिप्रयोग या दुरुपयोग कहाँतक किया जा सकता है, या मनुष्य को वह कहाँ से कहाँ ले जाता है। अनीश्वरवाद या अनात्मवाद को भी मैं तर्क बुद्धि का दुरुपयोग नहीं कहूँगा। मेरा आशय तो यहाँ 'अनीतिवाद' से है। इसका पता मुझे पहले नहीं था। सुना तो यह था कि वाद करते-करते मनुष्य 'आत्म-बोध' को प्राप्त कर लेता है; किन्तु अब देखता हूँ कि 'वाद' जब उपेक्षा, अविश्वास और तिरस्कार का आश्रय ले लेता है, तब उसके द्वारा किसी भी प्रकार का सद्बोध होना संभव ही नहीं। 'इससे क्या होता है', 'उससे क्या होगा' आदि प्रश्नों के उत्तर जब व्यर्थता को लक्ष्य में रखकर प्रश्नकर्त्ता

स्वयं ही दे लेता है, तब बोध प्राप्त करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उसकी जिज्ञासा-वृत्ति तब जड़ता का रूप ले लेती है।

यह सही है कि मैं धर्म या नीति के आचरण पर दृढ़ नहीं रह सका, पर उसके विरुद्ध कहना-सुनना कभी रुचिकर नहीं हुआ। कई बड़े-बड़े बुद्धिशालियों की दलीलें पढ़ीं और सुनीं। पर उनसे खास प्रभावित नहीं हुआ। यह बात नहीं कि मेरी बुद्धि इतनी जड़ है कि उसपर उनका कोई असर नहीं पड़ता। नहीं; स्वभाव ही कुछ ऐसा बन गया है कि तर्कपुष्ट भौतिकता की ओर वह अधिक आकर्षित नहीं होता--विज्ञान द्वारा सिद्ध उसकी इतनी बड़ी ऊँचाई नीति के आगे नीची और कच्ची बुनियाद पर ही टिकी मालूम देती है। मेरे एक हिसाबी-किताबी मित्र हैरान रहते थे कि तथ्यों और आँकड़ों के राजमार्ग पर चलनेवाला मनुष्य अध्यात्म और धर्म पर भला कैसे विश्वास कर सकता है! उनकी राय थी कि, गणित-शास्त्री या विज्ञानवादी अध्यात्म और नीति की मूर्खतापूर्ण धारणाओं के फंद में भला कैसे फँस सकता है? उनकी दलीलों को चुपचाप सुन लेता था। मगर उन्होंने मेरे मौन का कभी यह अर्थ नहीं लगाया था कि मैंने उनकी विचार-धारा को स्वीकार कर लिया है। मैं यह जानता हूँ कि अच्छे-अच्छे गणित-शास्त्रियों एवं विज्ञानवादियों ने अध्यात्म और नीति-धर्म में अपना विश्वास अंततक क़ायम रखा है। और केवल तथ्य-आँकड़ों के सहारे चलनेवाले अनेक विज्ञानवादियों को असहाय और रोते हुए भी देखा गया है। ऐसी घटनाओं ने जगत् में धर्म-श्रद्धा को समय-समय

पर ज्वलन्त ही किया है।

साधकों और संतों ने और उनका उलटा-सीधा अनुसरण करनेवाले जनसाधारण ने शायद इसीलिए इन विविध वादों की सदा उपेक्षा ही की। खंडन-शस्त्र का भी कभी-कभी सहारा लिया गया सही, पर उसमें और शास्त्रियों के खंडन में अंतर रहा। असत् का निराकरण उतना तर्क के शस्त्र से नहीं किया, जितना कि अपनी जीवन-साधना के प्रखर आलोक से। उस लोकोत्तर आलोक से विपक्षियों की युक्तियाँ स्वतः निस्तेज पड़ गईं। अनासक्तिवाद, शून्यवाद, स्याद्वाद और मायावाद को शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को कितनों ने आत्मसात् किया होगा? करोड़ों नर-नारियों का उद्धार तो इन वादों के प्रवर्तक कृष्ण, बुद्ध, महावीर और शंकर की जीवन-साधनाओं ने किया है। उन्होंने कुछ खोया नहीं।

परम्परा-प्राप्त श्रद्धा के सहारे राम और कृष्ण की पूजा करनेवाले धर्मभीरु घर में जन्म लेकर मैंने भी खोया नहीं, बल्कि कुछ पाया ही। और अधिक भी पा सकता था, पर दोष मेरे निर्बल काँपते हुए हाथों का था, जो प्राप्त वस्तु को ठीक तरह से सँभाल नहीं सके।

: ३० :

अब डगमगाया

सही या ग़लत श्रद्धा जितनी पहले स्थिर थी, उतनी बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था में नहीं रही। बाल्यावस्था की वह भक्ति-भावना कुछ और ही थी। परिस्थितियाँ भी अब वैसी अनुकूल नहीं थीं। न मेरी वह विद्यार्थी की अवस्था थी, न गृहस्थ की। मन डाँवा-डोल-सा रहने लगा था। श्रद्धा डगमग होरही थी। अपने ही विचार अब बनावटी-से मालूम होते थे। इस अर्से में नये-नये विचारों की कुछ पुस्तकें पढ़ने को मिलीं, और उनमें से हर किसीने मुझे अपनी ओर खींचा। ज़रा-से झटके से खिंच जाता था। मन कभी तो भगवद्भक्ति की ओर दौड़ता, और कभी विरक्ति की ओर। किन्तु पेट की चिन्ता सबपर पानी फेर देती थी। मुझसे तो वे ही सब अच्छे थे, जो चार पैसे कमाते थे, और मज़े से गृहस्थी चलाते थे। उनकी भी धर्म-श्रद्धा भले ही डगमग हो गई हो, उन्हें उसकी कोई चिन्ता तो नहीं थी। अपनी सहज वासनाओं से उन्हें न तो वैराग्य हुआ था, और न किसी अदृष्ट वस्तु पर उनका कुछ अनुराग ही था। इसके विपरीत, मेरी विविध मनोभावनाएँ उदर-पूर्ति के उद्यम में बाधा उपस्थित करती थीं; खाली पेट उन्हें भी

स्वस्थ्य-कर पोषण नहीं मिल रहा था।

पिछले प्रकरणों में, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, इन्हीं दिनों मुझे एक के बाद एक तीर्थाटन करने का सुयोग मिला। कितने ही नये-नये अनुभव इन यात्राओं में प्राप्त हुए। गृह-चिन्ता भी कुछ कम हुई। अनेक पंडितों व साधु-सन्तों से मिलने-जुलने का अवसर मिला। कई सम्प्रदायों के निकट परिचय में आया। किन्तु धर्म का तत्त्व कुछ भी समझ में न आया; समझने की वैसी चेष्टा भी नहीं की। प्यास लगी हो और पानी न मिले तब तड़पन का अनुभव हो। मेरी ऐसी अवस्था तो थी नहीं। श्रद्धा की धुँधली-सी झलक-भर दिखाई देती थी, किन्तु धर्म-तत्त्व की पिपासा अनुभव नहीं होती थी, यही कहना ठीक होगा। एक तो वैवाहिक बन्धन में नहीं पड़ा था, दूसरे अन्नाहार त्याग दिया था, और फिर भक्ति-साहित्य का अध्ययन किया करता था--इस सब ऊपरी नवरचना की भित्रों पर यह छाप पड़ी कि मैं एक त्यागी, तपस्वी भक्तिमार्ग का साधक हूँ। मध्व-सम्प्रदाय का लम्बा तिलक लगाता था, गले में तुलसी की कंठी पहनता था, और उच्चस्वर से वैष्णव-स्तोत्रों का पाठ किया करता था। लोग तो मानते ही थे, मैं भी अपने को वैष्णव मानने लग गया था। यों वैष्णव तो आज भी मैं शायद अपने-को मानता हूँ, किन्तु तब के उस अर्थ में नहीं। तब मेरी अहंभावना काफ़ी बढ़ गई थी, जो 'अवैष्णव' का एक महान् लक्षण है। तत्त्व-जिज्ञासा और धर्म-शोध की आवश्यकता ही नहीं रही थी।

विवेकानन्द और रामतीर्थ का साहित्य पहले भी कुछ-न-कुछ पढ़ा था। उसे फिर एक बार ध्यान से देखा। 'उपदेश-साहस्री' और 'स्वाराज्य-

सिद्धिः' को भी समझने का प्रयत्न किया । एक-दो प्रकरण 'योग-वासिष्ठ' के भी पढ़े । इस अद्वैतवादी अध्ययन से मेरा वैष्णवी रंग फीका पड़ने लगा । अब जब मुझे कोई नमस्कार करता, तब उसका प्रत्यभिवादन मैं 'शिवोऽहम्' से किया करता । दूसरों को अज्ञानी और तुच्छ समझता था । क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्म तो मैं था, दूसरे तो माया के विभिन्न रूप थे । कुछ-कुछ उद्धत और वाचाल भी बन गया था । किन्तु दृश्यमात्र मिथ्या है, अनात्म है, इस भावना का जब चिन्तन व ध्यान करता, तब सचमुच एक आनन्द की अनुभूति होती थी—और वह अनुभूति आज भी होती है, पर टिकती एक क्षण भी नहीं, बिजली की तरह कभी-कभी अन्तराकाश में कौंध-भर जाती है । रसिक भक्तों की मण्डली मुझे देखकर अब बिदकती थी । छतरपुर का एक प्रसंग मुझे याद आ गया है । एक मन्दिर के दालान में रात को कुछ रसिक भक्तों का सत्संग हो रहा था । मेरे मित्र स्व० देवीप्रसादजी 'प्रीतम' भी, जो बिजावर से आये हुए थे, इस रसिक-गोष्ठी में उपस्थित थे । श्रीसीता-राम के लीला-रहस्य की गूढ़ातिगूढ़ व्याख्या की जा रही थी । भक्तजन अपने-अपने लीला-अनुभव, कोई जागृत अवस्था के और कोई स्वप्न-दर्शन के, सुना रहे थे । किसीके नेत्रों से तो अश्रुपात हो रहा था, और कोई गद्‌गद कंठ से नाम-स्मरण कर रहा था । मैं वहाँ अचानक जा पहुँचा, और द्वार पर खड़े होकर दो मिनिट ही रसिक-गोष्ठी का सत्संग-लाभ लिया होगा कि सब चौकन्ने हो गये । एक रसिक ने धीरे से कहा—"अनधिकारी, अनधिकारी ! !" दूसरा बोला—"कंटक, कंटक ! !" मैं ज़ोर से हँस पड़ा, और गुनगुनाने लगाः--

हमका उढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ!
प्रान राम जब निकसन लाग,
उलटि गईं दोउ नैन पुतरियाँ!!

चुप होगये सब। हलवे में नमक की डली पड़ जाने से मज़ा सारा किरकिरा होगया। वाचाल तो मैं हो ही गया था। उन लोगों के साथ बहस करने लगा। शृङ्गारी लीला-रहस्य की मैंने तिरस्कारपूर्वक खूब खिल्ली उड़ाई। मेरे अनधिकार-प्रवेश और शुष्क संलाप से रसिक राम-भक्तों को बड़ा बुरा लगा। एक रसिक ने, मुस्कराते हुए दूसरे रसिक से कहा—"भगवत-रसिक, रसिक की बातें रसिक बिना कोई समझ सकै ना।" मैंने माना कि मैं अरसिक ही अच्छा; तुम्हारा वह-गोपनीय रहस्य समझने के लिए तुम्हारे जैसा रसिक बनना मुझे मंजूर नहीं। दूसरे दिन, मैंने उन रसिक भक्तों से अपने धृष्टतापूर्ण वर्ताव के लिए तो माफ़ी माँगली, पर उनके गुह्य लीला-रहस्य के विरोध में जो कुछ कहा था उसपर ज़रा भी पश्चात्ताप नहीं हुआ।

ब्रज का मधुर साहित्य मैं कुछ-कुछ पढ़ चुका था। रसिक कवियों के मधुर भाव चुरा-चुराकर स्वयं भी मैंने कुछ अर्द्धशृङ्गारी पदों की रचना की है, तो भी उस साहित्य की मेरे मन पर कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। शृङ्गार-प्रधान भक्ति-साहित्य से अलग रहने में ही मैंने अपना तथा दूसरों का हित समझा है।

इस तरह मेरी आयु के दस-बारह बरस और खिसक गये। पहली बीसी मेरी पार होगई। मगर सत्य-शोध का प्रयास शुरू भी नहीं किया था। विचार हमेशा अस्थिर रहते थे। जो भी पढ़ता या सुनता उसी

की ओर उस समय ढुलक जाता था। विषय-वासनाओं का रंग-मात्र कुछ बदल गया था; उनके रूप में कोई कमी नहीं आई थी। मनो-विकारों का वेग लगभग वैसा ही था। और आज भी ऐसा खास क्या अन्तर पड़ा ? अन्तर में कुछ खोजने-तलाशने का कभी-कभी मन होता था—और प्रायः उद्विग्नता की मनोदशा में। पर संकल्प मेरा टिकता नहीं था। निश्चय दुर्बल ही रहा। निश्चय किया, और तत्काल फिसला। तो भी यह डावाँडोल मनःस्थिति खलती नहीं थी—न धिक्कारती थी। शायद ही कभी ऐसा लगता था कि संकल्प का पर्दा डालकर मैं अपने-आपको धोखा देरहा हूँ।

रोग असल यह था कि मैं श्रद्धा से हाथ धो बैठा था। सगुण साकार ईश्वर पर से तो श्रद्धा उठ ही गई थी, निर्गुण निराकार पर भी नहीं जम रही थी। ब्रह्मवाद ओठों पर ही रहता, गले के नीचे नहीं उतरता था। 'शिवोऽहम्' की रट भी अपने-आप छूट गई। स्तोत्रों का पाठ भी छूटा-सो-छूटा। मन कहीं भी तो नहीं ठहरता था। भीतर काफी जगह खाली-खाली-सी लगती थी। वहाँ कुछ भरने को भी नहीं था। मनोविकार भी अधिक नहीं टिकते थे। आते, और ठोकर लगाकर चले जाते। मनोमोहक प्रपंच अपनी ओर खींचता अवश्य था, पर दो डग आगे बढ़ा कि ठोकर खाकर गिर पड़ा। कैसी दैन्यावस्था थी मेरी ! अक्सर मुँह से निकल पड़ता, और आज भी कि—"दो में एकहु तो न भई; ना हरि भजे न गृह-सुख पाये, ऐसेहि आयु गई।" कहीं कोई सहारा नहीं मिल रहा था। प्रत्यक्ष जगत् को कल्पित मानने का निष्फल प्रयत्न किया, और जो अप्रत्यक्ष था, वहाँ पहुँचने का मेरी

दुर्बल कल्पना ने कष्टसाध्य प्रयास किया। अक्सर होता था कि दो-तीन बरस के अरसे में मैंने बहुत-कुछ खोया ही-खोया है। श्रद्धा हाथ से निकल गई, आत्म-विश्वास गँवा बैठा, और प्रेम की हवा भी न लगने दी। अद्वैतवाद के पंख चिपकाकर ब्रह्मलोक में उड़ने की चेष्टा की; और इस व्यर्थ चेष्टा ने रोजमर्रा की परिचित भूमि पर चलने का अभ्यास छुड़ा दिया—पंखों की माया ने मेरे अपने पैरों को पंगु बना दिया।

कुछ दिन तो मन बड़ा अस्थिर व अशांत रहा। मेरे एक हित-चिन्तक मित्र ने सलाह दी कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए। उनकी दलील थी—"तुमने दुनिया से भागना चाहा, पर तुमने देख लिया कि तुम्हारा यह प्रयत्न आसान नहीं था। तुमने पुस्तकें पढ़-पढ़कर अप्रत्यक्ष वस्तु को पकड़ना चाहा, और तुम बुरी तरह विफल हुए। तुम आज कहाँ खड़े हो, तुम्हें इसका भी तो पता नहीं। तुम्हारा कोई आधार नहीं, कोई अवलम्ब नहीं। हवा में अधर यों कबतक उड़ते रहोगे? सामने तुम्हारे समुद्र पड़ा है, इसे आखिर कैसे पार करोगे? श्रद्धा ने तुम्हारा साथ छोड़ दिया है; ज्ञान अपने पास फटकने नहीं दे रहा है; अनुभव होता तो वही तुम्हारा जीवन-यात्रा में कुछ सहारा देता। तुम्हारी ऐसी दैन्यावस्था है। आज अब भी यह दुस्साहस छोड़ दो। अभी बहुत दूर नहीं आये हो। मुड़ जाओ। सबकी तरह तुम भी जीवन के उसी रास्ते पर चलो, जो न नया है, न शंकास्पद है। आशय यह कि अपना कोई जीवन-साथी ढूँढ़लो। विवाह-बन्धन स्वीकार कर लेने से यह होगा कि तुम्हारा मन इस तरह खाली या डावाँडोल नहीं

रहेगा। और धर्म-तत्त्व भी कभी-न-कभी हाथ लग सकता है। तुमने नासमझी से जल्दबाज़ी में जो यह अटपटा-सा रास्ता पकड़ लिया था उसे अब छोड़ दो। भाई, मेरी इस नेक सलाह को मानलो।"

दलील को मैंने ध्यान से सुना। उसमें मुझे कुछ सार भी दिखाई दिया। मैं थोड़ा सोच-विचार में पड़ गया, तो भी उन मित्र के सुझाये मार्ग को ग्रहण न कर सका। मैंने देखा कि पीछे मुड़कर रास्ता बदलने के लिए भी काफ़ी साहस और बल चाहिए। वह मैं खो बैठा था। दूसरे, अबतक जितनी यात्रा तय कर चुका था उसे बिल्कुल व्यर्थ भी नहीं मानता था। यह भी आशा थी कि आगे चलकर शायद यह परेशानी न रहे। नादानी से ही सही, एक बार जब मैं क़दम रख चुका हूँ, तब उसे पीछे हटाना ठीक नहीं समझा। और गृहस्थ-जीवन में ही निश्चित रूप से सुख-शांति कहाँ है? माना कि वासनाओं को अनुकूल विषय मिल जाने से कुछ काल के अनन्तर उनकी तीव्रता कुछ मन्द पड़ जाती हो, पर उनका शमन कहाँ होता है? मन वैसा खाली नहीं रहता, कुछ उलझा या फँसा रहता है, और चिन्तन की ओर से अचेत-सा हो जाता है। मगर मेरे रोग का कारण कुछ और भी है। इस बेकारी ने ही मेरी अन्तःस्वस्थता का नाश किया है। सो अब मुझे किसी-न-किसी काम में लग जाना चाहिए। और अधकच्चे ज्ञान को लेकर इन वेदान्तविषयक पुस्तकों का बहुत पढ़ना भी छोड़ देना चाहिए। मैं इस गरिष्ठ मिठाई को पचा नहीं सकता। यह मानसिक पीलिया मुझे इसी अपच-विकार से हुआ है। इसे दूर करना होगा।

इस डाँवाडोल स्थिति में एक दिन पूज्य धर्ममाता के बहुत ज़ोर दे
पर जिसे अहंकारपूर्वक भुला बैठा था उस कामदुघा 'विनय-पत्रिका
की मैंने फिर एक बार शरण ली। ऐसा लगा कि अपनी जिस महानि
को मैंने खो दिया था, वह फिर बिना आयास के मिल गई। कु
शांति भी मिली। श्रद्धा की सुनहली रेखा फिर एक बा
दिखाई दी।

: ३१ :

एक पुण्यकथा

छठे प्रकरण में स्व० श्रीकमलकुमारीदेवी का मैंने उल्लेखमात्र किया है। जिन्होंने मेरी डगमगाती धर्म-श्रद्धा को सहारा दिया था, जिनके पवित्र वात्सल्य ने जीवन के अँधेरे मरुदेश में भटक जाने से मुझे बचाया था, जिनका धुँधला-सा ध्यान आज भी मेरे स्वप्न-उद्यान को हरा कर देता है, उन धर्ममाता की संक्षिप्त पुण्यकथा मैं इस प्रकरण में दूँगा।

छतरपुर-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंहजी की यह पहली पत्नी और ओरछा के महाराजा प्रतापसिंहजी की ज्येष्ठ पुत्री थीं। अनेक सुसंस्कार इन्होंने अपनी साध्वी माता से पाये थे। त्याग, तप और तितिक्षा की दीक्षा माता ने ही इन्हें दी थी। पति के साथ सांसारिक सम्बन्ध नहीं बना। जीवनभर विरागिनी ही रहीं। सत्संग, धर्म-ग्रन्थों का अनुशीलन, भजन-कीर्तन, व्रत-उपवास एवं तीर्थ-यात्राएँ, यही उनके जीवन का क्रम रहा। सत्संग करते-करते धर्म-तत्त्व का खासा अच्छा ज्ञान होगया था। सैकड़ों श्लोक और पद कंठाग्र थे। चारों वैष्णव-सम्प्रदायों से तो निकट का सम्बन्ध था ही, शैव सिद्धान्त का भी अच्छा

ज्ञान था। राम, कृष्ण और शिव तीनों ही उनके उपास्यदेव थे।

जीवन एक निश्चित क्रम से चलता था। जो क्रम एक बार बना लिया उसपर अन्ततक दृढ़ रहीं। दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह दिन के कितने ही कठिन उपवास किये थे। उपवास का भंग कभी बीमारी में भी नहीं किया। स्नान, पूजन, सत्संग आदि का क्रम उपवास के दिनों में भी ज्यों-का-त्यों चलता था। शरीर में स्फूर्ति, मुख पर तेज और मन में प्रसन्नता उन दिनों भी मैंने वैसी ही देखी। तपःसाधनाओं में अनेक विघ्न-बाधाएँ आईं, बड़ी-बड़ी यंत्रणाएँ भी पाईं, पर सब क्लेशों को हँसते-हँसते ही सहन किया। उनकी धर्म-श्रद्धा दिन-दिन ज्वलन्त ही होती गई। उनकी-जैसी कठिन साधना मेरे देखने में तो अन्यत्र नहीं आई।

मेरी धर्ममाता ने अनेक तीर्थ-यात्राएँ की थीं। सर्व साधन सुलभ होते हुए भी बहुधा रेल के तीसरे दरजे में मुसाफिरी करती थीं। पैदल भी खूब चलती थीं। ब्रह्मगिरि की उनकी वह कठिन यात्रा मुझे आज भी याद आरही है। जेठ का महीना था। पर्वत की बड़ी-बड़ी शिलाएँ तवे की तरह तप्त होगई थीं। पूजा समाप्तकर ठीक बारह बजे प्रदक्षिणा देने के लिए चलदीं। उस दिन उनका एकादशी का निर्जल व्रत भी था। पैरों में चप्पल भी नहीं पहनी थीं। वृद्धा नौकरानी ने भी उनका थोड़ी दूर अनुगमन किया, पर चल नहीं सकी। दयार्द्र होकर अपनी साड़ी से धज्जियाँ चीरकर उसके पैरों पर लपेटदीं, पर खुद नंगे पैरों ही उन्होंने ब्रह्मगिरि की दो-ढाई कोस की प्रदक्षिणा जेठ की दुपहरी में बिना विश्राम लिये, राम-नाम जपते हुए, पूरी की। चित्र-

कूट के कामदगिरि की परिक्रमा तो उन्होंने एक ही दिन में दो-दो, तीन-तीन बार दी थी। तिरुपति-बालाजी के ऊँचे शिखर पर भी पैदल ही चढ़ी थीं, संगी-साथियों को डोली पर भेज दिया था। बद्रीनाथ की यात्रा में मैं साथ नहीं था, पर मैंने सुना था कि ठेठ सतोपथ-तक पैदल ही गई थीं।

यात्राओं के ऐसे कितने ही संस्मरण हैं, जो एक-एक करके याद आ रहे हैं। उनमें से दो संस्मरण मैं यहाँ दे रहा हूँ।

जहाँतक मुझे याद है, पहला १९२० का प्रसंग है। मकर-संक्रान्ति का पर्वस्नान करने हम लोग गंगा-सागर जा रहे थे। शाम को मामूली-सा तूफ़ान आ जाने से हमारे जहाज का लंगर डाल दिया गया था। थोड़ी देर बाद समुद्र स्थिर होगया। चाँद निकल आया। चारों ओर जैसे दूध का फेन-ही-फेन दृष्टि आता था। ऐसा सुन्दर धवल दृश्य मैंने पहली ही बार अपने जीवन में देखा था। सागर का वक्षःस्थल तो शांत था, किन्तु माँ का वात्सल्य उमड़ रहा था। जहाज की छत पर रात को कोई एक बजे उन्होंने मुझे बड़े स्नेह से भक्ति-मार्ग का उपदेश किया। मैं मन्त्र-मुग्धवत् उनके दिव्य प्रवचन को सुनता रहा। अन्त में जब, विनय-पत्रिका का "हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों"—यह पद मधुर सुर से गाया, तब उनकी भक्ति-विह्वलता को देखकर एक क्षण के लिए मैं अपने-आपको भूल गया। मैंने प्रत्यक्ष देखा कि उस समय उन्हें देह का कुछ भी भान नहीं था। आँखों से प्रेमाश्रु बह रहे थे। मुख पर एक अपूर्व तेज झलक रहा था। मैं चरणों पर गिर पड़ा। चेतना आने पर माँ मेरे सिर पर हाथ फेरने लगीं। जीवन में

उन स्वर्गीय चरणों को मैं कभी भूलने का नहीं। पर मैं ठहरा अभागा। मेरी उस अबोध अवस्था में उन्होंने मुझे जो अनमोल भक्ति-रस दिया, वह मेरे अनेक छिद्रोंवाले हृत्पात्र में ठहर न सका।

दूसरा चिरस्मरणीय प्रसंग नाथद्वारे का है। हमारे साथ एक बूढ़ी नौकरानी थी। यह प्रायः प्रत्येक तीर्थ-यात्रा में साथ जाती थी। एक दिन इसे ज़ोर का बुखार चढ़ आया। हम सब लोग मन्दिर में दर्शन करने चले गये थे। उसका लड़का कल्लू भी डेरे पर नहीं था। मेरी माँ अधबीच से ही लौट गईं, किसीसे कुछ कहा-सुना नहीं। आध घण्टे बाद मन्दिर से आकर मैं देखता हूँ कि चुपचाप बैठी बीमार बुढ़िया के पैर दबा रही हैं। उस बेचारी को कुछ पता भी नहीं था। बेहोश पड़ी थी। मुझे आश्चर्य-चकित देखकर इशारे से चुप रहने को कहा। मैं एक तरफ़ वहीं चुपचाप बैठ गया। धीरे से कहने लगीं—"बेटा, यह कोई बड़ी बात नहीं है। इस ग़रीबनी ने तो मेरी बरसों सेवा की है। यह बुढ़िया तो मेरी माँ के समान है। मन्दिर में आज इसीलिए नहीं गई। सेवा का यह पुण्य-लाभ वहाँ कहाँ मिलता ? यह भी तो श्रीनाथजी की ही अराधना है।" उनकी वह स्तुत्य सेवा-परायणता देखकर मेरा गला भर आया।

'जुगलप्रिया' उपनाम से उन्होंने ब्रजभाषा में बहुत-से सुन्दर पद भी रचे थे, जिनका संग्रह उनके स्वर्गवास के पश्चात् मैंने प्रयाग से 'जुगलप्रिया-पदावली' के नाम से प्रकाशित किया था। उसमें से एक पद यहाँ उद्धृत करता हूँ:—

नाथ अनाथन की सब जानें।
ठाड़ी द्वार पुकार करति हौं,
स्रवन सुनत नहिं, कहा रिसानै?
की बहु खोटि जान जिय मेरी,
की कछु स्वारथ-हित अरगानै?
दीनबन्धु मनसा के दाता—
गुन औगुन कैधौं मन आनै?
आप एक, हम पतित अनेकन,
यही देखि का मन सकुचानै?
झूठोहि अपनो नाम धरायौ,
समझि रहे हैं, 'हमहिं सयानै'!
तजौ टेक मनमोहन मेरे,
'जुगलप्रिया' दीजै रस-दानै॥

मेरी धर्ममाता की साधना, सत्यनिष्ठा, सेवा-परायणता और भक्ति-भावना इतनी ऊँची थी कि उनकी गणना निस्सन्देह पुराकाल के भागवतों में की जा सकती है। मैंने तो उन्हें मीरा बाई का अवतार माना, और ऐसा करके मैंने कोई अत्युक्ति नहीं की।

मैंने यह स्तवन किया, तो उनके देहावसान के पश्चात्। उनके जीवनकाल में तो सदा सर्वत्र ढिठाई ही की। समीप रहा, और पहचान न पाया। जो मुझे दिया उसे सँभाल न सका। अधिकारी तो तृण का सहारा पाकर भी तर जाता है। और एक मैं हूँ, जिसने सामने आई नौका की भी उपेक्षा ही की। बल्कि, कभी-कभी तो मैं उस शुभ्रचरिता

में दोष भी ढूँढ़ने बैठ जाता था। उस सुशीतल वात्सल्य-सुधा को अंजलि में भरा, और अहंकारपूर्वक अनाड़ीपने से सारा टपका दिया। और वही-का-वही तेज़ाब पीता रहा, जिसने अंतर में आग लगा दी; और वैसा ही प्यासा-का-प्यासा। इतना ही बहुत मानता हूँ कि उस पुण्य-कथा को नहीं भूला और स्मरणमात्र से ही, एक क्षण के लिए ही सही, संताप के बीच भी कुछ-न-कुछ सांत्वना मिल जाया करती है।

शास्त्र-ज्ञान के फेर में

१६१६ से १६२५ तक अनेक मत-संप्रदायों के ग्रंथों का थोड़ा-थोड़ा अध्ययन किया, तो एक अजीब-सी उलझन में पड़ गया। ऐसा लगता था कि धर्म-तत्त्व की सिद्धि के लिए शास्त्र-ज्ञान का होना आवश्यक है; विविध धर्म-सिद्धांतों का थोड़ा-बहुत परिचय तो होना ही चाहिए। पर यह संभव नहीं दीखता था। न तो संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान था, और न पाश्चात्य दर्शन समझनेलायक अंग्रेज़ी ही जानता था। फिर भी मैंने दर्शनविषयक साहित्य पढ़ने की कष्टसाध्य चेष्टा की। कोई-कोई तत्त्व-निरूपण कुछ-कुछ समझ में आ जाता, पर अधिकांश तो वस्तु को अँधेरे में टटोलने के जैसा ही था। समुद्र में अनाड़ी तैराक के कूद पड़ने के जैसा मेरा यह प्रयास था। पर जब देखा कि अच्छे-अच्छे तैराक भी पार नहीं पा रहे, और केवल प्रतिस्पर्धा में पड़कर तैरते चले जा रहे हैं, तब मुझे उनका अवगाहन-प्रयत्न देखकर जैसे कुछ ढाढ़स और बल मिला। साथ ही यह भी देखा कि जो इस अथाह समुद्र में नहीं कूदे, फिर भी किसी तरह उस पार पहुँच गये, तब और भी ढाढ़स मिला। १६२५ के बाद ये प्रश्न उठने लगे कि माना कि धर्म

की गति अति गहन है, साधना उसकी और भी दुष्कर है, पर व्याख्या भी क्या धर्म की उतनी ही जटिल होनी चाहिए ? इतनी ये सारी उलझनें क्यों ? धर्म-निरूपण के लिए तर्क-जाल में उलझे बिना क्या हमारी गति ही नहीं ? सीधे-सच्चे नियमों को उपनियमों और अपवादों से क्यों इतना अधिक लाद दिया गया है कि 'मूलवस्तु' का पता भी नहीं चलता।

मैंने कहीं पढ़ा था कि धर्म की साधना का उद्देश तो साम्य-स्थापन है। तब प्रश्न उठा कि इस निरूपण-क्षेत्र में इतना भारी और भयंकर वैषम्य क्यों दिखाई देता है। सामंजस्य का तो प्रत्यक्ष में कहीं पता भी नहीं। तब विषमताओं को पैदा करने और बढ़ानेवाला शाब्दिक ज्ञान धर्म-शोधक के लिए क्यों आवश्यक होना चाहिए ? पर इसका यह अर्थ नहीं कि मैं स्वयं धर्म का शोधक या साधक बनने जा रहा था। सही तो यह है कि मैंने साधना के पथ पर पैर भी नहीं रखा। ऐसे-ऐसे प्रश्नों के उत्तर तो मात्र अपनी मनस्तुष्टि के लिए होते थे।

उलझते-सुलझते में इस परिणाम पर पहुँचा कि आदि में जगत् के सब तत्त्व-शोधकों व साधकों की मूल शिक्षाएँ लगभग एकसमान सरल और बिना गुत्थियों की रही होंगी। पर उनकी मृत्यु के पश्चात्, और कभी-कभी उनके जीवन-काल में भी, उनके अनुयायियों ने ही उनको बुरी तरह तोड़-मरोड़ डाला। शाखें और पत्ते अपनी ही जड़ों को भूल गये। मूल जीवन-साधनाओं का विचार-शून्य अनुकरण किया गया, और उन्हें मूढ़ाचार के विविध साँचों में ढाल दिया गया। उधर, बुद्धिवादी तत्त्व-निरूपकों ने जीवन-साधनाओं की उपेक्षा की और उन्हें

शुष्क तार्किक 'वादों' में बड़े कौशल से बदल डाला। बस यहीं झमेला पड़ गया। और आज के सुधारकों और राजनेताओं ने अपने बुद्धि-बल से और भी अनर्थ किया। दूसरा पक्ष काटकर एक ही पक्ष के सहारे सारे आकाश-मंडल में मुक्त विचरण करना चाहा। गड़बड़ी क्या और कहाँ पर हुई, इस बात को समय-समय पर संतों ने ताड़ लिया। दीपक जब-जब बुझने को आया, उन्होंने अपनी जीवन-साधना का उसमें तेल डाल दिया और बत्ती पर का गुल हटा दिया। शास्त्रज्ञों को धर्म के मामलों में इस तरह बेजा दख़ल देना अच्छा नहीं लगा। लेकिन लोगों को तो हरबार उन्होंने अपनी तरफ़ खींचा ही। मूल तत्त्व में सन्तों के इस 'अभिनिवेश' को देखकर मुझे अपने तर्क-संभूत संशय क्षीणबल प्रतीत होने लगे।

इलाहाबाद के वेलवेडियर प्रेस का सन्त-साहित्य पढ़ना शुरू किया। कबीर, दादू, पलटू और धर्मदास की बानियों में एक नया ही रस मिला। बाहर-भीतर स्वच्छ निर्विकार; ऊँचा घाट; गहरा भेद; और समथल भाव। हृदय के एक-एक तार को झनझना दिया। इस अद्भुत मिठास के आगे शास्त्र का स्वाद अब फीका-सा पड़ गया। मैं पछताया कि इस अपूर्व रसास्वादन से अबतक अपने को क्यों वंचित रखा। सारा साहित्य, सिवा तुलसी-साहित्य के, अब गतरस और बासी-सा लगने लगा।

परन्तु प्रश्नों का तार फिर भी टूटा नहीं। तर्कों की छाप अन्तर्पट पर से पुछी नहीं थी। संत-वाणी जब सामने रहती, तब प्रश्न भी तिरोहित हो जाते थे। अन्यथा, ऊटपटाँग प्रश्न फिर मेरी मनोभूमि पर अधि-

कार कर लेते थे। प्रश्न उठा करते—मानव-जीवन का आधार नीति को क्यों माना जाता है? अप्रत्यक्ष में विश्वास करने से क्या लाभ? जब प्रत्यक्ष में विषमता, अन्याय और नानाविध कलह हम देख रहे हैं, तब कोई क्यों माने कि इस सृष्टि की रचना गणित-सिद्ध न्याय या नीति के पाये पर हुई है? गनीमत थी कि ये और ऐसे ही अनेक प्रश्न मेरे अपने मस्तिष्क की उपज नहीं थे। तर्क-प्रधान पुस्तकों के देखने और विद्वानों के साथ चर्चा करने के फलस्वरूप इन प्रश्नों ने बाहर से आकर मेरे मस्तिष्क पर कब्जा कर लिया था। ऐसे प्रश्नों के युक्तिसंगत उत्तर मैं कभी ठीक-ठीक दे नहीं सका। मगर फिर भी बुद्धिशालियों के ये जटिल प्रश्न सनातन के प्रतिष्ठापित न्याय तथा नीति पर मेरा जो सामान्य विश्वास है उसपर से मुझे डिगा नहीं सके। भले ही नीति-मार्ग से मैं बारबार, बल्कि रोज़-रोज़ विचलित हुआ हूँ, पर यह मानने को कभी भी जी नहीं हुआ कि मानव-जीवन सत्य और नीति के आधार पर स्थित नहीं है। पहले ऐसे-ऐसे प्रश्न परेशानी में डाल देते थे, पर अब ये बिना असर डाले आते और चले जाते हैं। जरूरी थोड़ा ही है कि हरेक आते-जाते प्रश्न को उत्तर मिलना ही चाहिए।

सो शास्त्र-ज्ञान मेरा बिलकुल कच्चा रहा, और इसका मुझे तनिक भी पश्चात्ताप नहीं। चंचु-प्रवेश ही हुआ था कि झंझट से छूट गया। संत-साहित्य की मिठास ने उधर से मन फिरा दिया; किन्तु गीता, रामायण, विनयपत्रिका और धम्मपद इतने ग्रन्थ न छूट सके। इनमें से कंठाग्र तो एक भी नहीं, और न किसीका गहरा अभ्यास ही किया है। आचरण तो मन में एक कण का भी नहीं किया, पर ये ग्रन्थ मुझे हृदयप्रिय

अवश्य हैं। इन ग्रन्थों की गणना मैं शास्त्र के भी अन्तर्गत करता हूँ और इन्हें उच्च कोटि का संत-साहित्य भी मानता हूँ।

गीता का रस-दर्शन बहुत पीछे मिला, शायद बत्तीस वर्ष की अवस्था के बाद। दो-तीन टीकाओं से सहायता ले-लेकर गीता की गहनता में थोड़ा-सा आगे बढ़ सका। तिलक के गीता-रहस्य ने अधिक आकर्षित नहीं किया। कर्मयोग के अत्यधिक शास्त्रीय समर्थन से मन जैसे ऊब गया और मुझे वह दुरूह भी प्रतीत हुआ। ऐसा लगा कि जैसे 'गीता-रहस्य' मात्र प्रचारक-ग्रन्थ हो। 'शांकर-भाष्य' को भी देखा, पर अधिक समझा नहीं। पर शंकर के एक-दो तर्कों से फिर भी अच्छा समाधान हुआ। मशरूवाला का 'गीता-मंथन भी अपने ढंग का सुन्दर ग्रन्थ है। गांधीजी का सरलार्थ भी अनाकर्षक नहीं लगा। किन्तु सर्वाधिक श्रद्धा तो मेरी 'ज्ञानेश्वरी' पर है। भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की ज्ञानदेव ने अनेक स्थलों पर अनुभवजन्य अत्यन्त सुबोध तथा सरस व्याख्या की है। पछताता हूँ कि मराठी का अभ्यास न होने से मूल ज्ञानेश्वरी का रसास्वादन न कर सका। विनोबा के गीताविषयक 'प्रवचन' भी समाधानकारक मालूम दिये।

जितने भी धर्माचार्य हुए उन सबने इस अद्भुत ग्रन्थ को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा और 'प्रस्थानत्रयी' में इसे भी लिया। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि सर्व सिद्धांतों को गीता से सिद्ध व पुष्ट किया गया है। विभिन्न भाष्यों को देखकर गीता के साधारण विद्यार्थी की बुद्धि चक्कर में पड़ जाये तो आश्चर्य क्या? उसे किसी-न-किसी सिद्धांत का आग्रही बनना पड़ता है। विविध भाष्यों को आगे रखकर गीता का

अनासक्त भाव से अध्ययन करना कठिन हो जाता है, और उसके लिए तो और भी कठिन है, जिसका शास्त्रज्ञान अपरिपक्व होता है।

श्रीअरविन्द के भी एक दो 'गीता-प्रबन्ध' देखे। निम्नोद्धृत अंशों ने मेरी एक उलझन को काफ़ी सुलझाया :

"अनेक भाष्यकारों ने गीता का उपयोग अपने मत के मंडन तथा अन्य मतों के खंडन में ढाल और तलवार के तौर पर किया है। लेकिन गीता का यह हेतु नहीं है। गीता का उद्देश तो ठीक इससे उलटा है। गीता तर्क की लड़ाई का हथियार नहीं है। यह तो वह महाद्वार है, जिसमें से सारे आध्यात्मिक सत्य और अनुभूति के जगत् की झाँकी होती है; और इस झाँकी में उस दिव्यधाम के सब स्थान अपनी-अपनी जगह देख पड़ते हैं। गीता में इन स्थानों का विभाग या वर्गीकरण तो है, पर कहीं भी एक स्थान दूसरे स्थान से विच्छिन्न नहीं है। न किसी चहारदीवारी या बेड़े से घिरा हुआ है कि हमारी दृष्टि आरपार कुछ देख न सके।"

आधुनिक काल में कर्त्तव्य कर्म का जो स्वरूप-स्थापन किया जा रहा है और जो महत्त्व उसे दिया गया है, गीताकार का भी उसी कार्य कर्म से अभिप्राय है यह निश्चित नहीं मालूम देता। श्रीअरविंद लिखते हैं: —

"गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव-कर्म नहीं, बल्कि दिव्य कर्म है; सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं, बल्कि कर्त्तव्य और आचरण के दूसरे तमाम पैमानों का त्याग कर अपने स्वभाव के द्वारा कर्म करनेवाले भागवत संकल्प का, बिना अहंकार के, निर्मम

आचरण है; समाज-सेवा नहीं, बल्कि भगवदीय महापुरुषों का वह कर्म है, जो अहंकार-शून्य भावना से संसार के लिए, भगवान् की प्रीति-पूजा के तौर पर, यज्ञरूप से किया जाता है।"

इसका यही अर्थ हुआ कि गीता में भागवत संकेत या आदेश मुख्य है, जो भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय करता है। उस दिव्य संकेत की प्रत्यक्षानुभूति ही गीता के अनुशीलन का चरम फल है। यह इतनी ऊँची चोटी है कि वहाँतक पहुँचना तो दूर उसकी ओर देखते भी डर लगता है। हम-जैसे तब क्या करें, इसका उत्तर मैं इतना ही दे सकता हूँ कि जितना हमसे बन पड़े अपने-आप में गहरे उतरकर गीता के अद्भुत पदों का मनन करें—इससे कुछेक क्षण तो रस की घूटें मिलेंगी ही।

गीता की ही तरह 'धम्मपद' को भी मैं श्रद्धा और भावना से देखता हूँ। भगवान् बुद्ध ने ब्रह्म और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, 'नित्य' उन्होंने कुछ भी नहीं माना इससे उनके उपदेशों के प्रति मेरी जो श्रद्धा-भावना है, उसमें कोई कमी नहीं आई।

दस में से एक भी पारिमिता के महाबोधारण्य में एक क्षण भी कभी विचरण करने को मिल गया तो अपने को महान् भाग्यशाली मानूँगा। 'धम्मपद' की इन बोधक गाथाओं से मुझे जीवन की अँधेरी और उलझी हुई घड़ियों में कितनी शांति मिलती है, इसे मैं ही जानता हूँ :

> कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति;
> अंधकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ।

सभी कुछ जल रहा है, और तुम्हें हँसी और आनन्द सूझता है !
अरे, अन्धकार से घिरे रहकर भी तुम प्रदीप को नहीं खोजते !

अनेक जाति संसारं संधा बिस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसंतो दुक्खाजाति पुनप्पुनं ॥
गहकारक, दिठ्ठोसि पुनगेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं ॥
विसंखार गतंचित्तं तण्हानं खयमज्भगा।

गृहकारक को खोजते हुए मैं अनेक जन्मोंतक लगातार संसार में दौड़ता रहा। गृहकारक ! अब तू दिखाई दे गया। अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सारी कड़ियाँ टूट गईं। गृह का शिखर बिखर गया। चित्त संस्कार-रहित हो गया। तृष्णा का क्षय हो गया।

सचमुच, उस खोजी के सुख की कुछ सीमा, जिसने 'गृहकारक' को खोज लिया, जिसके गृह का शिखर बिखर गया, जिसने तृष्णा का समूल क्षय कर दिया ! तृष्णा की जड़ों को आयु-घट की एक-एक बूँद से जिसने सींचा हो, राग की कोमल-कठोर कड़ियों के जोड़ने में ही जो सदा अभ्यस्त और व्यस्त रहा हो, वह भी जब इस 'निर्वाण-स्थिति' का ध्यान, क्षणमात्र को ही सही, करता है, तब दुःख के आत्यन्तिक क्षय का उसे अद्भुत आनन्दानुभव होता है। फिर उस शुद्ध बोधिसत्त्व का तो कहना ही क्या, जिसने अपने हाथों अपने गृह का शिखर बिखेर दिया हो और गृहकारक की सारी कड़ियाँ हँसते-हँसते तोड़कर फेंक दी हों।

: ३३ :

एक प्रकाश-किरण

हरिजन-सेवक-संघ में आने के बाद, शायद १९३५ से, मैंने अन्त-निरीक्षण की आदत डालना शुरू किया। जब कभी अपने आपको धोखा देता, तो बाद को मन में कुछ-कुछ ग्लानि-सी होती थी। अब यह विचार आने लगा कि धार्मिक जीवन-जैसी यदि कोई चीज़ है तो उसका ढोंग नहीं करना चाहिए। किन्तु धर्म की स्पष्ट रूप-रेखा तो फिर भी सामने नहीं आ रही थी, और मैं स्वीकार करूँगा कि वह आज भी नहीं आई है। कारण शायद यही रहा हो कि सत्यमूलक धर्म की प्रत्यक्ष सिद्धि होने पर ही मनुष्य को उसकी स्पष्टरूपता का सच्चा ज्ञान हो सकता है। अनुभवियों का कहना है कि साधक का अन्तर स्फटिक के समान पारदर्शी हो जाता है। तब तो जो धर्म साधे वही उसका व्याख्यान या निरूपण करे।

सन्त-वाणी के पठन-पाठन में अब पहले से भी अधिक आनन्द आने लगा। कबीर और दादू ने तो मुझे मानो मोहित कर लिया, पर यह नहीं कह सकता कि इस रसास्वादन का मेरे दैनिक जीवन के आचरण पर भी कुछ प्रभाव पड़ा। किन्तु इतना तो स्पष्ट हो गया कि

यदि धर्म की साधना करनी है, तो असत् के प्रति जो हमारा सहज मोह है उसे प्रतिक्षण क्षीण होना ही चाहिए। सत्य के प्रति, जो धर्म-तत्व का मूल है, आकर्षण तबतक हमारा बढ़ ही नहीं सकता। स्वरूप-दर्शन तबतक संभव ही नहीं--जो सारे धर्म और अध्यात्म का निचोड़ है; किन्तु 'स्वरूप-दर्शन' कितना कठिन है, और फिर भी कितना सहज !

कह सकता हूँ कि सामने जो घोर अँधेरी-सी छागई थी वह अब जैसे कुछ-कुछ हटी। इसमें गांधीजी के जीवन-दीप ने भी सहारा दिया। गांधीजी के समीप तो मैं नहीं रह पाया, पर दूर-दूर रहकर ही उनके शांतिपूर्ण सामीप्य का कुछ-कुछ ,अनुभव किया। गांधीजी ने अपने जीवन-दृष्टान्त से ऐसे कितने ही लोगों को सचमुच साहस बँधाया है, जिन्हें ऊपर उठने के बल का पता भी नहीं था, और जो अज्ञातरूप से नीचे को ही फिसलते चले जा रहे थे। गांधीजी ने तर्कप्रधान 'वादों' का सहारा लेकर व्यर्थ बुद्धि-भेद पैदा नहीं किया। न ऐसे आसमानी महलों पर चढ़ने के लिए ही कहा कि जहाँ से ज़रा-सा चूके तो धड़ाम से नीचे गिरने का भय हो। निश्चित रूप से तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनका प्रत्येक कथन बिल्कुल स्पष्ट और संगत रहा है। मगर मनुष्य अपनी बुद्धि को इस क़दर क्यों ताक पर रखदे कि वह किसी महापुरुष की बुद्धि को उधार लेकर चलने का प्रयत्न करे, या बल्कि अपने पैरों से चले ही नहीं। 'सर्व-समर्पण' की महिमा तो मैंने बहुत सुनी है, पर उसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाया। और फिर वह 'समर्पण' भी अविवेक और अपौरुष का उपदेश कहाँ करता है ? गांधीजी के जीवन-दीप ने सहारा दिया इसका इतना ही अर्थ है कि असत् का

मूल्य मैंने जाना या अनजान में जो आँक रखा था उसको, उनके जीवन-दृष्टान्त से प्रेरणा पाकर, मुझे गलत मानना पड़ा। मेरी अंधी खोज में सबसे अधिक असर गांधीजी का मुझपर यह पड़ा कि बहुत सूक्ष्म विवेचन में न पड़कर सत्य का जो रूप और उसका जितना भी अंश सहज सामने आ जाये उसके साथ आत्मैक्य करने का, बिना आत्म-विज्ञापन व अहंकार के, शक्तिभर प्रयत्न किया जाये। मैंने देखा कि गांधीजी ने वही किया, जो कहा और जो सत्य जँचा; और वही कहा जो सहज भीतर से उठा। उनके आध्यात्मिक जीवन में मुझे कभी कुछ 'रहस्यात्मक' जैसा नहीं लगा, यद्यपि राजनीतिक आग्रहों और प्रयोगों के कारण उनका अध्यात्म कभी-कभी विचित्र-सा अवश्य दिखाई दिया। गांधीजी ने सबसे प्रेम किया, सबका हित किया। यह खयाल रखा कि किसीका जी न दुखे। राम का सदा नाम लिया। अपनी श्रद्धा की दीप-शिखा को हरघड़ी ज्वलन्त रखा। हरदम उन्हें इस बात का ध्यान रहा कि जगत् में सार वस्तु एक प्रेम ही है। धर्मतत्त्व का, अर्थात् अध्यात्म का क्या इतने में सारा निचोड़ नहीं आ जाता है? इस जीवन-दर्शन को कौन कहेगा कि पूर्ण नहीं है? सन्तों की जीवनियों में और उनकी वाणियों में यही धर्म-सार तो सर्वत्र भरा पड़ा है।

गांधीजी की 'आत्म-कथा' के कुछ पन्नों पर मैंने बहुत पहले सरसरी-सी नज़र डाली थी, शायद १९२६ में। आबू से, १९२८ में, दो-तीन दिन के लिए मैं अहमदाबाद गया था। तभी साबरमती-आश्रम में पहले-पहल गांधीजी के दर्शन किये थे। दूसरों की देखा-देखी गांधी-जी के चित्र पर हस्ताक्षर लेने का मेरा भी मन हुआ। खास इसीलिए

उनकी अंग्रेज़ी की 'आत्म-कथा' खरीदी कि उसमें दिये हुए चित्र पर उनका हस्ताक्षर करालूँ। गांधीजी का हस्ताक्षर पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई। पुस्तक में से चित्र को निकालकर चौखटे के अंदर जड़वा लिया और बड़ी श्रद्धा से उसे पाँच-सात साल अपने पास रखा। बाद को चित्रों पर मेरा यह मोह नहीं रहा। आत्म-कथा जब १९३४ में ध्यान से पढ़ी तो मुझे ऐसा लगा कि यह ग्रन्थ तो निश्चय ही जीवन को पलट देने की सामर्थ्य रखता है। सत्य के अनेक प्रयोगों से पूर्ण इस चमत्कारी ग्रन्थ की गणना क्यों न संसार के श्रेष्ठ ग्रन्थों में की जाये? एक बार चस्का लग जाने पर गांधीजी का दूसरा साहित्य भी देखा। इस अनुशीलन के सहारे गांधीजी के जिस रूप को मैंने अपनी मोटी दृष्टि से देखा और समझने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया, उससे मुझे कुछ प्रकाश मिला। प्रकाश वह कुछ परिचित-सा लगा। गांधीजी के जीवन-दर्शन के दूसरे कई एक पहलू मेरी समझ में नहीं आये; समझने का प्रयत्न भी नहीं किया। राजनीतिक या अन्य पहलुओं पर नज़र नहीं टिकी। भारी पैमानों पर, विस्तृत क्षेत्रों में, उनके सत्य एवं अहिंसा के कई प्रयोग भी कुछ अजीब-से लगे। राजनीति और अध्यात्म की एकसूत्रता भी चित्त पर ठीक जमी नहीं। यह कहना तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी कि ऐसा करते हुए गांधीजीने जान-बूझकर संसार की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ध्यान नहीं रखा। हाँ, यह हो सकता है कि अपनी साधु-दृष्टि से स्वभावतः सबको उन्होंने 'सत्त्वगुण-विशिष्ट' मान लिया हो, और ऐसा मानकर ही त्रिगुणात्मिका समष्टि से वैसी ऊँची आशा रखी हो। कभी-कभी उनकी अतिशय कठोर आग्रह-वृत्ति भी शंका का विषय रही है। सूक्ष्म विवेचक न

होने के कारण भी शायद ऐसी-ऐसी शंकाएँ मेरे मन में उठती हों। फिर भी मेरी सामान्य बुद्धि ने यह माना है कि गांधीजी आज के युग के एक सबसे बड़े धर्म-शोधक हैं, और केवल धर्म-शोधक हैं। उनकी पार-दर्शी अन्तर्दृष्टि पर मेरी पूरी श्रद्धा है।

किन्तु उनकी वकालत या तर्क-प्रणाली की ओर से उदासीन रहना अच्छा लगता है। दूसरे क्षेत्रों में उनकी सफलता-असफलता मेरी दृष्टि में बराबर है। और सत्य के भी किसी प्रयोग में वह असफल हो जायें, जो असंभव नहीं है, तब भी मेरी श्रद्धा को उससे कोई धक्का नहीं लगेगा। श्रद्धा को धक्का इसलिए भी नहीं लग सकता कि मैंने अपने आपको गांधीजी का केवल एक श्रद्धालु 'दर्शनार्थी' माना है, 'अनुयायी' कभी नहीं। अनुयायी बनना मुझे भयावह लगा। दर्शनार्थी बनने में मेरे जैसे असाधकों के लिए कोई खटका नहीं। अनुयायी तो किसी महापुरुष का वह बने, जिसमें स्वार्पण करने की पूर्ण क्षमता हो। मुझमें स्वभाव से ही यह चीज़ नहीं है। इसीलिए मैं तो मात्र दर्शनार्थी रहा हूँ। उनके एक ही रूप का दर्शन किया है—और वह रूप है जाग्रत 'भक्त' का। उनके जीवन की दूसरी सारी झाँकियों से मुझे प्रयोजन नहीं। 'भक्त' शब्द को प्रचलित अथवा शास्त्रीय अर्थ में न लेकर मैंने यहाँ व्यापक और संपूर्ण अर्थ में लिया है—सत्य-शोधक और अहिंसा के आराधक का उसमें पूरा समावेश हो जाता है। गांधीजी की इस जीवन-झाँकी को मैं स्पष्ट और निःसंशय देखता हूँ। फिर भी भक्ति-पथ के वे अभीतक एक यात्री ही हैं—किंतु इस युग के महान्-से-महान् यात्री। दृढ़ विश्वास है कि वे इस महा-

लक्ष्यतक अवश्य पहुँचेंगे । साथ ही, और भी कितने ही छोटे-मोटे यात्री उनकी जीवन-साधना से प्रेरणा पाकर पार लग जायेंगे। किसीको नाम जोड़ने का ही मोह हो, तो वह इसे 'गांधी-पथ' कह सकता है, कृपाकर 'गांधीवाद' न कहे । 'वाद' मुझे कुछ हलका-सा जँचता है। यह पथ बिल्कुल सीधा है; टेढ़ा-बाँका तनिक भी नहीं। न कोई उलझन है, न कोई असंगति । प्रेम-पथ में उलझन कैसी ? सत्य के सम-मार्ग में विषमता का क्या काम ? रास्ता सीधा व साफ़ है, अब तो उसपर चलना-ही-चलना है । मगर चलना अपने ही पैरों से है। अपना गुरु अपने आपको बनना है, किन्तु सारा 'आपा' खोकर । श्रद्धा के साथ कृतज्ञतापूर्वक मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पूज्य गांधीजी की इस जीवन-झाँकी से मुझे प्रकाश-किरण मिली है । पर इसके साथ ही, यह भी क़बूल करूँगा कि इस प्रकाश से मैं पूरा लाभ नहीं उठा सका। मेरे मित्रों को दो प्रकार का भ्रम हुआ है, उसका भी यहाँ निराकरण करदूँ । कुछ मित्र मुझे 'गांधीवादी' या गांधी-अनुयायी' मान बैठे हैं और स्वभावतः यह आशा करते हैं कि मैं गांधीजी की प्रत्येक प्रवृत्ति का और उनके विचार का, सम्पूर्ण अर्थ में, समर्थक हूँ। और जब मैं गांधीजी की कुछ प्रवृत्तियों या विचारों की टीका कर बैठता हूँ तब कुछ मित्र शायद इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि मेरी श्रद्धा में फ़र्क आ गया है और इसीलिए मेरे विचार विरोधी बनते जा रहे हैं । क्षमा करें, यह दोनों ही धारणाएँ ग़लत हैं। माने हुए गांधीवाद का न मैं कभी अनुयायी रहा, न गांधीजी के उस रूप पर, जो मेरी दृष्टि के सामने रहा है, मेरी श्रद्धा-भक्ति ही कभी मंद पड़ी। टीका मैंने दूसरों के 'गांधी' की

की है। सन्देह नहीं कि मेरा अपना 'गांधी' तो सदा मेरा भक्ति-भाजन रहा है और रहेग

अब ऐसे विचार दृढ़ और दृढ़तर बन जाने से उस वस्तु को 'धर्म-तत्त्व' मानने से मैं इन्कार करने लगा, जिसका बाक़ायदा संगठित रूप से 'विज्ञापन' तथा 'प्रचार' किया जाता है अर्थ और काम की सिद्धि के लिए---और इन्हीं साधनों के द्वारा धर्म का आराधन (?) होते देखकर स्वभावतः क्षोभ पैदा होने लगा। धर्म का यह 'प्रचार' कैसा ? धर्म की जो सुगन्ध पहले फैलाते थे, वह सत्य और तप के द्वारा। आज तो धर्म-प्रचार का वह शुद्ध उद्देश भी नहीं रहा। उद्देश माना जा रहा है समाज या जाति का भौतिक संगठन और संवर्द्धन ! और यह संगठन-संवर्द्धन भी केवल तृष्णा-वृद्धि के लिए, रागद्वेषमूलक वासनाओं की अभितृप्ति के लिए ! आश्चर्य और दुःख होता है, जब यह सुनता और देखता हूँ कि स्वधर्म की यदि समय रहते रक्षा न की गई तो वह संकट में पड़ जायेगा ! और फिर उसकी रक्षा ऐसे-ऐसे साधनों से की जाती है, जिनसे वैर फूलता है, द्वेष और-और फलता है। युक्ति-बल से, अनीति-बल से धर्म-संस्थापन के नये-नये प्रयत्न किये जाते हैं। नवविधान और धर्म-संस्थापन के नाम पर कितने बड़े-बड़े युद्ध लड़े गये, जिनमें लाखों निर्दोषों का रक्त बहाया गया और धर्माचार्यों ने बड़ी शांति-मुद्रा के साथ देव-स्थानों में शत्रुओं के सर्वनाश की प्रार्थनाएँ कराईं ! स्पष्ट ही आसुरी संपत्ति को दैवी संपत्ति का नाम दिया गया और दिया जा रहा है। बड़े-बड़े जननायक भी धर्मग्लानि की ऐसी-ऐसी निन्दित प्रवृत्तियों में क्यों योग देते हैं ! ऐसा लगता है कि धर्म के प्रचार और संगठन पर जो लाखों

करोड़ों रुपया खर्च हुआ है उससे तो परोक्ष रीति से अधर्म की ही जड़ें हरी हुई हैं। धर्म को रुपये का सहारा देकर कैसे ऊँचा उठाया जा सकता है? रागद्वेष तो योंही काफ़ी फूल-फल रहा है—उसके विष-भरे बीज बिखेरते रहने की क्या आवश्यकता है? ऐसे-ऐसे प्रश्नों ने मुझे बहुत परेशान किया।

मगर साथ ही, मन को समझा भी लेता हूँ कि जिस चीज़ के संस्थापन, संगठन और संग्रहण के झूठे-सच्चे प्रयत्न हो रहे हैं, उसे 'धर्म' कहा ही क्यों जाये? वह सब तो धर्म का आभासमात्र है, और उसीके लिए यह सारा उन्माद है। फिर क्यों कोई उसके लिए चिन्तित या विकल हो? कबीर की वाणी ने इस प्रकार के विचारों पर पहुँचने में मुझे बड़ा सहारा दिया। दृष्टि को अन्तर्मुखी कर लिया जाये, तो यह सारा ही प्रपंच अदृष्ट हो जाये। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि ऐसा हुआ नहीं, दृष्टि अधिकतर बहिर्मुखी ही रही। प्रयत्न इस ओर अवश्य है। कह नहीं सकता कि अबतक के जीवन पर धर्म-संस्कारों की कुछ छाप पड़ी या नहीं, पर धर्म-साधना के प्रति आकर्षण मेरा अवश्य रहा है। यही, इतनी ही, मेरी धर्म-शोध की अरोचक-सी कहानी है।

: ३४ :

"संघं सरणं गच्छामि"

हरिजन-सेवक-संघ में मैं १६३२ के दिसम्बर में आया——इसके दो महीने बाद 'हरिजन-सेवक' प्रकाशित हो सका। संघ का दफ्तर तब बिड़ला मिल के अन्दर था। हम लोग रहते भी शुरू-शुरू में मिल की कोठी में थे। ठक्कर बापा तब संघ का प्रांतीय संगठन करने के लिए मद्रास गये हुए थे। बापा का मैंने सिर्फ नाम ही सुना था। दर्शन करने का संयोग नहीं मिला था। भाई रामनाथलाल 'सुमन' के अनुज श्यामलाल-जी मुझे यहाँ मिले, जो मुझसे एक-डेढ़ महीने पहले संघ में आ गये थे। आचार्य नारायणदास मलकानी जेल से छूटने पर, छह महीने बाद, आये। तीन या चार कार्यकर्त्ता और हमारे साथ रहते थे।

सुन रखा था कि ठक्कर बापा का स्वभाव बड़ा कड़ा है और कुछ हदतक यह सही भी है। पर मैंने तो उनका स्वभाव सदा कोमल और सरल ही पाया। उनका स्नेह-भाजन बनते देर नहीं लगी। उनका अन्तर स्फटिक-सा पाया। यद्यपि बापा की दफ्तरी शुष्क-कर्मण्यता से——भले ही उनकी अपनी दृष्टि में वह अति सरस हो——कभी-कभी ऊब-सा जाना पड़ा, तथापि उनके अन्तर में निरन्तर लहर मारती हुई करुणा ने उनके प्रति हमारी श्रद्धा को सदा अडिग रखा। मैं

अपना अहोभाग्य समझता हूँ, जो आज इतने बरसों से बापा के चरणों के निकट बैठने का शुभ अवसर मिल रहा है। उनसे सचमुच बहुत-कुछ सीखने को मिला। बापा जबतक दक्षिण भारत से दिल्ली वापस नहीं आये, तबतक मैं बिल्कुल ठाला बैठा रहा। आते ही उन्होंने मेरे उपयुक्त थोड़ा काम ढूँढ़ निकाला। अखबारों में हरिजन-आन्दोलन-सम्बन्धी जो महत्त्व की खबरें प्रकाशित होती थीं, उनकी संक्षिप्त साप्ताहिक रिपोर्ट अंग्रेज़ी में तैयार करने का काम मुझे सौंपा गया। फिर भी मेरा काफ़ी समय बेकार जाता था। संघ का संगठन-कार्य खूब ज़ोर से चल रहा था। बापाने आश्चर्यजनक रीति से अल्पकाल में ही हरिजन-सेवक-संघ को सारे भारत में सुसंगठित कर दिया।

पहले संघ का नाम 'एएटी-अनटचेबिलिटी लीग' था। हिन्दी में हम उसे 'अस्पृश्यता-निवारक-मंडल' कहा करते थे। मिल के कुछ मारवाड़ी मित्र हमें 'अंटाचितवाले' नाम से पुकारा करते थे! हरिजन-सेवक-संघ यह नामकरण तो संघ का उसके प्रथम वार्षिक अधिवेशन में हुआ। गांधीजी की विद्यमानता में यह अधिवेशन हुआ था। हरिजन-सेवकों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए गांधीजी ने बड़ा सुन्दर उद्बोधक प्रवचन किया था। प्रचलित अर्थ के प्रचार-कार्य को संघ में शुरू से ही स्थान नहीं दिया गया। बजट में एक छोटी-सी रकम प्रचार की मद में ठक्कर बापा ने रख दी थी। गांधीजी को वह भी सहन नहीं हुई। कहा—"इस प्रकार के प्रचार के लिए हमारे कार्यक्रम में जगह नहीं होनी चाहिए। अच्छा हो कि 'प्रोपेगेंडा' को तो हम दफ़ना ही दें। एक पाई भी प्रचार-कार्य पर खर्च न करें। हमारे हरिजन-सेवक सच्चाई,

दृढ़ता और प्रायश्चित्त की पुनीत भावना से सेवा-कार्य करेंगे, तो प्रचार का काम तो अपने आप हो जायेगा। वेतनभोगी उपदेशकों से न कभी प्रचार हुआ है, न होगा।" संघ ने इसीलिए ऐसे प्रचार-कार्य पर कभी पैसा खर्च नहीं किया। रचनात्मक कार्य पर ही संघ ने हमेशा ज़ोर दिया है। फिर भी प्रचार तो हो ही गया, जो स्वाभाविक था। गांधीजी का देशव्यापी हरिजन-प्रवास प्रचार का स्वतः एक बहुत बड़ा साधन था। सनातनी कहेजानेवालों की ओर से, जहाँ-तहाँ से, जो विरोध की आवाज़ उठी, उसने भी हमारे कार्य का खासा प्रचार किया। प्रचार के इन प्रत्यक्ष या परोक्ष साधनों पर संघ ने कुछ खर्च नहीं किया। थोड़ा-बहुत यदि कहीं उसे खर्च करना पड़ा, तो केवल मलबार के मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन पर। किन्तु परिणाम-स्वरूप भारी जन-जाग्रति को देखते हुए प्रचार पर किया गया वह खर्च नगण्य-सा था। मैंने देखा कि कोरे प्रचार के फलस्वरूप कुछ काम हुआ भी तो वह अधिक दिनोंतक टिका नहीं। जैसे, कितने ही कुएँ और मन्दिर-खुले, पर बाद को फिर बन्द हो गये।

इसी प्रकार संघ लोकशाही के वैधानिक चक्कर में भी नहीं फँसा। वार्षिक अधिवेशनों में कई प्रश्नों पर वाद-विवाद हुए, पर हमें कभी किसी वैधानिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा। पूज्य गांधीजी ने प्रेरणा दी, संघ के अध्यक्ष ने ठक्कर बापा के काम में कभी हस्तक्षेप नहीं किया—यह मानकर कि उनके हाथ से कोई अवैध काम होगा ही नहीं, और बापा ने कठोरतापूर्वक तथ्यों और अंकों को सबसे अधिक महत्त्व दिया। गांधीजी तथा ठक्कर बापा ने जो एक बार लकीर खींच दी उसी-पर हम धीरे-धीरे चलते रहे। मगर हमें यह स्वीकार करना चाहिए

कार्यवाही हिन्दी में ही चलानी है," और उनका प्रारम्भिक भाषण हिन्दी में हुआ भी, पर संघ की गाड़ी अपने-आप खिसककर फिर उसी पुरानी लीक पर चलने लग गई ! कोई हिन्दी में बोला भी, तो कार्य-विवरण में उसका अंग्रेज़ी भाषान्तर ही छपा। अंग्रेज़ी भाषा की इस निन्दनीय प्रभुता का परिणाम यह हुआ कि हमारी आवाज़ उन करोड़ों को स्पर्श नहीं कर पाई, जिनकी सेवा के लिए हमने इन संघों और संस्थाओं का निर्माण किया है। सचमुच यह हमारे लिए लज्जा और परिताप की बात है।

यह सब हुआ, पर जहाँतक संघ की प्रामाणिकता का सम्बन्ध है, उसपर किसीने उँगली नहीं उठाई। ठक्कर बापा ने आन्तरिक व्यवस्था में प्रामाणिकता को सबसे अधिक महत्त्व दिया। कार्यकर्त्ताओं की अप्रामाणिकता को उन्होंने कभी सहन नहीं किया। उनके अंकुश ने सदैव संघ की मान-मर्यादा की रक्षा की।

ईश्वर का मैंने अनुग्रह माना और अपने को भाग्यशाली समझा कि हरिजन-सेवक-संघ से मेरा सम्बन्ध जुड़ा। मैंने संघ में आकर खोया कुछ नहीं, पाया ही-पाया।

: ३५ :

"हरिजन-सेवक"

लगभग दो मास मैं संघ के दफ्तर में बेकार-सा ही बैठा रहा। पत्र के प्रकाशन की आज्ञा हमें बड़ी मुश्किल से १५ फरवरी, १९३३ को मिली। यों ही बैठे-बैठे १२०) मासिक वेतन लेना भारी मालूम पड़ने लगा था। दिल्ली आकर मैं लोभ में फँस गया। श्रीघनश्यामदासजी बिड़ला से मिलकर डेरे पर लौटा, तो मेरे एक हितचिंतक मित्र ने मुझे यह नेक सलाह दी—"भाई, यह दिल्ली है। तुम्हारा यहाँ कम तनख्वाह से गुज़रा होने का नहीं। फिर हरिजन-सेवक-संघ के पास रुपया भी काफ़ी है। इस संस्था के अध्यक्ष, तुम जानते ही हो, बिड़लाजी हैं।" १२०) मासिक वेतन मेरा तय हुआ। मेरी आवश्यकताओं से यह काफ़ी ज्यादा था। कोई डेढ़ महीने बाद ३२) मासिक किराये का एक बढ़िया मकान सब्जीमंडी में लेकर रहने लगा। घर से माँ इत्यादि को भी बुला लिया। खर्चने के बाद रुपया फिर भी मेरे पास काफ़ी बच जाता था। पाँच-सात महीने तो १२०) मासिक वेतन संघ से लेता रहा, इसके बाद मन में कुछ ग्लानि-सी होने लगी। सोचने लगा, सार्वजनिक संस्था से इतना ज्यादा पैसा लेना उचित है क्या? जो सेवा-कार्य मुझे सौंपा गया है

उसे अर्थोपार्जन का साधन बनाना ठीक नहीं। और अगर पैसा ही कमाना है, तो फिर इसके लिए हरिजन-सेवक-संघ का आश्रय लेना अनुचित है। अर्थ के लोभ में आजतक नहीं पड़ा, तो अब क्यों पड़ूँ? इस प्रकार के विचार मन में रोज़ उठा करते। फलतः वेतन में से पहले २०) कम किये। फिर कुछ महीनोंतक ७५) लेता रहा। १९३५ के अक्तूबरतक कम करते-करते क्रमशः ४५) पर आ गया। १८) मासिक मेरे ममेरे भाई को हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस से मिलते थे। इस तरह ६३) से हम पाँच आदमियों का गुज़ारा तब अच्छी तरह हो जाता था। निर्वाह तो तब इससे भी कम में हो सकता था, और २००) या २५०) भी वेतन मिलने लगता, तो भी शायद वह पर्याप्त न होता।

'हरिजन-सेवक'–जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण साप्ताहिक पत्र के संपादन का अनुभव मेरा तब नया ही था। पहले अंक का कलेवर मैंने अधिकतर कोरे साहित्यिक लेखों—असल में अनुपयुक्त या अनावश्यक लेखों—से भर दिया। गांधीजी को यह चीज़ पसन्द नहीं आई। असंतोष प्रकट किया, और कुछ सुझाव भी यरवदा-जेल से भेजे। अंग्रेज़ी 'हरिजन' से अधिक-से-अधिक लेख लेने के लिए लिखा। अंग्रेज़ी में अनुवाद जल्दी और ठीक-ठीक करने का अभ्यास मेरा नहीं के जैसा था। लेख भी देरी से मिलते थे। शुरू-शुरू में काफ़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। कई बार तो हिम्मत भी छूट गई। गांधीजी उन दिनों यरवडा-जेल से प्रति सप्ताह हिन्दी में भी अपने एक-दो मौलिक लेख भेजा करते थे। मगर बाद को अंग्रेज़ी तथा गुजराती में लिखने का काम इतना अधिक बढ़ गया कि हिन्दी में लिखना उनके लिए कठिन हो गया। मेरी यह

धृष्टता ही थी कि अक्सर गांधीजी को उपालंभपूर्वक लिखता रहता था कि—"गुजराती में लिखने के लिए तो बापू, आप को समय मिल जाता है, पर हमारे दुर्भाग्य से हिन्दी में लिखने के लिए आप वक्त नहीं निकाल पाते ?" आज मुझे अपने उन अविनयपूर्ण पत्रों की लिखावट पर खेद होता है। परन्तु पूज्य बापूजी ने तो सदा क्षमा ही किया। मेरी त्रुटियों को भी निभाया। एक बार तो उन्होंने अंग्रेज़ी में न लिखने का निश्चय-सा कर लिया था, और इसका कारण मेरा एक ऐसा ही पत्र था। स्व० महादेव भाई ने बिगड़कर मुझे लिखा था कि, "आपको क्या इस बात का ध्यान नहीं है कि इससे बापू को कितनी कठिनाई होगी, और मेरा काम भी कितना ज्यादा बढ़ जायेगा ?"

'हरिजन-सेवक' के संपादन-काल में एक-दो प्रयोग मैंने भाषा-संबंधी भी किये थे। राजस्थानी, गुजराती, बुन्देलखंडी आदि प्रान्तीय बोलियों के भी कुछ शब्दों को चलाने का प्रयत्न किया था। मेरा विश्वास था, और अब भी है कि जनपदों की बोलियों में कितने ही ऐसे लोक-प्रचलित शब्द मौजूद हैं, जिनमें अभिव्यंजना की बहुत बड़ी शक्ति भरी पड़ी है। उन शब्दों को लेकर हिन्दी को हम खासा समृद्ध बना सकते हैं। साधारण जनों में ऐसे शब्दों का चलन होने के कारण हमारे संभ्रान्त साहित्यकार शायद उनको हलकी श्रेणी के शब्द समझते हैं। ऐसे उपेक्षित 'हरिजन' शब्दों को हमें अपनाना ही होगा, अन्यथा हमारी साहित्य-भाषा सदा दरिद्र ही बनी रहेगी। मेरे इस नये प्रयास के पक्ष-विपक्ष में कुछ मित्रोंने चर्चा भी की थी।

अरबी-फारसी के कुछ अनफबते शब्दों को बीच-बीच में डालकर

'हरिजन-सेवक' की भाषा को 'हिन्दुस्तानी' जामा पहनाने का भी मैंने प्रयास किया था। कहना चाहिए कि दूसरों की देखादेखी मैं भी उस बहाव में बह गया था। पीछे कुछ भूल मालूम हुई। अनेक व्याख्याएँ सामने आईं, पर यह कमबख्त 'हिन्दुस्तानी' किसी भी व्याख्या पर ठीक-ठीक न उतरी। न तो साहित्य-भाषा के ही जीवित तत्त्व उसमें अबतक दिखाई दिये और न लोक-भाषा के ही। कहा तो यह जाता है कि हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जिसे आम लोग समझते व बोलते हैं—पर जब उसे लिखते हैं तब वह बिल्कुल बनावटी हो जाती है। हम उसे 'बिगाड़ी हुई हिन्दी' या 'भद्दी उर्दू' कह सकते हैं। जो लेखक हिन्दुस्तानी के हिमायती कहे जाते हैं, उनमें से बहुतों को उर्दू-फ़ारसी की जानकारी नहीं; साथ ही, हिन्दी का भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं—या जो कलतक उर्दू लिखते थे वे हिन्दी का सिर्फ़ नाम तो लेते हैं; पर परवी असल में उर्दू की ही करते हैं। हिन्दुस्तानी की हँडिया में एक विचित्र-सी खिचड़ी पकाई जाती है। हिन्दी-उर्दू का समन्वय एक हद्तक तो मैं भी चाहता हूँ, पर उसका यह तरीक़ा नहीं है, जिसका प्रचार आज 'हिन्दुस्तानी' के नाम से किया जाता है। भाषा तो मैं भी प्रायः वैसी ही लिखने लग गया था, जिसे 'हिन्दुस्तानी' का नया नाम दिया जा रहा है, पर 'हिन्दुस्तानी' यह अजीब-सा नाम पसन्द न आने के कारण मैं उसे 'हिन्दी' ही कहा करता था। अगर 'हिन्दी' नाम पर कोई संकीर्ण साम्प्रदायिकता का आरोप करने लग जाता, तो सफ़ाई मैं इस तरह पेश किया करता था—"हिन्दुस्तानी यह तो बल्कि साम्प्रदायिक नाम है। वह यों कि हिन्दुस्तान के माने हिन्दुओं का देश, और हिंदु

स्तान की भाषा का नाम हिन्दुस्तानी, जबकि 'हिन्द' एक ऐसा नाम है, जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपना देश कह सकते हैं। इस मानी में हिन्द की भाषा हिन्दी ही राष्ट्रीय और असांप्रदायिक है।" और 'हिन्दुस्तानी' नाम देना ही है तो हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी ही को क्यों? बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी और तेलगु, तामिल, कन्नड़ आदि भाषाएँ क्या ग़ैर हिन्दुस्तानी हैं? लेकिन हमारी इन दलीलों को तब कोई सुनने को तैयार नहीं था। मगर अब तो हमारे खंडित देश का नाम भी बदल गया है। आज हिन्दुस्तान कहाँ है? इण्डिया का सीधा-सादा पर्याय हिन्द ही हो सकता है, और हिन्द की भाषा 'हिन्दी' और उसका निवासी भी 'हिन्दी' ही। जब भाषा को राजनीतिक हेतु से प्रेरित होकर नया रूप दिया जाता हो, उसे ज़बर्दस्ती काट-छाँटकर और जैसे-तैसे बेमेल मेल बिठाकर गढ़ा जा रहा हो, तब भाषा की मूल प्रकृति की ओर देखता ही कौन है? किन्तु प्रकृति को लाँघकर जा कौन सकता है? अतः स्पष्ट है कि ये सब प्रयास विफल ही जायेंगे। भाषा या तो स्वयं अपना रूप बना और सँवार लेती है, अथवा वह वाल्मीकि, तुलसी और कबीर जैसे समर्थ लोक-प्रतिनिधियों के आगे सिर झुकाती है। मैं जानता हूँ कि मैं विषय से कुछ बाहर चला गया हूँ। हाँ, तो बनावटी भाषा लिखने के प्रवाह में उन दिनों मैं काफ़ी बह गया था। मेरी भाषा में एक और भी दोष आ गया था। गुजराती लेखों का अनुवाद करते-करते कहीं-कहीं मेरी वाक्य-रचना में गुजरातीपन आने लगा था, पर ऐसा अनजान में ही होता था। मेरे कुछ मित्र उसे दोष नहीं समझते थे, क्योंकि वे तो प्रयत्नपूर्वक वैसी भाषा लिखते और बोलते थे।

लगभग दस वर्षतक अनुवाद का यह बोझिल काम जैसे-तैसे मैंने निबाहा सही; पर वह मेरी प्रकृति के बहुत अनुकूल नहीं पड़ा। मैं यह भी स्वीकार करूँगा कि मेरी वैसी योग्यता भी नहीं थी। अनुवाद करना कोई आसान काम नहीं है। दोनों भाषाओं पर समान अधिकार न होने से अनुवाद करना मुश्किल हो जाता है। यथार्थता और मूल की सुन्दरता विरले अनुवादक ही ला सकते हैं। यह हर किसीके बस का नहीं। मेरे लिए वह हानिकारक भी सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र लिखने की जो थोड़ी-बहुत प्रतिभा थी, वह जैसे कुछ कुण्ठित-सी पड़ गई। अनुवाद करने के लिए गांधीजी के लेख होते थे यही, बस, एक लोभ था। लेख सेवाग्राम से अक्सर देर से आते थे। अनुवाद कभी-कभी बहुत जल्दी प्रेस में देना पड़ता था। कुछ लेखों का अनुवाद श्रीमहादेव भाई सेवाग्राम से भी कराके भेजते थे। उनके संशोधन की जिम्मेदारी लेते हुए डर लगता था। गांधीजी के मौलिक हिन्दी लेखों का संशोधन करना बल्कि ज़्यादा आसान काम था। हाथ मेरे हमेशा जैसे बँधे-से रहते थे। फिर भी संपादन-कार्य से मुक्त हो जाने का मन नहीं होता था। 'हरिजन-सेवक' का सम्पादक होना, यह कोई छोटा-मोटा लोभ नहीं था।

यह भी हमेशा समस्या ही रही कि पत्र को स्वावलम्बी कैसे बनाया जाये। ग्राहकों का सदा टोटा ही रहा। हर साल ही घाटा रहता था। घाटे की पूर्ति कुछ मित्र कर दिया करते थे। ग्राहक-संख्या बढ़ाने की मैं काफ़ी कोशिश करता था। अंग्रेज़ी 'हरिजन' की ओर लोगों का अधिक आकर्षण था। गुजराती भाषा-भाषी जनता अलबत्ता गुजराती

'हरिजन-बन्धु' पढ़ना पसंद करती थी। मगर हमारे हिन्दीवालों का तो ज़्यादातर अंग्रेज़ी की तरफ़ ही झुकाव था। पत्र का बराबर घाटे पर चलना न तो गांधीजी को अच्छा लगता था, न हम संचालकों को ही। संपादन तथा व्यवस्था पर अपेक्षाकृत खर्च बहुत कम होता था। खर्च तो छपाई व काग़ज़ का ही असल में था। पत्र के स्वावलम्बी न बन सकने का दुःख मुझे अंततक रहा। यत्न करता था, फिर भी सफलता नहीं मिलती थी। हिन्दी-संसार की उदासीनता बहुत खलती थी। यह मैं जानता था कि सिवा एक 'कल्याण' के ग्राहक-संख्या प्रायः सभी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की असंतोषजनक-सी ही है, पर दुःख तो इस बात का था कि गांधीजी के पत्र को भी क्या दूसरे पत्रों की ही तरह ग्राहकों का सदा अकाल रहना चाहिए? मेरे कुछ मित्रों का कहना था कि यदि गांधीजी प्रति सप्ताह हिन्दी में कुछ लिखने का नियम बना लेते, तो ग्राहक-संख्या अवश्य बढ़ सकती थी। इस दलील में कुछ बल तो था, पर ग्राहक-संख्या न बढ़ने का यही एक कारण नहीं था। मेरी समझ में तो यह आता है कि संभवतः हम हिन्दीवालों में अभी गम्भीर विचारपूर्ण साहित्य पढ़ने का रस पैदा ही नहीं हुआ। साथ-साथ, हमारी हीन भावना भी योग दे रही है। अंग्रेज़ी भाषा को जितनी अनुचित प्रतिष्ठा हिन्दीवालों ने दे रखी है उतनी किसी अन्य प्रान्तीय भाषाभाषियों ने नहीं। गांधी-सेवा-संघ के मुखपत्र 'सर्वोदय' को भी यथेष्ट ग्राहक न मिल सके। काशी के 'स्वार्थ' जैसे अत्युपयोगी पत्र को भी शायद इसी कारण मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा था।

उद्योगशाला के काम की अत्यधिक जिम्मेवारी बढ़ जाने के कारण

'हरिजन-सेवक' का सम्पादन-कार्य मेरे लिए अब भार-रूप-सा बनता जा रहा था। गांधीजी को एक-दो बार मैंने अपनी बढ़ती हुई कठिनाई के बारे में लिखा भी था। तीनों पत्र एक ही स्थान से निकलें इसमें उन्हें भी सुविधा थी। मेरा यह भी खयाल था कि स्थान-परिवर्तन से 'हरिजन-सेवक' के स्वास्थ्य में भी शायद कुछ सुधार हो जाये। निदान, तीनों पत्रों के प्रकाशन की व्यवस्था पहले पूना में और फिर अहमदाबाद में हो गई। श्रीप्यारेलालजी के सम्पादकत्व में 'हरिजन-सेवक' का नव प्रकाशन १४ सितम्बर, १९४० को पूना से हुआ। सिर पर से एक भारी जवाबदेही का भार हट जाने पर भी, दिल्ली से 'हरिजन-सेवक' के चले जाने की मन में व्यथा तो हुई ही। साढ़े आठ वर्ष की ममता को अनासक्ति-भाव से तोड़ देना मेरे लिए आसान नहीं था। गांधीजी ने एक पत्र में आश्वासन देते हुए मुझे लिखा थाः—

"मैं तो चाहता था कि पत्र कहीं से भी निकले, सम्पादक की जगह नाम तुम्हारा ही जाये। पर तुमने यह स्वीकार नहीं किया। बिना जिम्मेदारी के सम्पादक रहने में तुम नैतिक दोष मानते हो। तुम्हारे दृष्टिविन्दु को मैं समझता हूँ। मेरे नज़दीक उसकी क़ीमत भी है। तो फिर तुम्हें मुक्ति दे देता हूँ।

"तुम्हारी अति कोमल भाषा में भी तुम्हारा दुःख तो प्रकट होता ही है। लेकिन धर्म तो यही है कि तुम्हें अपनी कृति का वियोग सहन कर लेना चाहिए। तुमको अब हरिजन-सेवा में ज़्यादा ध्यानावस्थित होने का मौक़ा मिला है।"

: ३६ :

अस्पृश्यता अभी कहाँ दूर हुई ?

संघ में आकर मैंने अपनी जीवन-यात्रा का मार्ग प्रयत्नपूर्वक मोड़ा ऐसी बात नहीं है। मार्ग का मोड़ना यदि कहा ही जाये, तो वह मोड़ मुझे असहज-जैसी नहीं लगी। अस्पृश्यता-निवारण की मनोवृत्ति मेरी बहुत पहले से थी, जिसका उल्लेख मैं अपने पन्ना-निवास के संस्मरणों में कर चुका हूँ। संघ में मेरे उस अंकुर को बढ़ने की अनुकूलता मिली। जो असहज था—मेरा आशय कथित साहित्य-निर्माणसे है—वह अपने-आप छूट गया, और जो सहज था उसने समय आनेपर मुझे अपनी ओर खींच लिया। यह बिना किसी विशेष प्रयत्न के हुआ। ऐसा लगता है कि प्रयत्न-बल तो वहीं लगाना पड़ता है, जहाँ प्रयोजनों में अंदर-अंदर संघर्ष चलता है; वहीं जीवन का मार्ग बार-बार मोड़ना पड़ता है। वेतन का मापदंड सामने रखकर यदि कोई सरकारी या ग़ैरसरकारी कर्मचारी एक महकमे से दूसरे महकमे में चला जाता है, तो ऐसा करना न वह खुद बुरा समझता है और न दूसरे ही। लेकिन सेवा-क्षेत्र में जो अमुक प्रयोजनों से प्रेरित होकर आते हैं, वे निश्चय ही आत्म-हित नहीं करते। उनका अंतर सदा अतृप्त या अशान्त रहता है। राजनीति के क्षेत्र में

मनुष्य कितने ही मार्ग पलटता रहता है, कारण कि उसे हमेशा प्रयोजन-सिद्धि सताती रहती है। किन्तु जन-पूजा के क्षेत्र में यह बात नहीं है।

हरिजन-सेवक-संघ से, संयोगवश, पार्थिव संबंध कभी टूट भी जाये, तब भी सहज आत्म-संबंध तो उससे मेरा सदा जुड़ा ही रहेगा। संघ की आत्मा से, अर्थात् अस्पृश्यता-निवारण के धर्म के साथ तब भी मेरा आत्म-संबंध था, जब संघ की रचना भी नहीं हुई थी। झूठे-सच्चे वैष्णव संस्कार कहीं दबे पड़े होंगे, उन्हींका परिणाम मैं अस्पृश्यता-निवारण की ओर अपने झुकाव को मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि एक वैष्णव अपने आपको ऊँच और दूसरों को नीच मान ही नहीं सकता। जिन लोगों ने इस आत्मशुद्धि की प्रवृत्ति का विरोध किया उन्हें मैंने कभी वैष्णव नहीं माना। यही कारण है कि अस्पृश्यता-निवारण की प्रवृत्ति को न तो मैंने सामाजिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है, न राजनीतिक दृष्टि से। जो इस या उस दृष्टि से उसे देखते हैं उनके साथ मेरा कोई विवाद नहीं। उनकी दृष्टियाँ ग़लत हैं यह भी नहीं कहूँगा। पर हाँ, मेरी अपनी दृष्टि वैसी नहीं है। हिन्दूसमाज के ऊपर उठने या देश के स्वतंत्र होने में इस प्रवृत्ति से कुछ बल या वेग मिलेगा इस हेतु और इस विचार को मैंने कभी अपने मन में स्थान ही नहीं दिया। किसी तरह हमारे समाज से यह 'महापाप' दूर हो, किसी तरह धर्म पर लगा हुआ यह 'महाकलंक' धुल जाये—इतना ही मेरे लिए पर्याप्त था। राजनीतिक समझौतों की चर्चा में रस और भाग लेना तो राजनेताओं का कार्य ठहरा। हरिजन-सेवक-संघ इसीलिए मुझे अधिक अनुकूल पड़ा कि ऐसे प्रश्नों या चर्चाओं से वह सदा अलग ही रहा है।

मगर अस्पृश्यता दूर करने की दिशा में स्वयं मैंने क्या किया ? जिन मानव-प्राणियों को अज्ञान से या धृष्टता से 'अस्पृश्य' मान लिया गया है, उनकी कुछ सेवा भी प्रायश्चित्त-रूप से की या नहीं ? यह प्रश्न इन शब्दों में भी पूछा जा सकता है कि मैंने अपनी खुद की शुद्धि कहाँतक की है ? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। अभी तो इतना ही कह सकता हूँ कि अस्पृश्यता दूर करने का विनम्र प्रयत्न मेरा जारी है, और उसमें शायद थोड़ी-सी सफलता भी मिली है। जहाँतक अस्पृश्यता का बाह्य रूप है, उसका अस्तित्व मेरे व्यवहार में नहीं रहा। किसी भी भेद-सूचक नाम से मुझे घृणा होने लगी है—इस अर्थ से 'हरिजन' शब्द भी मुझे अब वैसा प्रिय नहीं रहा। किन्तु अस्पृश्यता का आंतरिकरूप मेरे अंतर से अब भी पूरा-पूरा नहीं निकल पाया। उसका वह रूप है, किसीके भी साथ किसी भी प्रकार का ऊँच-नीच का भेद-भाव मानना और बरतना। इस दुर्भावना के समूल नष्ट होने में न जाने अभी कितना काल लग जायेगा। ऐसा लगता है कि वह मंज़िल अभी दूर है, बहुत दूर है। सबको 'आत्मवत्' समझना बड़ा ही कठिन है ! बल्कि अशक्य-सा है। मेरे अन्तराकाश में अभेद या अद्वैत की उस मंगल उषा का उदय अभी कहाँ हुआ !

पन्ना में खुलकर अस्पृश्यता-निवारण के जिस कार्यक्रम पर अमल नहीं कर सका था, उसे व्यावहारिक रूप देने का यहाँ खूब मुक्त वातावरण मिला। सबके साथ बैठकर काम किया। कभी-कभी अपने पाखाने भी साफ़ किये। मुझे डर था कि मेरी बूढ़ी माँ हमारे सहभोजों में कदाचित् सहयोग न दें। मगर दलित के हाथ का पानी वे पीती थीं।

१९२५ तक उनके सामने एकसाथ खाने का ऐसा कोई अवसर भी नहीं आया था । मगर जब हमलोग अपनी नई बस्ती में, हरिजन-निवास में, आकर रहने लगे, तब मुझे खटका हुआ। अगर माँ शामिल न हुईं, तब मेरे लिए तो यह क्लेश और लज्जा की बात होगी। या तो मुझे उस स्थिति में माँ से अपना बाह्य संबंध तोड़ना पड़ेगा, या फिर मुझे ही हरिजन-निवास से हट जाना होगा । मेरे लिए यह प्रश्न धर्म-संकट का था। मैंने उनके ऊपर कभी कोई खास दबाव भी नहीं डाला था। मगर एक दिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मैंने देखा कि हमारे बड़े रसोड़े में सबके साथ बैठकर वे रोटी खा रही हैं। उस दिन मेरे एक मित्र ने अपने पुत्र के विवाह के उपलक्ष्य में हमारे विद्यार्थियों और कार्यकर्त्ताओं को प्रीति-भोज दिया था । देखकर मैं गद्गद् होगया। मैं यह मानता हूँ कि मेरे प्रति उनका जो स्नेह था, मूलतः उसीसे प्रेरित होकर मेरी माँ सहभोज में सम्मिलित हुई थीं। कुछ भी हो, उन्होंने यह साहस का पग स्वयं ही उठाया था, और खुशी-खुशी। रूढ़िग्रस्त ब्राह्मण-घर में जिनका सारा जीवन बीता हो, उनके लिए सचमुच यह बड़े साहस का काम था।

लेकिन मैं स्वयं सूक्ष्मरूप के अर्थ में अस्पृश्यता का उन्मूलन कैसे करूँ? गांधीजी कहते हैं कि यह तो शुद्ध सेवा द्वारा ही संभव है। किंतु सेवा-धर्म की तीव्रता का मैं अबतक अनुभव नहीं कर पाया। दूसरे भले ही कहा करें कि मैं सेवा-कार्य में संलग्न रहा, पर मैं अपने-आपको झूठ-मूठ भुलावे में क्यों डालूँ? यदि मैंने सेवा-धर्म साधा होता तो उसका प्रत्यक्ष परिणाम आना ही चाहिए था—अर्थात् चित्त की

स्थिरता अथवा आध्यात्मिक जीवन की झाँकी। सो अभीतक तो ऐसा अमृतानुभव हुआ नहीं। ऐसा करने का मन तो बहुत होता है, पर कर नहीं पाता। सेवा और सेवक इन शब्दों के जो रूढ़ या प्रचलित अर्थ सुनने में आते हैं उनमें, मुझे लगता है, भूल हो रही है। जिस सेवा के द्वारा अहंकार का क्षय न होकर उलटे उसकी वृद्धि होती हो, वह सेवा कैसी ? जो सेवा-साधना अर्थ-बल पर ही आधार रखती हो, वह सेवा भी भला कोई सेवा है ? ऐसी जन-सेवा के प्रति स्वभाव से मेरी अरुचि ही रही है। सेवा को पेशे के रूप में देखकर मुझे दुःख ही हुआ है। सुना था कि 'सेवाधर्म' तो योगियों के लिए भी अगम्य है। पर सेवा-धर्म का अनुसरण करनेवाले को फिर भी योगारूढ़ तो होना ही चाहिए। उसका जीवन यथासाध्य संयमी, असंग्रही और तपःशील होना चाहिए। निश्चय ही राजनीति के कोश में जन-सेवा का यह अर्थ नहीं किया गया है। पर हमें उस कोश को देखने की आवश्यकता नहीं।

नक़ली चीज़ आँख के सामने पड़ी है, जो बड़ी लुभावनी है, पर छूने को जी नहीं करता। और जो असली है वह इतनी ज्यादा ऊँचाई पर है कि वहाँतक हाथ नहीं पहुँचता ! तब प्रश्न उठता है कि हरिजन-निवास में सारे दिन जो दौड़-धूप करता रहा वह सब फिर क्या थी ? वह और चाहे जो हो, पर सेवा-कार्य तो निश्चय ही नहीं। उसे मन-बहलाव का ही साधन माना। आसक्ति के बढ़ जाने से प्रसन्नता भी होती और खिन्नता भी। अहंकार के नित-नये अंकुर भी फूटते रहते। पर ग़नीमत रही कि वे बहुत बढ़ने नहीं पाये। इतना तो ध्यान रहा है कि मैं अधिकांशतः जो कुछ करता वह सेवा-धर्म की साधना नहीं है,

क्योंकि उससे मेरी अंतःशुद्धि नहीं हो रही है। तथाकथित या पेशेवर जन सेवकों की अपेक्षा तो कुछ साधारण लोगों में सेवा की भावना कहीं अधिक देखने में आती है, और उसमें सच्चाई भी होती है। उनकी सेवा-भावना अपने सहज गुण 'शील' का त्याग नहीं करती। हृदय के ही अज्ञात कोने में वह दबी पड़ी रहती है; कभी वह वाणी या लेख में प्रकट नहीं होती। अनासक्त भाव से वे प्यासे को पानी पिला देते हैं, भूखे को रोटी खिला देते हैं, रोगी की कुछ सेवा कर देते हैं और करके सहज ही भूल जाते हैं। उसका लेखा-जोखा नहीं रखते। उनका उसमें कोई हेतु भी नहीं रहता। किन्तु ऐसों की उपेक्षा और टीका भी की जाती है!

: ३७ :

हरिजन-निवास

हरिजन-सेवक-संघ को स्थापित हुए मुश्किल से एक साल हुआ होगा कि संघ के अध्यक्ष श्रीघनश्यामदासजी बिड़ला के मन में आया कि दिल्ली में क्यों न एक अच्छा-सा निःशुल्क हरिजन-छात्रावास स्थापित किया जाये। तब हमारे मन में उद्योग-शाला खोलने की कल्पना भी नहीं थी। तीन-चार स्थान हम लोगों ने जाकर देखे। अंत में पुरानी छावनी के पास, किंग्सवे सड़क पर, ढका गाँव के ज़मींदारों की २१ एकड़ ज़मीन तीस हज़ार रुपये में खरीद ली गई। ज़मीन की क़ीमत श्री-बिड़लाजी ने चुकाई। यह सन् १९३२ की बात है। जगह हमारे सद्-भाग्य से बड़ी सुन्दर मिल गई। शहर से तीन मील के फासले पर; पड़ोस में ढका और दहीरपुर ये दो गाँव; जमना मुश्किल से दो मील; नगर का कहीं कोलाहल नहीं; बिल्कुल एकान्त। यह वही जगह है, जहाँ १९११ में सुप्रसिद्ध दिल्ली-दरबार हुआ था। किंग्सवे सड़क बिल्कुल बेमरम्मत पड़ी थी। रात को अँधेरा रहता था। बिजली के खंभे तो दो बरस बाद लगे। सामने छूत की बीमारियों का एक टूटा-फूटा अस्पताल था। तपेदिक का विशाल अस्पताल तो यह पीछे बना।

हमारे वहाँ जाते ही हमारी हमदर्द पुलिस ने डराना शुरू किया—"जगह आप लोगों ने यह बड़ी ख़राब चुनी है। यहाँ आप मकानात बनाने तो जा रहे हैं, पर ध्यान रखिए, इलाका यह खतरनाक है। यहाँ आस-पास कंजड़ रहते हैं (हालाँकि कहीं एक भी कंजड़ नहीं था)। इस ज़मीन को खरीदकर आप लोगों ने गलती की। खबरदारी से रहिएगा।" लेकिन पुलिस की यह चेतावनी निर्मूल साबित हुई। गाँववालों ने हमें कोई खास तकलीफ़ नहीं दी। शुरू-शुरू में वे हमसे दूर अवश्य रहे, पर बाद को उन्होंने हम लोगों से परहेज़ नहीं रखा। एक-दो घरों के साथ तो हमने खासा भाईचारा भी बढ़ा लिया।

हरिजन-निवास के इस विस्तार की, इस विशाल रूप की तब हमारे मन में कल्पना भी नहीं थी। आज तो यह दिल्ली में एक अच्छा दर्शनीय स्थान बन गया है। सबसे पहले हमने गांधीजी के लिए बड़ी जल्दी में—शायद बीस दिन के अन्दर—दो छोटे-छोटे कमरों का एक पक्का मकान खड़ा किया था। गांधीजी ने यहाँ आकर एक मास रहने की इच्छा प्रकट की थी। ज़मीन की ठीक तरह से सफ़ाई भी नहीं हो पाई थी। सारी जगह बीहड़ पड़ी थी। जहाँ-तहाँ झाड़-झंखाड़ खड़े थे। गांधीजी की कुटियातक जाने का रास्ता भी तैयार न हो पाया था। फिर भी उनके उस एक मास के निवास ने इस निर्जन स्थान को जनाकीर्ण और आकर्षक बना दिया। साँझ की प्रार्थना में हज़ारों की संख्या में लोग आते थे। संघ का दफ्तर अभी बिड़ला-मिल में ही था। हम लोग सब्जीमंडी में, वहीं उसके आस-पास, रहते थे। गांधीजी के दर्शनार्थ हम लोग भी सबकी भाँति सवेरे या साँझ को यहाँ पहुँच जाते थे।

गांधीजी के निवास-काल में निश्चय हुआ कि संघ का दफ्तर जल्दी ही यहाँ लाया जाये, कार्यकर्त्ता भी सब यहीं पर रहें और छात्रावासों के साथ एक उद्योग-भवन भी खोला जाये। गांधीजी ने अपने हाथ से, २ जनवरी १९३५ को, हरिजन-निवास की आधार-शिला रखते हुए अपने भाषण में कहा—"जिस स्थान पर मैं आज यह शिलारोपण कर रहा हूँ, ईश्वर करे, उसकी खूब उन्नति हो, और यह स्थान एक तीर्थ-क्षेत्र बन जाये।" बिड़लाजी ने भी ऐसी ही इच्छा उस मंगल अवसर पर प्रकट की। कहा—"हम चाहते हैं कि जिस तरह सूर्य से सब लोग प्रकाश पाते हैं, उसी तरह यह स्थान सारे भारत को अपना प्रकाश-दान दे।" देखें, यह बड़ी-बड़ी कामनाएँ कब पूरी होती हैं।

एक बरस के भीतर ही कई छोटे-बड़े मकान मेरे मित्र आचार्य मलकानीजी की देख-रेखमें तैयार होगये। १९३५ के अंत में हम लोग अपनी इस नई बस्ती में आकर बस गये। हमारे यहाँ आने के चार-पाँच महीने बाद छोटा-सा एक उद्योग-भवन और दो छात्रावास भी तैयार होगये। सात या आठ लड़कों को लेकर आचार्य मलकानीजी ने १९३६ के मार्च में उद्योग-भवन खोल दिया। पहले इस संस्था का नाम 'हरिजन इण्डस्ट्रियल होम' था, बाद को 'हरिजन-उद्योगशाला' नाम रख दिया गया।

अंग्रेज़ी अख़बारों में इस स्थान का शुरू-शुरू में 'हरिजन कालोनी' नाम निकल गया, और वह प्रसिद्धि भी पागया। गांधीजी ने 'हरिजन-निवास' नाम पसन्द किया और ताँगेवाले इसे 'गांधी-आश्रम' के नाम से पुकारने लगे। हरिजन-निवास का धीरे-धीरे काफ़ी विस्तार

होने लगा है। उद्योगशाला, भोजनालय, नौ छात्रावास, अतिथि-भवन, संघ का प्रधान कार्यालय तथा कस्तूरबा-कुटीर तो हैं ही, पर दर्शकों की दृष्टि में अधिक आकर्षक प्रार्थना-मंदिर और धर्मस्तम्भ हैं। प्रार्थना पहले खुले मैदान में हुआ करती थी। हमारे मित्र श्रीव्रजकृष्ण चाँदीवाले ने अपनी पूज्य माता स्व० जानकीदेवी की पुण्यस्मृति में हरिजन-निवास की भूमि पर एक स्मारक वनाने की सदिच्छा प्रकट की। मेरी सलाह और गांधीजी के अनुमोदन पर उन्होंने प्रार्थना-मंदिर का निर्माण कराया। शिलारोपण इस मंदिर का गांधीजीने किया और उद्घाटन भी उन्हींके हाथ से हुआ। तब से इसी मंदिर में दोनों समय सामूहिक प्रार्थना होती है।

और, धर्मस्तम्भ श्री सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने वनवाया। बहुत दिनों से उनकी इच्छा थी कि हरिजन-निवास में अशोक-स्तंभ की आकृति का एक ऊँचा पाषाण-स्तम्भ निर्माण कराया जाये और उसके ऊपर ऋषियों व महात्माओं की कुछ चुनी हुई सूक्तियाँ खुदवाई जायें। गांधीजी ने यह समझकर कि उनके नाम से यह स्तम्भ खड़ा किया जा रहा है, इस कल्पना को नापसन्द किया। पर हम लोग वास्तव में कोई 'गांधी-स्तंभ' बनाने नहीं जारहे थे, यद्यपि जनसाधारण में अपने आप यह स्तंभ 'गांधी की लाट' के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। स्तंभ यह लाल पत्थर का है। ऊँचा ६२ फुट है। कला की दृष्टि से, लोग मानते हैं, स्तंभ सुन्दर है। शिखर की आधार-चौकी की पूर्व दिशा में चर्खा, उत्तर में कमल, पश्चिम में धर्मचक्र और दक्षिण में गाय की मूर्त्ति अंकित की गई है। मूलस्थान पर, जो चौकोर है, अनेक धर्म-

सूक्तियाँ खुदी हुई हैं। उपनिषदों के मंत्र, गीता के श्लोक, बुद्ध भगवान् की सूक्तियाँ और गांधी-सुवचन नीचे के चौकोर भागों पर, और खास स्तंभ के कुछ ऊपर के भाग पर भी वेद-मंत्र, महाभारत के श्लोक तथा महावीर तीर्थङ्कर की वाणी को खुदवाया गया है। धर्म-स्तंभ का चबूतरा भी खासा सुन्दर है, जहाँ गर्मियों में हमारी सामूहिक प्रार्थना हुआ करती है।

दो नये भवन और तैयार हो रहे हैं—एक तो 'विद्या-मन्दिर' और दूसरा "श्रीमहादेव देसाई-पुस्तकालय तथा संग्रहालय"

यह हुई हमारे हरिजन-निवास की बाह्य शोभा । मैं रह-रहकर यह सोचता रहा कि स्थान तो यह सचमुच खासा सुहावना बन गया है, किन्तु इसकी कुछ आंतरिक शोभा भी है या नहीं ? गांधीजी ने अपने पदार्पण द्वारा इस स्थान को कई बार पुनीत किया, इस कारण भावुक भक्तों की दृष्टि में यह एक पुण्यस्थान हो सकता है। वर्ष में सात-आठ मास प्रवास में रहते हुए भी हमारे परिव्राजक बापा ने भी हरिजन-निवास को अपना 'निज घर' माना, इसलिए भी हम कार्यकर्त्ताओं के मन में इसके प्रति एक प्रकार का आकर्षण हो सकता है। उद्योगशाला की शोभा भी बाह्य ही है। किंतु हरिजन-निवास में ऐसा और क्या है, जिससे उसकी आन्तरिक शोभा भी प्रकट होती हो ? त्याग, तप या सेवा की थोड़ी-सी भी भावना और साधना हम कार्यकर्त्ताओं के अन्दर हो, तो इस सुन्दर स्थान की आंतरिक आभा अपने आप प्रदीप्त हो उठे। हमारा रहन-सहन निश्चय ही लोक-सेवकों के जैसा नहीं बन पाया। हमारे अन्दर धर्म-शासन के प्रति

आदर की भावना नहीं आई। एक जगह बैठकर घड़ी-आध घड़ी हम कभी आत्म-चिन्तन या आत्म-निरीक्षण करते हैं? नियमित रूप से हम प्रार्थनातक में तो सम्मिलित होते नहीं। हमारा काफ़ी समय व्यर्थ प्रमाद में चला जाता है। चित्त-वृत्तियों का झुकाव प्रायः लोभ और मोह की ओर रहता है। बँधे हुए दफ्तरी काम के अतिरिक्त शरीर से हम और क्या सेवा-कार्य करते हैं? हमारा यह सारा जीवन-क्रम हमें शोभा देने-वाला नहीं है। मेरे सामने हम हरिजन-निवास के निवासियों की अन्तः-स्थिति का यह चित्र रहा। हमें अपनी इस स्थिति पर कभी ग्लानि भी नहीं हुई। उलटे, हम इस अहंकार को आश्रय दिये बैठे रहे कि हम लोग एक महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य कर रहे हैं। तब केवल ईंट-पत्थरों से प्रकट होनेवाली शोभा किसी जनस्थान को शाश्वत सौन्दर्य कैसे प्रदान कर सकती है?

ग़नीमत है कि हमने अपने इस स्थान को 'आश्रम' का नाम नहीं दिया। किन्तु 'हरिजन-निवास' नाम भी कोई कम जिम्मेवारी का नहीं है। इस स्थान के निवासियों को हरिजन, अर्थात् भगवान् के जन या जनता-जनार्दन के सेवक बनने का प्रयत्न करना ही चाहिए। तभी यह स्थान अपनी आंतरिक शोभा को, अपनी सच्ची सुन्दरता और सुगंध को प्रस्फुटित कर सकेगा।

: ३८ :

दिल्ली के ये नरक

दिल्ली की इस हरिजन-बस्ती को देखने के लिए लोग अक्सर एक दूसरी ही कल्पना लेकर आते थे। वे समझ लेते थे कि वहाँ फूस या टीन के छप्पर की चंद झोपड़ियाँ होंगी, और उनमें हरिजनों के कुछ ग़रीब कुटुम्ब रहते होंगे। पर यहाँ आकर वे अपनी कल्पना से बिलकुल ही उल्टा पाते। इच्छा होते हुए भी हम यहाँ कच्चे घर न बना सके। यह जगह दिल्ली के सिविल लाइन के इलाके में आती है। यहाँ पर लागू होनेवाले नोटीफाइड एरिया के क़ायदे-क़ानून लगभग वैसे ही हैं, जैसे कि नई दिल्ली के। इसलिए बाध्यतः हमें यहाँ पक्के मकान बनाने पड़े, और कुछ इमारतें हमने खासी शानदार भी बना डालीं। हमारे ऐसा करने के पक्ष-विपक्ष में काफ़ी दलीलें दी जासकती हैं। मगर हरिजन-बस्ती का जो अर्थ आज लिया जाता है, उस अर्थ से संघ की यह बस्ती कोसों दूर है। हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अछूत-बस्तियों की आज जो बहुत बुरी हालत देखने में आती है, भारत की राजधानी दिल्ली भी उससे अछूती नहीं है। यहाँ भी आपको वैसे ही अनेक वीभत्स दृश्य देखने को मिलेंगे।

बहुत कोशिश करने पर दिल्ली की शाही म्यूनिसिपैलिटी ने तीन-चार बस्तियों में कुछ थोड़ा-सा सुधार कर दिया है, पर अधिकांश की हालत आज भी वैसी ही बदतर है, जैसी कि पंद्रह साल पहले थी। 'हरिजन-सेवक' के संपादन-कार्य से जो थोड़ा-बहुत अवकाश मिलता था, उसका उपयोग मैं अधिकतर दिल्ली की हरिजन-बस्तियाँ देखने में करता था। मुझे लगा कि मनुष्य को ऊपर से देखकर ही हम उसके सुन्दर रूप की कल्पना कर लिया करते हैं। कौन देखता है कि उसके शरीर के भीतर क्या-क्या भरा पड़ा है। भीतर के भाग को झाँककर देखें तो शायद हम अपनी आँख और नाक बंद करलें, ऊपर का उसका सारा रूप-सौन्दर्य हमारी आँखों से ओझल होजाये। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका बाह्य सौन्दर्य भीतर के कुरूप यंत्रों पर ही निर्भर करता है। इसी तरह दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई-जैसे शहरों के भड़कीले भागों को ही हम देखते हैं; वहाँ की नरकतुल्य बस्तियों पर हमारा कभी ध्यान भी नहीं जाता, जिनपर इन शाही शहरों का सारा स्वास्थ्य, अर्थात् सौन्दर्य निर्भर करता है।

दिल्ली की जिन बस्तियों के संस्मरण मैं नीचे देरहा हूँ, उनका वह रूप आज देखने में नहीं आरहा, जो पंद्रह साल पहले मैंने देखा था।

सबसे पहले श्रद्धानन्द-बाज़ार की नई बस्ती को लेता हूँ। यह छोटी-सी बस्ती शहर के एक समृद्ध भाग के ठीक बीच में है। १९३३ के साल में दिल्ली में बड़े ज़ोर की बारिश हुई थी। पचासों कच्चे घर ढह गये थे। आफ़त तो वैसे सभी ग़रीबों पर आई थी, पर मेहतरों

का तो बहुत बुरा हाल था। औरों को फिर भी खड़े होने को तो जगह मिल गई थी, पर मेहतरों को तो किसीने अपनी छत के नीचे खड़ा भी नहीं होने दिया था।

नई बस्ती का बुरा हाल था। छोटी-छोटी कोठरियों में एक-एक, डेढ़-डेढ़ फुट पानी भरा हुआ था। छतों से धार लग रही थी। पानी निकलने को कहीं जगह नहीं, और फर्श बिलकुल कच्चा। कोठरियों के आगे बरामदा भी नहीं कि जहाँ वे अपना सामान तो उठाकर रख लेते। वहाँ पानी में पड़ा सब भीग रहा था। मैला उठाते, मोरियाँ साफ़ करते और कचरा ढोते-ढोते दिन तो यों मूसलाधार वर्षा में किसी तरह गुज़ार दिया, पर रात कैसे काटें? कहाँ तो बेचारे अपना खाना पकायें, कहाँ खायें-पियें, और कहाँ सोयें?

उनकी छोटी-छोटी कोठरियाँ सार्वजनिक पाखाने के पास बनी हुई थीं। मैंने देखा कि बमपुलिस और कोठरियों के बीच के रास्ते पर एक जगह उन्होंने दो टुटली चारपाइयाँ खड़ी कर रखीं थीं। ऊपर उनके फटा कंबल और कुछ चीथड़े डाल लिये थे। एक बूढ़ा जमादार और आठ-दस बच्चे सर्दी से काँपते हुए उसीके नीचे सिकुड़े बैठे थे। खाना उनका उसी 'खाटघर' में पकाया गया था। सामने बमपुलिस की बदबू, और कोठरियों के अन्दर से पानी और मिट्टी की सड़ायँद। कपड़े-लत्ते सारे भींगे पड़े थे, तिल रखने को भी कहीं जगह नहीं थी।

दूसरे दिन ठक्कर बापा को भी ले जाकर मैंने यह बस्ती दिखाई। उन्होंने म्यूनिसिपालिटी पर पूरा ज़ोर डाला, तब कहीं कमेटीवालों ने पाँच-सात बस्तियाँ खुद जाकर देखीं। उनकी दर्दनाक हालत को देखकर

कमेटी का दिल कुछ पसीजा। फलतः तात्कालिक सुधार के लिए उसने बड़ी उदारता से शायद दो हज़ार रुपये की मंजूरी दी और उस रुपये से तीन-चार बस्तियों की मामूली-सी मरम्मत करादी गई। हमने कहा—खैर, खाली समुन्दर में एक बूँद पड़ी तो! बाद को इस बस्ती को नये सिरे से बना दिया गया।

'सुईवाला' बस्ती जबतक नहीं देखी थी, तबतक मैं नई बस्ती को ही दिल्ली शहर की सबसे गन्दी बस्ती समझता था। 'सुईवाला' को देखकर तो मैं दंग रह गया। इस बस्ती का तब यह चित्र था:—

एक छोटे-से अहाते के अन्दर दस कोठरियाँ, और उनके सामने मोहल्ले की आम टट्टियाँ बनी हुई थीं। कोठरियाँ ये कमेटी की थीं। इनमें सब मिलाकर ४५ मानव-प्राणी रहते थे। छतें पक्की थीं, पर बरसात में जगह-जगह से पानी टपकता था। दीवारें बिल्कुल जीर्ण हो चुकी थीं। कोठरियों की बहुत ही बुरी दशा थी। ठीक सामने बमपुलिस; मैले की बाल्टियाँ हमेशा भरी और खुली हुईं। बाल्टियाँ खींचने के छेद कोठरियों के बिल्कुल सामने, मुश्किल से १५ फुट के फासले पर। पेशाब और पाखाने का गंदा पानी दूसरी तरफ़ की कोठरियों के आगे से बहता था। उसी छोटे-से अहाते में, कोठरियों के बिल्कुल पास, 'डलाव' था, जहाँ कचरे की तीन-चार गाड़ियाँ रखी रहती थीं। कचरा जलाते भी उसी जगह पर थे। धुएँ से बस्तीवालों का दम हरघड़ी घुटता रहता था।

मैं जब इस बस्ती को देखने गया, तब कुछ स्त्रियाँ बमपुलिस के सामने बैठी रोटी खा रही थीं। ठिठककर मैं वहीं खड़ा हो गया, पूछ-

ताछ करने की हिम्मत न हुई। मुझे देखकर एक बुढ़िया हँस पड़ी, और थाली को आगे से सरकाती हुई बोली—

"क्या खड़े-खड़े देखते हो बाबूजी? मेहतरों की ही जाति ऐसी सूर-बीर है, जो बरसों से इस नरक में रह रही है। हमारी नाक के आगे मैला बदबू मार रहा है, और हम लोग चार क़दम के फासले पर रोटी खा रहे हैं। है कोई ऐसी सूर-बीर जाति?"

बस्ती देखने को आया हूँ, तो बग़ैर एक-दो प्रश्न पूछे वापस जाना ठीक नहीं लगा। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारे बच्चे माई, कहीं किसी मदरसे में पढ़ने जाते हैं?" एक बहन ने बड़े तपाक से जवाब दिया--"जो आते यही पूछते आते हैं। कोई बच्चों के पढ़ने की बात पूछता है, तो कोई कर्ज़े की बात। आते हैं और पूछ-ताछकर चले जाते हैं। करते कराते कोई कुछ नहीं। अजी, कुछ कर सको तो सबसे पहले हमें इस नरक-कुंड से निकालो न, पीछे पढ़ने-लिखने की बात करना।"

बुढ़िया का कहना बिल्कुल सच था। हमारी रोज़-रोज़ की यह कोरी पूछ-ताछ उनके किस काम की, अगर हम उनके लिए तुरन्त कुछ करा नहीं सकते? अन्धे को तो आँखें चाहिएँ। मुझे लगा कि मैंने ऐसा व्यर्थ का प्रश्न पूछकर सचमुच भूल की।

इन्हीं दिनों ठक्कर बापा के साथ अजमेरी दरवाज़े की बस्ती देखने का संयोग हुआ। पुरानी दिल्ली से नई दिल्ली में प्रवेश करने का प्रमुख राजद्वार यही दरवाज़ा है। इस बस्ती की जो हालत तब थी, वही लगभग आज भी है। इसे दो बार गांधीजी भी देख आये हैं—एक बार तो १९३५ में और दूसरी बार, ग्यारह वर्ष बाद, १९४६ में।

बरसों से सुनते आ रहे कि यह नरक-जैसी बस्ती यहाँ से उठा दी जायेगी, पर हुआ कुछ भी नहीं।

इस बस्ती का चित्र आज भी मेरी आँखों में वैसे-का-वैसा झूल रहा है। वह यह है। अजमेरी दरवाज़े की बाईं ओर, शह्र-पनाह के नीचे और गन्दे नाले के ऊपर, मेहतरों की यह बस्ती बसी है। बस्ती की एक ओर बमपुलिस और वहीं ढलाव भी, जहाँ पाँच-छह गाड़ियाँ मैले से भरी हमेशा खड़ी रहती हैं। कचरा यहाँ पड़ा सड़ता रहता है। गंदा नाला कोई छह फुट गहरा है। गन्दे नाले का साफ़ किया हुआ कीचड़ उसी जगह पड़ा रहता है, जबतक कि वह धूप से सूख नहीं जाता, या बरसात का पानी बहा नहीं ले जाता। किनारे पर कोई ऊँची आड़ न होने से बच्चे कभी-कभी नाले में गिर जाते हैं; एक तो उसमें गिरकर मर भी गया था। दुर्गन्ध के मारे खड़ा होना भी वहाँ मुश्किल है।

अंगूरी घट्टेतक इस बस्ती में तब ५० परिवार रहते थे। बाद को तो काफ़ी जन-संख्या बढ़ गई, और गन्दे नाले की दूसरी तरफ़ भी कई कच्ची झोंपड़ियाँ डाल ली गईं। ये मेहतर सभी दिल्ली म्यूनिसिपालिटी के मुलाज़िम हैं। पर केवल ८ परिवारों को कमेटी ने रहने को कोठरियाँ दी हैं। ये १० फुट चौड़ी और १५ फुट लंबी हैं। आगे ६ फुट का बरामदा। शहरपनाह की पुरानी दीवार के सहारे बरसात का पानी कोठरियों में भर जाता। बाकी झोपड़ियाँ इन लोगों ने खुद खड़ी करलीं। छतें टीन के टुकड़ों, टाट के चीथड़ों और सिरकियों से छाली हैं। इन लोगों को उन दिनों पीने के पानी का बड़ा कसाला था। बाद को एक नलका लगा दिया गया। पानी तब झटके के एक क़त्लगाह से लाया करते

थे। जब वह खुला होता, तभी पानी वहाँ मिल सकता था, वरना नहीं। जानवरों के खेल से या पास के गन्दे तालाब से भी, जो अब पाट दिया गया है, ये लोग पानी लाते थे। रोशनी का कुछ भी इन्तज़ाम नहीं था। एक मैली-सी लालटेन बमपुलिस के अन्दर टिमटिमाया करती थी, उसीका कुछ प्रकाश रास्ते पर पड़ जाता था।

मेहतरों के गरूजी (गुरूजी) साधु गोपालदास यहाँ पर एक झोपड़ा डालकर रहा करते थे। उनके प्रभाव से बस्ती के कई लोगों ने शराब पीना बिल्कुल छोड़ दिया था। रात्रि-पाठशाला भी कई महीनेतक कालेज के कुछ विद्यार्थियों ने यहाँ चलाई थी, पर जगह का ठीक इन्तज़ाम न होने के कारण उनका उत्साह मंद पड़ गया, और वह पाठशाला बन्द होगई।

नीचे बस्ती हरफूलसिंह का वर्णन देकर इस नरक-प्रकरण को समाप्त करता हूँ।

लार्ड इर्विन ने इस बस्ती को देखकर 'डेथट्रेप' (मौत का फंदा) कहा था। गांधीजी भी इसे देखकर बहुत व्यथित हुए थे। यह बस्ती अब वहाँ से उठा दी गई है। आज तो उस जगह आलीशान इमारतें देखने में आती हैं। वहाँ के पहले के निवासियों को अब अन्यत्र अच्छी जगह पर बसा दिया गया है।

उन दिनों, याने १९३४ में, बस्ती हरफूलसिंह की बहुत बुरी हालत थी। लगभग पाँच हज़ार की आबादी थी। ज़मीन का मालिक तो एक जाट था, पर मकान बस्तीवालों के अपने थे। उन्हें ज़मीन का किराया हर साल भरना पड़ता था। म्यूनिसिपालिटी हाउस-टैक्स वसूल

करती थी, और ज़मींदार साहब अपनी ज़मीन का भाड़ा। पर यह मोहल्ला दिल्ली का घोर नरक था। छोटी-छोटी ऊँची-नीची यहाँ बीसियों गंदी गलियाँ थीं। नालियों का कहीं नाम भी नहीं था, कचरा और मल-मूत्र घरों के सामने पड़ा सड़ा करता था। एक-एक फुट गहरा कोलतार के जैसा काला-काला मल-मूत्र-मिश्रित गाढ़ा पानी ऐसी बदबू मारता था कि जी मिचलाने लगता था। रात को उन गंदी गलियों से गुज़रना मुश्किल हो जाता था। कमेटी की तरफ़ से बस्ती में रोशनी का कुछ भी इन्तज़ाम नहीं था।

एक दिन हम लोगों ने 'मातृ-मन्दिर' की बहनों के साथ जाकर इस बस्ती के एक हिस्से की सफ़ाई की। स्व० सत्यवतीदेवी तथा दूसरी बहनों ने एक गली का मल-मूत्र और गंदा पानी तसलों में भर-भरकर फेंका। इससे म्यूनिसिपालिटी कुछ-कुछ कुलमुलाई। फलतः दूसरे दिन कमेटी ने अपने कुछ मेहतरों को बस्ती की सफ़ाई करने के लिए वहाँ भेजा। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, अब वह बस्ती स्थानान्तरित करदी गई है। भारत की राजधानी दिल्ली के माथे पर लगी हुई कलंक की कम-से-कम एक रेख तो पुँछ गई।

: ३६ :

कलकत्ते के वीभत्स दृश्य

मैं यह लिख चुका हूँ कि 'हरिजन-सेवक' घाटे पर चलता था, और ग्राहक-संख्या बढ़ाने की मुझे हमेशा चिन्ता रहती थी। ग्राहक बनाने के लिए एक-एक मास का अवकाश निकालकर मैं दो बार बाहर गया था। इस सिलसिले में मध्यप्रान्त और मध्यभारत के कुछ शहरों तथा कलकत्ते की हरिजन-बस्तियाँ देखने का अच्छा अवसर मिला था। एक पन्थ दो काज हो जाते थे। सबसे खराब बस्तियाँ बड़े-बड़े शहरों में ही मेरे देखने में आई थीं। छोटे शहरों व क़स्बों की नई बस्तियाँ फिर भी अपेक्षाकृत अच्छी और साफ़-सुथरी थीं। कलकत्ते की बस्तियों की तो कोई तुलना ही नहीं। हरिजन-उत्थान-समिति के परिश्रमी कार्यकर्त्ता नृसिंहदासजी के साथ मैंने कलकत्ते की कोई १५ बस्तियाँ सन् १६३४ में देखी थीं। वहाँ की हालत को देखकर एक बार पत्थर भी पसीज उठता, पर कलकत्ता-कारपोरेशन पर कुछ भी असर न पड़ा। सचमुच कलकत्ते के नागरिकों के लिए, वहाँ के शाही कारपोरेशन के लिए और बंगाल-सरकार के लिए भी यह बड़ी शर्म की बात है। हमारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय हरिजन-सेवक-संघ भी कुछ न करा सका।

शुरू-शुरू में संघ के कुछ प्रतिष्ठित सदस्य 'सेवा-भाव' से एक-दो बार बस्तियों का सिर्फ चक्कर लगा आये थे। बाद को शायद ही वे वहाँ कभी गये हों। ये लोग अपनी-अपनी मोटरों पर बस्तियों का निरीक्षण करने गये थे। एक डोम ने हमें बतलाया कि उन बड़े-बड़े बाबू लोगों ने तो ठीक तरह से बात भी नहीं की थी; जबतक खड़े रहे, नाक पर से रूमाल नहीं हटाया।

हाजरा डिपो, बीबी बागान और मेहदी बागान इन बस्तियों का ही वर्णन मैं यहाँ दूँगा।

हाजरा डिपो की बस्ती कारपोरेशन की अपनी बस्ती है। इसमें मेहतर, डोम और हाड़ी रहते हैं। कारपोरेशन ने अपने आदमियों के लिए कृपाकर हाजरा डिपो में छोटी-छोटी कच्ची कोठरियाँ बनवा दी थीं। मुश्किल से एक कोठरी में दो आदमियों के लिए जगह थी; पर मैंने एक-एक कोठरी में पाँच-पाँच, छह-छह आदमियों को रहते हुए देखा। चार आने फी आदमी ज़मीन-भाड़ा वसूल किया जाता था। बस्ती से बिल्कुल सटा हुआ डलाव था, जहाँ सारे दिन मैले की गाड़ियों का जमघट लगा रहता था; और उसी जगह बमपुलिस भी थी। नालियों में भी मैंने गंदा सड़ा पानी ठिला हुआ देखा। कुछ झोपड़ियाँ ऐसी भी देखीं, जिनपर छप्पर भी नहीं था। छप्पर की जगह टाट के चीथड़े और कनस्तरों के टुकड़े डाल रखे थे।

बीबी बागान की बस्ती को तो साक्षात् 'नरक-धाम' कहना चाहिए। बारहों मास वहाँ गंदा पानी भरा रहता। और घर क्या, कनस्तर की टीन के छप्पर और टाट के चीथड़ों से मढ़ी हुई बाँस की दीवारें।

बड़ा वीभत्स दृश्य था वह मलेरिया का खास अड्डा।

पर जब मेहदी बागान की बस्ती जाकर देखी, तो मेरे आश्चर्य और व्यथा का पार न रहा। यह मोहल्ला तो रौरव था। दो-दो कतारों में तीन तरफ़ यह बस्ती बसी हुई थी। दोनों कतारों के बीच केवल ४ फुट का फासला था। एक कोठरी को मैंने नापा तो वह ८ फुट लम्बी और ७ फुट चौड़ी निकली। और किराया ५) माहवार। खाना लोग उसी सँकड़ी गंदी गल्ली में पकाते थे, पर बरसात के दिनों में तो उन्हें उस काल-कोठरी में ही गुज़र करनी पड़ती थी। बस्ती के नज़दीक मैदान भी नहीं था कि जहाँ बेचारे बैसाख-जेठ की दमघोट ऊमस में खटिया डालकर तो सो जाते।

मेरे मित्र नृसिंहदासजी उसी दिन दो-तीन बस्तियाँ और दिखाना चाहते थे, पर देखने की तबीयत नहीं हुई। हम दोनों वहीं से वापस लौट आये। उन सब दृश्यों को देखकर मन में भारी वेदना हुई। सोचने लगा—यह सब क्या है? धन-कुबेरों की इस अलकापुरी में ये घोर नारकीय जन-स्थान! एक ओर तो बड़ा बाज़ार और धर्मतल्ला, और दूसरी ओर ये वीभत्स बस्तियाँ! जिस कारपोरेशन की करोड़ों की आय हो, क्या वह दस-बीस लाख रुपया भी इन नरक-जैसी बस्तियों पर खर्च नहीं कर सकता? पर जाने दो कारपोरेशन को, उसे तो अपने रोज़मर्रा के आपसी लड़ाई-झगड़ों से ही फ़ुर्सत नहीं—सैकड़ों लखपती और बीसियों करोड़पति कहाँ चले गये, जो अविवेकपूर्ण दान-पुण्य पर हर साल लाखों रुपया पानी की तरह बहा देते हैं? फिर यह कोई दान की भी बात नहीं। जितना रुपया नई बस्तियों के बसाने पर

लगायेंगे, वह धीरे-धीरे सब-का-सब वसूल हो जायेगा। ऐसे-ऐसे नरक-स्थानों के रहते नई-नई धर्मशालाएँ, नये-नये मन्दिर और नये-नये बाग-बगीचे बनवाना क्या महामूर्खता और मानवता के प्रति घोर निर्दयता और कृतघ्नता नहीं है ?

उस दिन न जाने ऐसे कितने विचार मन में आये। सारे दिन बेचैनी-सी रही। रात को देरतक आँख नहीं लगी। वे वीभत्स दृश्य रह-रहकर आँखों के सामने आ जाते थे। बिस्तरे पर से उठ बैठा, और अस्पृश्यता-निवारण-कार्य के कुछ कागज-पत्र उलटने लगा। पानी के कष्ट की कितनी ही रिपोर्टें पढ़ डालीं, जिससे तबीयत और भी बिगड़ी। पानी के देश खुद बंगाल की भी क्या दशा है, यह जानकर तो और भी अधिक मनोव्यथा हुई।

खादी-प्रतिष्ठान के कर्मठ संचालक श्री सतीश बाबू ने दूसरे दिन मुझे बताया—"कहने को तो हमारा यह प्रान्त नदियों और तालाबों का प्रदेश है, पर गर्मियों में तो यहाँ भी धूल उड़ती है। पानी का अकाल कहीं-कहीं पर तो माघ के महीने से ही शुरू हो जाता है। और पीने का अच्छा पानी तो चौमासे में भी ठीक तरह से नहीं मिलता। बाढ़ें आती हैं, और खेतों व सड़कों को डुबो देती हैं। पानी पूरे जोश के साथ आया, और खेलता-कूदता चला गया। जल की यह प्रचुरता—वह भी ग़रीबों के हक़ में दुःखदायी—थोड़े दिनों ही रहती है। धीरे-धीरे बाढ़ों का पानी सूखने लगता है। दो-तीन महीनेतक गंदे पानी के पोखरे भरे रहते हैं। पर फर्वरी से लेकर अप्रैलतक तो बड़ी ही बुरी हालत रहती है। हमारे देहातों में पानी का काफ़ी कष्ट रहता है।

"घरों के नीचे छोटे-बड़े हर आकार के आप जो खड्ड देखते हैं, उनसे किसी तरह काम चलता रहता है। ये खड्ड भी क्या हैं—मेढ़कों के घर, सड़े-गले पत्तों और कचरे के आश्रय-स्थान! हरा-हरा सड़ा पानी, दुर्गन्ध और गंदगी; मनुष्य भी वहाँ नहाते-धोते हैं, और वहीं जानवर भी। कीड़े पड़ जाते हैं, बदबू आती है, फिर भी लोग वहीं का गँदला पानी ला-लाकर पीते हैं! गर्मियों में ये 'डोवा' भी सूख जाते हैं। तब बड़े आदमियों के तालाबों से पानी लेने लोग मीलों जाते हैं। पर वहाँ भी पानी गंदा ही मिलता है। जानवरों की तो और भी दुर्गति होती है। पानी न मिलने से कितने ही पशु बिना मौत के मर जाते हैं। पेचिश और हैजे का भी बंगाल में इन दिनों खूब प्रकोप रहता है।"

"सुना है कि आपने कुछ गाँवों में पानी के संबंध में जाँच कराई है। जल-कष्ट आप वहाँ किस तरह दूर करेंगे?" मैंने पूछा।

"पानी की 'सर्वे' करने के लिए हम लोग गाँवों में जाते हैं, तो लोग यह आशा बाँध लेते हैं कि उनका जल-कष्ट बस, अब दूर होने ही वाला है! उनकी यह आशा कैसे पूरी हो? बंगाल के ज़िला-बोर्ड लगभग सात लाख रुपया सालाना पानी पर खर्च करते हैं, पर हालत जैसी थी, आज भी प्रायः वैसी ही है। यह सारा रुपया मध्यम वर्ग के हलकों और मोहल्लों पर खर्च होता है। बोर्डों में गरीबों की सुध लेनेवाले कहाँ हैं? उनका जल-कष्ट जैसा था वैसा ही बना हुआ है। प्रश्न यह एक-दो गाँवों का नहीं, हज़ारों गाँवों का है।"

दोपहर को खादी-प्रतिष्ठान से वापस आया। नृसिंहदासजी का आग्रह था कि कलकत्ते की कम-से-कम दो बस्तियाँ और देखलूँ। पर मेरी

हिम्मत न पड़ी। हाजरा डिपो के एक डोम के ये शब्द अबतक मेरे कानों में गूँज रहे थे—"आप लोग करते-धरते तो कुछ हैं नहीं, रोज़-रोज़ हमें देखने आ जाते हैं। क्या हमारी बस्ती कोई अजायबघर है ? आखिर आप लोग यहाँ क्या देखने आते हैं ?"

कलकत्ते में मुझे अब कुछ नहीं देखना था। केवल स्व० पूर्णचन्द्र नाहर का संग्रहालय देखना था, जो दूर-दूरतक प्रसिद्ध था। उन्हें मैं वचन दे चुका था। पुरातत्त्व के शोधकों के काम की इस संग्रहालय में काफ़ी सामग्री थी। प्राचीन-से-प्राचीन प्रस्तर और धातु की मूर्तियों, सिक्कों, चित्रों और हस्तलिखित तथा अप्राप्य मुद्रित पुस्तकों का यह बड़ा सुन्दर संग्रहागार था। तीन घंटेतक नाहरजीने मुझे अपने संग्रहालय की एक-एक चीज़ बड़े प्रेम से दिखाई। सूक्ष्मता से यदि कुछ देखता, तब तो शायद वहाँ कई दिन लग जाते। मैंने तो सब बिहंगमदृष्टि से ही देखा।

एक चीज़ इस संग्रहालय में मैंने बड़े काम की देखी। वह 'इण्डियन माइक्राकाज्म' था। सन् १८२८ में मद्रास के जे० गेंज एण्ड सन् ने इसे प्रकाशित किया था। इसमें कुछ तो बड़े ही सुन्दर चित्र थे। चित्रों में रंग हाथ से भरे गये थे। कई सुन्दर चित्र देखने के बाद मेरी दृष्टि पनिहारिनों के एक चित्र पर पड़ी। यह २० नम्बर का प्लेट था। चित्र बड़ा मनोमोहक था। उसमें एक ग्राम का दृश्य दिखाया गया था—सम्पन्न सवर्ण स्त्रियों के हाथों में पीतल और ताँबे के घड़े थे, और ग़रीब दरिद्र स्त्रियों के हाथों में मिट्टी के। कोई तो पानी खींच रही थी, और कोई भरकर ले जा रही थी। एक ही पनघट पर सवर्ण और अवर्ण पनि-

हारिनें पानी भर रही थीं।

आज से ११७ वर्ष पूर्व जल में स्पर्श-दोष नहीं लगता था। सब जलाशय तब सब के लिए एकसमान खुले हुए थे। उसी मद्रास में, तालाबों और कुओं पर अछूतों की छाया पड़ना भी पाप समझा जाने लगा। नाहरजी ने चित्र दिखाते हुए कहा--"सौ बरस पहले महात्मा गांधी मद्रास के गाँवों में तो कहने गये नहीं थे कि ब्राह्मणों और शूद्रों को एक ही कुएँ पर पानी भरना चाहिए।"

इस भव्य चित्र को देखकर मेरा अन्तर्दाह कुछ-कुछ शान्त हुआ। पर आज यह हालत है कि गर्मियों में अछूतों को कुओं पर घंटों कड़ी धूप में खड़ा रहना पड़ता है। कोई दयावान् आ गया, और उसने उनके घड़ों में दूर से पानी डाल दिया तो ठीक, नहीं तो बेचारे घंटों धूप में खड़े झुलसा करें।

यह दृश्य उस धर्मप्राण देश का है, जहाँ चींटियों को आटा और शक्कर चुनाते हैं, मछलियों को आटे की गोलियाँ खिलाते हैं, पर मनुष्यों को प्यासा मारते हैं! गर्मियों में प्याऊ रखाते हैं, तो वहाँ भी अछूतों के साथ भेद-भाव बरता जाता है; टीन की गन्दी टोंटी से उन्हें पानी पिलाया जाता है!

मगर जो पाप के घड़ों को भरने में ही दिन-रात लगे हुए हैं, उनके मन पर हमारी इस टीका का कोई असर होनेवाला नहीं। वे मानते ही नहीं कि उनके हाथ से कोई निर्दयता का काम हो रहा है। इन्दौर से एक श्री-सम्पन्न सनातनी सज्जन ने मुझे एक पत्र में लिखा था—"कौन मूर्ख हम सनातनियों को 'कठोर-हृदय' कहता है? हमारे ऊपर

तुम सुधारकों की ओर से प्रायः यह आरोप किया जाता है कि हम लोग अछूतों को प्यासों मारते हैं। यह सोलहों आने असत्य है। मैं स्वयं त्रिकाल संध्या करता हूँ। संध्या करते समय तुम्हारे उन अछूतों को ही नहीं, जीवमात्र को जलांजलि देता हूँ।"

कैसा अद्भुत तर्क है ! इसे मस्तिष्क-विकार ही कहना चाहिए न !

: ४० :

नरक के साथ स्वर्ग-दर्शन भी !

ये बस्तियाँ, जो इतनी गन्दी और कुरूप जहाँ-तहाँ देखने में आती हैं, इसमें दोष किसका है ? बहुधा ग़रीब अछूतों को ही दोषी ठहराया जाता है। कहा जाता है कि उनके गन्दे रहन-सहन का ही यह कुपरिणाम है। ऐसा कहना तो जलाकर नमक छिड़कना हुआ। अस्वच्छता उनकी या किसीकी भी जन्म-जात नहीं हुआ करती। कोई तो अपने प्रमाद या उपेक्षा के कारण अस्वच्छ बन जाता है, और कोई अमुक परिस्थितियों से। इन ग़रीब जातियों को निर्दयतापूर्वक ऐसी परिस्थितियों में फेंक दिया गया है कि जिनमें रहकर मनुष्य इससे बेहतर रहन-सहन रख नहीं सकता। सारा दोष तो समाज के उस तल का है, जो अपने आपको आज बड़े दर्प और निर्लज्जता से ऊँचा मान रहा है।

दिल्ली और कलकत्ते की जिन नरकोपम बस्तियों का मैंने पिछले प्रकरणों में वर्णन किया है, उनकी अस्वच्छता और बीभत्सता की जिम्मेदारी वहाँ के सभ्य कहलानेवाले नागरिकों पर आती है। दलित-जनों को उन छापधारी सभ्यों की अपेक्षा यदि आधी भी सुविधाएँ मिलें, तो वे उनसे भी अधिक स्वच्छता और भद्रता से रह सकते हैं। अपने उन

प्रवासों में मैंने ऐसी भी कई बस्तियाँ देखीं, जहाँ पर्याप्त सुविधाएँ न होते हुए भी लोगों के घर कहीं अधिक स्वच्छ और सुन्दर मिले। साथ ही, उनसे कहीं गन्दे घर कितने ही सवर्णों के देखने में आये। नीचे मैं ऐसी ही कुछ साफ़-सुथरी बस्तियों का वर्णन करूँगा।

खंडवा से कोई १२ मील दूर पंधाना नाम का एक क़स्बा है। आबादी इसकी तब चारेक हज़ार की थी। वहाँ की मेहतरों की बस्ती देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ था। घर सारे ही साफ़-सुथरे थे। गली भी स्वच्छ थी। ये लोग मारवाड़ के रहनेवाले थे। ग्राम-कमेटी से इन्हें ९) मासिक वेतन मिलता था। उनमें एक भी ऐसा नहीं था, जिसे मुर्दारमांस खाने या दारू पीने का व्यसन हो। कोई बीड़ीतक नहीं पीता था। सभी सत्संगी थे। तानपूरे पर उनके भक्ति-भावपूर्ण भजन सुनकर इतना आनन्द आया कि कह नहीं सकता।

रायपुर ज़िले का गनियारी गाँव भी मुझे सदा याद रहेगा। रायपुर से यह २२ मील दूर है। संघ के मन्त्री श्रीखूबचन्द बघेल मुझे वहाँ की हरिजन-पाठशाला दिखाने ले गये थे। अधिकांश लड़के सतनामियों के थे। सतनामी अब सन्तमार्गी हैं। ये लोग न शराब पीते हैं, न मांस खाते हैं। खूब स्वच्छता से रहते हैं। गाँव की एक-एक गली, एक-एक आँगन स्वच्छ मिला। कूड़े-कचरे का कहीं नाम नहीं था। पीली मिट्टी से पुती कच्ची दीवारें और हरे-हरे गोबर से लिपे आँगन व चौंतरे देखकर चित्त हरा होगया। एक सतनामी भाई का घर इतना साफ़-सुथरा था कि वहाँ से हटने को जी नहीं करता था।

झाँसी ज़िले के ताज़बेहट गाँव की मेहतर-बस्ती की, स्वच्छता की

दृष्टि से, मैं आदर्श बस्ती कहूँगा। बुन्देलखण्ड का कुछ भाग इतना दरिद्र है कि उसकी तुलना कुछ अंशों में उड़ीसा से ही हो सकती है। पर यह प्रदेश इतना अधिक पिछड़ा हुआ है कि उसकी भयंकर दरिद्रता का बाहर किसीको पता भी नहीं। किन्तु इस अभाव में भी यहाँ की ग़रीब प्रजा ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। मेहतरों की स्वच्छ झोंपड़ियों को देखकर मैं पुलकित होगया। आदर्श स्वच्छता थी। दिवाली की सफ़ाई भी छोटे-छोटे घरों के आगे फीकी लगती थी। छुई मिट्टी और गोबर से पुते-लिपे घर-आँगन में कूड़े-कचरे का कहीं नाम नहीं, छप्परों में मकड़जालातक नहीं। सब चौका लगाकर रसोई बनाते और नहा-धोकर रोटी खाते हैं।

इतनी स्वच्छता, पर पीने के पानी का उन्हें भी कष्ट था। पानी तालाब से लाकर पीते थे। एक कुआँ यत्न करने पर खुल तो गया था, पर जब मेहतरोंने उसपर पानी भरना शुरू किया, तो चमारों ने उस कुएँ से पानी भरना बन्द कर दिया, और मेहतरों को रोज़ डराने-धमकाने भी लगे! बस्ती बसोरों की भी साफ़ थी, पर उतनी साफ़ नहीं, जितनी मेहतरों की।

हरदा, ज़िला होशंगाबाद, की भी बस्तियाँ स्वच्छ और सुन्दर मिलीं। घर, आँगन और गलियाँ खूब साफ़ और रहन सहन भी अच्छा, स्वच्छ और व्यवस्थित। अपने हरिजन-प्रवास में यहाँ की सुव्यवस्था को देखकर गांधोजी ने भी कहा था--"यहाँ की बस्तियों की व्यवस्था देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है।"

सांबा दादा

किन्तु परम स्वच्छता व पवित्रता, जो एक हरिजन-सेवी साधु पुरुष के घर में—उसके मिट्टी के घर में, और उसके अन्तर के घर में भी—देखी, वैसी अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आई। बिलासपुर का एक मधुर संस्मरण नीचे दे रहा हूँ।

बिलासपुर से थोड़ी ही दूर अरपा नदी के उस पार सरकंडा गाँव में एक जन-सेवी साधु के दर्शन से मैंने अपने को दोनों ही बार कृतार्थ किया था। उनका नाम सांबा था। पहले वह कोआपरेटिव बैंक के ऑडीटर थे। उन दिनों सरकार से उन्हें पेंशन मिलती थी। पूर्वज मूल-निवासी आन्ध्र के थे। पर सैकड़ों बरसों से छत्तीसगढ़ में रहते हुए ये लोग अपनी मातृभाषा तेलुगु बिल्कुल भूल गये हैं।

अरपा नदी का सारा घाट, अठारह-बीस वर्ष पहले, बड़ा गंदा रहता था। लोग चाहे जहाँ टट्टी फिर जाते थे। शिवालय के सामनेतक की यही दशा थी। लोगों को कितना ही समझाया, पर कोई माना नहीं। सांबा ने एक नवयुवक को साथ लेकर, १६२४ में खुद सफ़ाई करने का काम आरंभ कर दिया। सैकड़ों आदमियों का पाखाना उठाना, कूड़ा-कचरा फेंकना, और घाट का झाड़ना-बुहारना उनका नित्यकर्म हो गया। सरकंडा में कोई बमपुलिस तो थी नहीं, इसलिए टट्टी लोग मैदान में ही जाते थे। सांबा ने वहाँ छोटे-छोटे गड्ढे खोदना शुरू किया। जो लोग सवेरे-साँझ पाखाना फिरने जाते उनसे विनयपूर्वक कहते कि "गड्ढे में ही कृपाकर आप टट्टी फिरें और बाद को उस गड्ढे को मिट्टी से ढकें।" उनके साथ जब मैं नदी का घाट देखने गया, तब

मुझे ऐसे पचासों गड्ढे उन्होंने दिखाये। फिर भी कुछ लोग गड्ढों को छोड़कर इधर-उधर ही टट्टी कर दिया करते थे। किन्तु सांबा दादा थकने या हताश होनेवाले जीव नहीं थे। उनका काम तो वैसा का वैसा ही जारी रहा। मैंने उनके इस सेवा-कार्य की सराहना की, तो बड़े सरल भाव से कहने लगे—"इसमें ऐसी स्तुति की क्या बात है—मैं ठहरा-बुड्ढा आदमी, बैठे-बैठे रोटी पचेगी नहीं, इसलिए साँझ-सवेरे साधारण-सा मेहनत का काम कर लेता हूँ; इससे थोड़ा व्यायाम भी हो जाता है।"

उनके साथ जाकर सरकंडा की बस्ती और पाठशाला देखी। बस्ती की गलियाँ खूब साफ़ थीं; घर और आंगन सब स्वच्छ थे। यहाँ भी सांबा रोज़ झाड़ू देते थे। नित्य एक मित्र के घर पर 'रामधुन' कराया करते, जिसमें मोहल्ले के बहुत-से लोग शामिल हो जाते थे।

दूसरी बार जब मैं बिलासपुर गया, उनकी शुद्ध ग्राम्य मनोवृत्ति ने मुझे और भी मोहित कर लिया। स्वच्छ ओसारे में एक ओर धान दलने की लकड़ी की चक्की; एक ओर घानी; आँगन में गाय; और घर के पिछवाड़े नीबू-सन्तरों के कुछ झाड़ और साग-सब्जी की हरी-हरी क्यारियाँ देखकर बड़ा आनन्द आया। सांबा दादा ने हमें ग्राम-उद्योग की एक-एक चीज़ बड़े प्रेम से दिखाई। सोयाबीन की चाय और मूँगफली के खल के लड्डुओं से हमारा आतिथ्य भी उन्होंने किया। उन दिनों वह सोयाबीन का दलिया, टमाटर और दही या इमली का पना लेते थे। स्वास्थ्य उनका मैंने खासा अच्छा पाया।

सवेरे तीन बजे उठकर गीता के अठारहों अध्यायों का पाठ करते,

दो मील की दौड़ लगाते और दो मील घूमते थे। उसके बाद गाँव की सफ़ाई करते, नित्य आधा सेर अनाज पीसते और अपने पाखाने का विधिपूर्वक खाद बनाते थे।

सांबा दादा को मैंने दीन-दुखियों का सच्चा सेवक पाया। गांधीजी के 'मंगल प्रभात' का पाठ करते हुए प्रेम-विह्वल हो जाते थे। पाठ करते हुए एक-एक व्रत को अपने जीवन में उतारने का निरन्तर प्रयत्न किया। मुझे वहाँ मालूम हुआ कि अपनी स्वल्प आय का दसवाँ भाग वह हरिजनों के प्रीत्यर्थ प्रति मास देते हैं, जिसमें चार आने तो आटे की पिसाई के और डेढ़ रुपया बर्तन माँजने के भी शामिल थे। पहले एक मजूरिन बर्तन साफ़ करती थी। अब सांबा की पत्नी स्वयं माँजती थीं, और वह डेढ़ रुपया वे धर्म-कोष में जमा कर देते थे। 'पानी-फंड' में भी उन्होंने अपनी बचत में से २५) दिये थे। एक बार एक दलित भाई को सांबा ने गोदान भी बड़े श्रद्धा-भाव से दिया था। श्रीसांबा-जैसे मूकसेवकों की ही सेवा तथा साधना से हमारी इस धर्म-प्रवृत्ति को थोड़ा-बहुत बल मिला है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे निस्पृह निश्छल लोक-सेवक बिरले ही कहीं देखने में आते हैं—

"लालों को नहिं बोरियाँ,
साधु न चलें जमात।"

: ४१ :

गढ़वाल में चार दिन

१६३६ के मई में पूज्य बापा के साथ गढ़वाल जाने का अवसर मिला था। गढ़वाल की यह मेरी पहली ही यात्रा थी। चार-पाँच दिन के कार्यक्रम में गढ़वाल के निचले हिस्से के ही कोई पाँच-सात स्थान हम देख सके। नीचे-ऊपर पूरा गढ़वाल देखने में तो हमारे कई सप्ताह लग जाते। पहाड़ी प्रदेश, चढ़ाव-उतार के अटपटे मार्ग, सवारी इत्यादि का कोई ठीक साधन नहीं—ऐसी हालत में और इतने थोड़े समय में इससे अधिक स्थानों में जाना संभव न था। दोगड्डा, ढौंटियाल, डाडा मंडी और डूँडेख देखकर ही हमें संतोष करना पड़ा।

गढ़वाल में 'विट' और 'डूम' इन दो वर्गों के लोग रहते हैं। 'विट' या द्विजवर्ग में ब्राह्मण और राजपूत, और 'डूम' या शिल्पकार वर्ग में यहाँ सारी ही दलित जातियाँ ली जाती हैं। 'शिल्पकार' यह इनका आधुनिक नाम है। सरकारी काग़ज़-पत्रों में भी अब यह नाम चढ़ा लिया गया है। जिन शिल्पकारों का आर्यसमाज के अन्दर संस्कार होचुका है वे अपने को अब 'आर्य' कहते हैं। पर [illegible]ने आठ लाख की जन-संख्या में आर्य डेढ़-दो हज़ार से ऊपर नहीं हैं।

शिल्पकारों के यज्ञोपवीत धारण करने पर यहाँ के सवर्ण हिन्दू बहुत चिढ़ते हैं। पर सबसे विकट प्रश्न तो गढ़वाल में 'डोला पालकी' का है, जो बारबार प्रयत्न करने पर भी अबतक पूरी तरह हल नहीं होसका है।

बिट शिल्पकार के हाथ का पानी नहीं पीता; जहाँ पानी रखा होता है, वहाँ उसे आने नहीं देता; एक घाट पर उसे पानी नहीं भरने देता; और न शिल्पकार के वर-वधू को डोला-पालकी पर चढ़ने देता है। एक और विचित्र बात है, वह यह कि छूत यहाँ गीले कपड़े की मानते हैं, सूखे की नहीं।

भयंकर गरीबी है। गढ़वाल में ग़रीब दूसरी जातियाँ भी हैं, पर शिल्पकारों की दशा सबसे बुरी है। पहाड़ में न कोई धंधा है, न रोज़गार। खेती में भी कोई तंत नहीं। मामूली मेहनत-मजूरी करके किसी तरह पेट भरते हैं। यह बात नहीं कि वे उद्योगी नहीं हैं, पर असल में वहाँ कोई उद्योग ही नहीं। पेट का सवाल सचमुच वहाँ बड़ा भयंकर है। 'भूखे भगति न होइ गोपाल' की मसल सामने आगई जब बौंठ गाँव में हमारे इस प्रश्न के उत्तर में कि—"सनातन धर्म तुम्हारे लिए अच्छा है या आर्यसमाज?" एक शिल्पकार ने कहा—"जिसमें पेट-भर रोटी मिले वही धर्म या समाज अच्छा है और वही हमें तारनेवाला है।" दूसरा भाई बोला—"भूखे रहकर जनेऊ पहनने से हम परमपद थोड़े ही पा जायेंगे!" मुझे लगा कि माना, रोटी ही धर्म नहीं है, पर भूखों के आगे, जिसका पेट भरा हुआ हो उसे धर्म की व्याख्या करने का कोई अधिकार नहीं।

गढ़वाल के इन शिल्पकारों को पीने का पानी भी सुख से नसीब नहीं होता। ढौंटियाल महादेव के मेले में हमें मालूम हुआ कि कड़ी धूप में शिल्पकारों को पानी की प्रतीक्षा में दो-दो घण्टे झरनों पर खड़ा रहना पड़ता है। पानी के इस कष्ट का डाडामंडी में हमें भी प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। हम लोगों को डूम समझकर वहाँ के विटों ने हमें घड़ा नहीं भरने दिया था। हमने देखा कि उनके हृदय पहाड़ के पत्थरों की तरह कठोर हैं; हिम के समान शुभ्र और झरनों के समान उदार नहीं।

देहात के गरीब शिल्पकारों को अन्धविश्वास ने भी अपना शिकार बना रखा है। पलायन ढौंटियाल में वहाँ के एक सज्जन ने अन्ध विश्वास की हमें एक दुःखद कहानी सुनाई। एक शिल्पकार स्त्री शिवजी के मन्दिर में, उसके लड़के पर विपत्ति पड़ने पर, दर्शन करने चली गई थी। उसकी इस बे-अदबी पर भगवान् रुद्र का तीसरा नेत्र खुल गया। स्वप्न में पुजारी को डाँटते हुए कहा—"देख, मेरा मंदिर उस डूम स्त्री ने भ्रष्ट कर दिया है। मेरे लिए तू उससे बकरे की बलि माँग और रुद्री का पाठ मन्दिर में करा; नहीं तो उस डूम-परिवार का जड़मूल से नाश कर दूँगा।" भगवान् की आज्ञा भला कौन टाल सकता था? बकरा काटा गया, और पंडितों ने रुद्री-पाठ भी मन्दिर में यथाविधान किया। इस प्रायश्चित्त-विधान पर उस गरीब शिल्पकार स्त्री के तेरह-चौदह रुपये खर्च हो गये। भगवान् शंकर भी बकरे या भैंस की बलि लेते हैं, यह नई बात तो मैंने उस दिन पलायन ढौंटियाल में ही सुनी।

पर इससे यह न समझा जाये कि सभी सवर्ण ऐसे ही थे। नहीं,

उनमें कुछ अच्छे समझदार दूरदर्शी और सेवा-भावी भी हमें मिले। डाडामंडी की सभा में डोला-पालकी के प्रश्न पर चर्चा चल रही थी। कुछ लोग काफ़ी उत्तेजित होगये थे। एक बूढ़े ठाकुर साहब ने उच्चता के मद में उन्मत्त ब्राह्मणों और राजपूतों को ललकारते हुए कहा—"रखा क्या है इन बेकार दलीलों में ? पता नहीं आप लोगों को कि ज़माना आज कितना बदल चुका है ? हमारे ये शिल्पकार भाई जब हवाई जहाज़ पर बैठकर आसमान की सैर कर आये, तब इनका डोला-पालकी पर सवार होना तो कोई बात ही नहीं। झूठे अभिमान को छोड़कर इनका उचित और न्यायपूर्ण हक़ तो इन्हें देना ही चाहिए।" शिल्पकारों के पक्ष लेने का दंड भी यह ठाकुर साहब भोग रहे थे। गाँव में लोगों ने इनका सामाजिक बहिष्कार कर रखा था।

दोगड्डा से ठक्कर बापा डाडामंडी पैदल ही गये थे और वापस भी पैदल ही आये थे। कोटद्वार की सभा में उनके यह उत्साहपूर्ण उद्गार सुनकर हम सब गद्गद हो गये—"भगवान् ने चाहा, और यह शरीर बना रहा तो मैं तो बदरीनारायण की पैदल यात्रा करना चाहता हूँ। भगवान् का दर्शन और हरिजनों की सेवा, मेरे दोनों ही काम बन जायेंगे।"

दोगड्डा से उतरकर कोटद्वार से ठीक १२ बजे हम लोग नजीबाबाद पहुँचे। दिन बहुत गरम था। आग बरस रही थी। लुएँ खूब तेज़ चल रही थीं। बाहर निकलने को जी नहीं करता था। पर भंगियों की बस्तियाँ देखने का ठीक समय यही था। सवेरे ४ बजे से ११ बजेतक और शामको ४ से ६ बजेतक उन्हें काम पर जाना पड़ता था। और शाम को

६ बजे की गाड़ी से उसी दिन ठक्कर बापा को लाहौर रवाना हो जाना था। इसलिए हम एक बजे के लगभग नजीबाबाद की बस्तियाँ देखने के लिए स्टेशन से चल पड़े।

नजीबाबाद ज़िला बिजनौर का खासा बड़ा कस्बा है। जन-संख्या २० हज़ार से ऊपर है। बस्तियाँ यहाँ मुख्य तीन हैं--मुकरबा, रामपुरा और जाटवागंज। मुकरबा और रामपुरा में भंगियों की आबादी अधिक है और जाटवागंज में जाटवों की। जाटव सब-के-सब शहर में मजूरी करते थे। दिनभर के काम के उन दिनों उन्हें दो आने मिलते थे। ज़मींदारों के ज़ुल्म से बड़े दुखी थे। कोई उनका दुःख सुननेवाला नहीं था। एक बूढ़े चमार ने अपने शरीर का काला चमड़ा दिखाते हुए रोष के सुर में बापा से कहा—"यह देखो, हमारा रंग काले धुवें के जैसा होगया है। हमारा खूनतक जल-जलकर काला पड़ गया है। लाली तो आप बड़े आदमियों के बदन पर दीखती है। हमें तो भरपेट कभी सूखी रोटी भी नसीब नहीं हुई। कभी-न-कभी हम ज़रूर इन ज़ुल्मों का बदला लेंगे।"

बूढ़ा पढ़ा-लिखा तो एक अक्षर नहीं था, पर बातें ऐसी समझ और पते की करता था कि वहाँ से उठने को जी नहीं चाहता था। उसने लंबी आह खींचते हुए कहा, "वहाँ से तो सब एकसमान ही आये हैं। यह ऊँच-नीच का भेद-भाव तो आप लोगों ने सब यहीं बना लिया है। शरीर चीरो तो खून ही निकलेगा। तुम्हारे उजले शरीर से दूध तो निकलेगा नहीं?" मुझे लगा, यह तो इस बूढ़े के मुँह से कबीर साहब के शब्द निकल रहे हैं:—

लिए एक आदमी भी साथ ले लिया। मेरी इतनी मदद इन्दुपुर के अध्यापक श्रीकृष्णचन्द्र दास ने की थी। इन्दुपुर से गांधीजी उसी शाम को गये थे। वह ग्राम-अध्यापक गांधीजी की पैदल यात्रा का वर्णन बड़े प्रेम से टूटी-फूटी हिन्दी में सुनाने लगा—"हमारे इन्दुपुर में आज भारी उत्सव था। हमारे इस गाँव में हजारों आदमी महात्मा का दर्शन करने आया था। हम उत्कल का लोग कृतार्थ होगया। सत्य मानो, चैतन्य महाप्रभु का अवतार है गांधी महात्मा। बोलता है—'ऊँच-नीच का भेद-भाव भूल जाओ।' यही उपदेश तो हमारे महाप्रभु ने किया था। बड़ा जबर्दस्त है गांधी महात्मा।" "जबर्दस्त कैसा?" मैंने पूछा। "अरे, जबर्दस्त नहीं तो क्या! हम उड़ीसा का लोग 'राधे गोविन्द, राधे गोविन्द' बोलता है। परन्तु इस महात्मा ने हम लोगों से प्रार्थना में 'पतित पावन सीताराम' बोलवाया," कहते हुए अध्यापक कृष्णचन्द्र दास भक्ति-विह्वल होगये।

उत्कल में सचमुच ही मानो चैतन्य-युग उतर आया था। उत्कल की भक्ति-विह्वला ग्राम-नारियाँ गांधीजी का स्वागत 'ऊलु' ध्वनि से करती थीं। वारी गाँव में मृदंग-मंजीर के साथ 'हरे कृष्ण, हरे राम' की धुन मैंने सुनी तो गोप बाबू से पूछा कि 'यहाँ किसी मन्दिर में आज उत्सव है क्या?' उन्होंने कहा—'यह तो हमारा नित्य का मंगल-उत्सव है। बापू का स्वागत करने के लिए हमारे हरिजन भाई ग्रामों से कीर्तन करते हुए आरहे हैं।' कीर्तन-मंडली का अनुपम उल्लास देखकर प्रेमाश्रु भर आये। नवद्वीप और वृन्दावन का दिव्य दृश्य सामने आगया। बीच-बीच में शंखध्वनि से आकाश गूँज उठता था।

अटीरा ग्राम के एक वृद्ध ब्राह्मण का भी भक्ति-भाव देखने ही योग्य था। सभा के बाद की बात है। लोगों की भीड़ छट गई थी। गांधीजी शायद आराम कर रहे थे। इतने में एक ब्राह्मण चन्दन और तुलसी-पत्र लेकर पहुँचा, और गांधीजी के पास जाने की ज़िद करने लगा। बहुत समझाया, पर माना नहीं। वहीं अड़कर बैठ गया। उसका प्रेमाग्रह सुनकर गांधीजी ने उसे अपने पास बुला लिया। काम तो उसे कुछ था नहीं। गांधीजी के माथे पर सारा चन्दन पोत दिया और तुलसी-पत्र देकर लगा स्तोत्र-पाठ करने। स्तोत्र समाप्त होने को नहीं आरहे थे। नेत्रों से उसके अश्रुधारा बहने लगी। बाहर निकला तब कण्ठ गद्‌गद था। उसे वहाँ ऐसी कौन-सी निधि मिली होगी?

२ जून की रात को बारिश आगई। पड़ाव हमारा उस दिन एक छोटे-से गाँव में था। डेरा हमारा एक छप्पर के नीचे डाला गया था। पर सबका वहाँ, उस छोटी कोठरी में, सोना कठिन था। इसलिए जहाँ जिसे जगह मिली, बगल में अपना बिस्तरा दबाकर रैन-बसेरा लेने चल दिया। एक ग़रीब किसान के घर में मैं और मलकानीजी हम दो आदमी सोये। घर तो छोटा-सा था, पर मन उस किसान का बड़ा था। हमारे लिए उसने एक चटाई लाकर डाल दी। सिरहाने ठंढा पानी रख दिया, और बड़े प्रेम से बात करने लगा। बोला—"मैं जाति का ब्राह्मण हूँ, पर छूतछात नहीं मानता हूँ। गांधी महात्मा धर्म की बात बोलता है। अस्पृश्यता पाप है, यह मैं समझ गया हूँ। हमारा धन्य भाग्य, जो गांधी महात्मा हमारे गाँव में आज विश्रान्ति ले रहा है। मेरे बच्चे जब बड़े होंगे, तब लोगों को सुनाया करेंगे कि हमारे गाँव

में एक रात्रि महात्मा गांधी ने विश्राम किया था।"

उत्कल-वासियों की भक्ति-भावना के ऐसे अनेक प्रसंग हैं। गांधीजी को इस पैदल यात्रा में खूब शान्ति मिली थी। इस यात्रा के उपयुक्त भूमि भी गोप बाबू ने तैयार करदी थी। गोप बाबू, उनकी पत्नी श्रीरमादेवी एवं आचार्य हरिहरदास की सेवा-परायणता इस यात्रा में तथा गांधी-सेवा-संघ के डेलाँगवाले सम्मेलन के अवसर पर मुझे समीप से देखने को मिली। गोप बाबू को मैंने सच्चे अर्थ में वैष्णव पाया। गोप बाबू को देखकर कौन कह सकता था कि यह मजदूर-जैसा अधनंगा उड़िया किसी ज़माने में कटक का डिप्टी कलेक्टर था। गोप बाबू का नाम उत्कल का बच्चा-बच्चा जानता है। कमर में मोटी खादी लपेटे, नंगे पैर, सफेद थैला लटकाये उत्कल के इस महान् लोक-सेवक को देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। स्वभाव में सरलता, चाल में गम्भीरता और कार्य में तत्परता उनकी देखते ही बनती थी। वैसे ही गोप बाबू का हिन्दी-प्रेम भी सराहनीय। तुलसीदास की विनय-पत्रिका पर बड़ा ही प्रेम। अपने पुत्र-पुत्रियों को भी उन्होंने हिन्दी का प्रेमी बनाया। और उनकी पत्नी रमादेवी भी साक्षात् रमादेवी। उत्कल से विदा होते समय गांधीजी ने रमादेवी को इन सुन्दर शब्दों में स्तुति की थी—"रमादेवी के सेवा-कार्य पर तो मैं मुग्ध होगया हूँ। मैंने इस बहन के किसी भी काम में कृत्रिमता नहीं देखी। कष्ट-सहन की महिमा यह अच्छी तरह जानती है। इसकी सादगी तो एक अनुकरण करने की वस्तु है। भारत की हज़ारों बहिनों से मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है; मैंने उनका सेवा-कार्य भी देखा है। पर रमादेवी जिस

सहज सेवा-भावना से काम करती है वह अपूर्व है।"

इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी की इस ऐतिहासिक पैदल यात्रा का उत्कल की भक्ति-भावुक जनता पर आशातीत प्रभाव पड़ा था। ग़रीब-से-ग़रीब उड़िया ने हरिजन-कार्य के लिए पैसा भी दिया था। श्री-घनश्यामदास बिड़ला ने अपने संस्मरणों में ठीक ही लिखा है—'प्रार्थना में हज़ारों मनुष्य आते हैं, और बड़े जतन से तांबे के टुकड़े, पैसे, अधेले, पाई गांधीजी के चरणों में रख जाते हैं। 'भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी' पर उड़िया भूखा है, तो भी गांधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आनेवाले नर-कंकाल का धोती की सात गाँठों में से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गांधीजी के चरणों में रख देने का दृश्य सचमुच ही रुलानेवाला होता है।"

फिर भी जगन्नाथजी के वज्र-कपाट न खुले, हरिजनों के लिए बन्द ही रहे! जिस उत्कल प्रान्त को प्रेमावतार चैतन्य महाप्रभु ने अपने श्रीचरणों की रज से पवित्र किया हो उसको क्या यह मूढ़ग्राह शोभा देता है?

तुड़ंगा गाँव से गांधीजी एक ही मंजिल में १२ मील तय करके सीधे भद्रक पहुँचे। यात्रा का यह अन्तिम मुकाम था। उस दिन वे बड़ी तेज चाल से चले थे। उन्हें पकड़ने के लिए साथवालों को कहीं-कहीं उनके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ा था। घनश्यामदासजी ने, जो गांधी-जी से आध घंटे बाद मोटर से पहुँचे थे, कहा कि—"जब मैंने इतनी फुरती के साथ गांधीजी को १२ मील की मंजिल तय करते देखा, तो मन-ही-मन मिन्नत की कि, भगवान् हमारे भले के लिए गांधीजी को

लम्बी उम्र दें। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र में अवश्य ही एक अद्भुत चीज़ है।"

तुड़ंगा में अपनी शेष यात्रा को गांधीजी ने योंही नहीं छोड़ दिया था। वर्षा आनेवाली है इसकी हमें प्रकृति बार-बार चेतावनी देरही थी। बुढ़ाघात में रात को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता, मगर गोप बाबू ने मेह आने से आध घंटे पहले बचाव का कुछ प्रबंध कर लिया था। हम लोगों को प्रायः खुले आकाश के तले सोना पड़ता था। दूसरी रात को भी बारिश आई। ग़नीमत थी कि उस रात हमारा पड़ाव एक बस्ती में पड़ा हुआ था। पक्की सड़कों पर चलने में कोई बाधा नहीं थी, पर अधिक वर्षा होने के बाद गाँवों की कच्ची सड़कों पर सामान से लदी बैल-गाड़ियों का चलना मुश्किल होजाता। तुड़ंगा गाँव की सड़क तो खास तौर से खराब थी। बारिश उस दिन बन्द न होती, तो तुड़ंगा से हमारा आगे जाना कठिन हो जाता। सबसे समीप भद्रक ही एक ऐसी जगह थी, जहाँ एक-दो दिन हम मेह-पानी की आफत से बचकर टिक सकते थे। इसलिए बीच में बिना कहीं रुके, सीधे, भद्रक जाना ही निश्चय हुआ। तुड़ंगा से भद्रक के 'गरदपुर-आश्रम' तक जाने में ठीक साढ़े तीन घंटे लगे।

गरदपुर में हमारा तीन दिन पड़ाव रहा। यहाँ उड़ीसा के हरिजन-सेवकों तथा बाढ़-निवारण समिति एवं चर्खा-संघ के कार्यकर्त्ताओं को गांधीजी ने काफ़ी समय दिया। इस आश्रम को स्व० जीवराम भाई चलाते थे। श्री जीवराम कल्याणजी कच्छ के रहनेवाले थे। यह लखपति व्यापारी थे। लाखों रुपये छोड़कर सेवक बने थे। कुष्ठियों

की सेवा-शुश्रूषा करते हुए ही अन्त में अपने आपको इन्होंने उत्सर्ग किया।

जीवराम सच्चे जन-सेवक थे। मोटा अँगोछा लपेटे, नंगे बदन, हाथ में झाड़ू लिये ही हमने जीवराम भाई को वहाँ हर घड़ी देखा। आश्रम की सफ़ाई और व्यवस्था नमूने की थी। समझ में नहीं आरहा था कि, जीवराम भाई कब तो खाते हैं और कब सोते हैं। रात को दो-ढाई बजे मैं उठा तो देखता हूँ कि जीवराम भाई एक बड़े गड़े में टट्टियों की बाल्टियों का मैला उँड़ेल रहे हैं और साथ-साथ गीता का पाठ भी चल रहा है! हम लोग जब सोते थे, तब यह महापुरुष रात को अकेले ही डेढ़ सौ आदमियों का पाखाना साफ़ करता था।

'धन-धन जननी तेनी रे।'

तीन बजेतक पाखाना साफ़ किया, फिर सूत काता, इतने में प्रार्थना का समय आगया। एक मिनिट को भी आँख बन्द नहीं की। सारे दिन और सारी रात काम-ही-काम। जीवराम भाई तब फिर सोते कब थे? कबीर की यह कड़ी याद आगई—

'आशिक होकर सोना क्या रे?'

: ४३ :

स्मरणीय प्रसंग

इस प्रकरण में कुछ ऐसे मधुर एवं पुनीत प्रसंगों का उल्लेख करूँगा, जो सचमुच चिरस्मरणीय हैं। 'हरिजन-सेवक' के सिलसिले में, १९३५ और १९३६ में, मैंने जो यात्राएँ की थीं, नीचे के ये सुन्दर प्रसंग उन्हींमें घटित हुए थे।

फरवरी, १९३५। रात की एक्सप्रेस से मैं दिल्ली से झाँसी जा रहा था। गाड़ियों में तब तीसरे दरजे में भी काफ़ी जगह रहती थी। ग्वालियर से गाड़ी छूट गई थी। कोई पाँच का समय था। पौ फटती आ रही थी, फिर भी कुछ अँधेरा-सा था। जिस डिब्बे में मैं बैठा था, उसमें सामने की बेंच पर दमे से पीड़ित एक अधेड़ मुसलमान ने चार-खाने का फटा-सा तौलिया बिछाकर नमाज़ पढ़ी, और फिर करुणाभरी धुन में रामायण की चौपाइयाँ गाने लगा। साथ-साथ अर्थ भी कहता जाता था। कभी 'या इलाही', कभी 'अय राम' उसकी दर्दभरी आवाज़ से निकल रहा था। जब उसने प्रभाती की धुन में 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' मीरां का यह भजन गाया, तो प्रेम से विह्वल हो गया। फिर पागल की तरह बकझक करने लगा। हमारे

साथ के मुसाफ़िर कुछ तो उसकी ओर आश्चर्य से देख रहे थे और कुछ ज़ोर से हँस रहे थे। पर वह मस्त मौला बग़ैर किसीकी पर्वा किये अपने कुमार्गी मन को खूब गालियाँ सुना रहा था–'बदमाश, धोखेबाज़ कहीं का! ज़हर का घड़ा लेकर मिलने चला है उस गिरधर गोपाल से! शरम भी नहीं आती शैतान के बच्चे को!'

मन हुआ कि क्यों न इससे कुछ बात करें। उठकर मैं उसके पास उसी बेंच पर बैठ गया। टीन का टोंटीदार लोटा, रामायण का फटा-पुराना गुटका, एक लकड़ी और कंबल, बस यही उसका सारा सामान था। पाँच-सात मिनिट मुनौअर खां (यही उसका नाम था) से मेरी जो बात हुई उसका संक्षिप्त सार यह है :—

"मालिक का गुनहगार हूँ जनम-जनम का। रामजी के रहम का ही अब आसरा है। वह बड़ा रहीम है। भैयाजी, बुन्देलखंड का एक ग़रीब मुसल्मान हूँ। एक रियासत से ६) माहवार मिलते हैं, उसीसे आपकी गिरस्ती चलती है। घर में गऊमाता पाल रखी है। उसकी सेवा करता हूँ, और आपके बाल-गोपाल उसका दूध पीते हैं। गोश्त से दिली नफ़रत है। सूखी-रूखी रोटी खाकर तो इस शैतान शोहदे मन का यह हाल है, पुलाव कबाब इस हरामी को मिलने लग जाये, तो न जाने यह क्या करे! चाकरी से जो वक्त बचता है, उसे मालिक की याद में लगाने का जतन करता रहता हूँ। तिवारी बाबा से रामायन का अर्थ पूछ लेता हूँ। उन्हें मैं अपने बाप के मानिन्द मानता हूँ। भैयाजी, मैं हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं करता। मैंने देखा है कि प्रेम ही इस दुनिया में सार है, और सब असार है।"

उस अज्ञात मुसल्मान साधु का दर्शन कर मैंने अपने को कृत-कृत्य माना। बरबस मुनौअर खां से विदा लेनी पड़ी। झाँसी का स्टेशन आ गया था।

दूसरा प्रसंग मार्च, १९३६ का है। झाँसी से मैं खंडवा जा रहा था। दैलवारा स्टेशन पर मेरे डिब्बे में मुसीबत की मारी तीन बूढ़ी औरतें चढ़ आईं। रोजी की खोज में ये मालवा जा रही थीं। पाँच-पाँच, सात-सात सेर जंगली बेरों के सिवाय उनके पास और कुछ भी नहीं था। शरीर पर, बस, एक-एक फटा-पुराना चीथड़ा लिपटा था। उनमें एक अन्धी थी। उनके पास टिकट नहीं थे। डर की मारी बेचारी काँप रही थीं। गाड़ी चलदी, तब कहीं उनके जी में जी आया। एक अधेड़ मुसाफिर के पूछने पर अन्धी बुढ़िया अपनी बिपता बुन्देलखंडी बोली में सुनाने लगी—"मालिक, मजूरी कऊँ इतै लगत नैयाँ, आठ दिन सें अन्न कौ मौं नईं देखो, बेर कूट-कूटकैं पेट भर रये हैं। घर में न लरका हैं, न बाले। जौ पापी पेट मालिक..." कहते-कहते उसका गला भर आया। तीनों ही जात की चमार थीं।

बुन्देलखंड की भयंकर ग़रीबी का बहुत कम लोगों को पता होगा। ग़रीबी को देखते हुए इधर की रियासतें और दूसरा इलाक़ा प्रायः एक-से ही हैं। झाँसी से बीनातक हर स्टेशन पर आपको इन दिनों बेकार स्त्री-पुरुषों के हज़ारों अस्थि-कंकाल दिखाई देंगे। औरतों के तन पर सौ-सौ छिद्रों के चीथड़े, सिर पर जंगली बेरों की पोटली, गोद में नंग-धड़ंग दुबले-सूखे बालक। ये लोग जगह-जगह जीविका की खोज में मालवा की तरफ़ बिना टिकट जाने का प्रयत्न करते हुए आपको

मिलेंगे। सत्तर-सत्तर साल की अंधी और लूली-लँगड़ी बुढ़ियाँ गाड़ी के डिब्बों में घुसने की कोशिश करती हैं, मार खाती हैं और पेट की खातिर सभी तरह का अपमान सहन करती हैं।

उन तीनों की अत्यन्त दयनीय दशा देखकर भी हममें से किसीको उनपर कोई खास दया नहीं आई। थोड़ी देर में तेरह-चौदह वर्ष का एक मुसलमान लड़का धीरे से उठा, अपने रुमाल से आठ रोटियाँ खोलकर निकालीं, और सारी-की-सारी उन बुढ़ियों के हाथ पर रखदीं। अपने लिए उसने एक टुकड़ा भी न रखा। ग़रीब औरतें उसे बार-बार आशीष देने लगीं। उस दयालु बालक की भोली आँखों में रहम के आँसू भर आये। 'भाई, तुम किसके लड़के हो, और कहाँ जा रहे हो?' मैंने उस दयालु बालक से पूछा।

उस सुशील लड़के ने बड़ी नम्रता से जवाब दिया—'मेरा बाप बीना में एक बाबू के यहाँ नौकर है। ८) तनख्वाह उसे मिलती है। हम दो भाई और एक बहिन हैं। मैं अभी झाँसी से अपने मामू के यहाँ से आ रहा हूँ। बीना जाऊँगा।'

उसके सिर पर हाथ रखकर मैंने कहा—'तुम्हारी यह दशा देखकर बड़ी खुशी हुई बच्चा! मालिक तुम्हें खुश रखे।'

नम्रता से उसने सिर नीचा कर लिया।

तीसरा संस्मरण बुरहानपुर की आदिलशाही मसजिद का है। आज इस गिरावट के ज़माने में जब भाषा और संस्कृति के प्रश्नोंतक को राष्ट्र-विघातिनी सांप्रदायिकता ने अपनी काली चादर से ढक लिया है, इस ऐतिहासिक मसजिद का सुनहरा चित्र हमारी आँखों के सामने

आकर हमें एक पवित्र सन्देश सुना जाता है।

इस मसजिद को मैंने सन् १९३९ में देखा था। बुरहानपुर की हरिजन-बस्तियाँ देखने हम लोग जा रहे थे। मसजिद हमारे रास्ते में पड़ती थी। इसके सम्बन्ध में मैं पहले सुन चुका था। पैर धोकर हम लोग अन्दर दाखिल हुए। अन्दर एक शिला-लेख देखा, जिसपर फारसी के साथ-साथ संस्कृत में भी ईश्वर-स्तुति, निर्माता का नाम और रचना-काल खुदे हुए थे। संस्कृत में लिखा था:

"श्रीसृष्टिकर्त्रे नमः।

अव्यक्तं व्यापकं नित्यं
गुणातीतं चिदात्मकम्।
व्यक्तस्य कारणं वन्दे
व्यक्ताव्यक्तं तमीश्वरम्॥

इसके नीचे तिथि, वार, नक्षत्र सहित मसजिद का रचना-काल दिया गया है:--

"स्वस्ति श्री संवत् १६४६ वर्षे शाके १५११ विरोधि संवत्सरे पौष मासे शुक्ल पक्षे १० घटी २३ सहैकादश्यां तिथौ सोमे कृत्तिका घटी २३ सह रोहिण्यां शुभ घटी ४२ योगे वणिजकरणेऽस्मिन्दिने रात्रिगत घटी ११ समये कन्यालग्ने श्री मुबारकशाह सुत श्री एदलशाह राज्ञा मसीतिरियं निर्मिता स्वधर्मपालनार्थम्॥"

संस्कृत भाषा और नागरी लिपि ने तब 'स्वधर्म-पालन' के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं की थी। पं० चन्द्रबली पांडे ने यह बिल्कुल ठीक लिखा है कि "धर्म किसी भाषा एवं लिपि में लपेटकर कहीं लट-

काया तो जाता नहीं। वह तो मानव-हृदय में रमता और रोम-रोम से न जाने किस-किस भाषा में भाषण करता रहता है। नागरी और संस्कृत में भी उसका स्वर उसी प्रकार सुनाई देता है, जिस प्रकार अरबी-फ़ारसी में।"

अकेले ऊपर के श्लोक में ही अल्लाह की वन्दना इस प्रकार नहीं की गई है, दमोह ज़िले के वटिहाडिमपुर के दर्शनीय 'गोमठ' में भी ऐसा ही एक श्लोक खुदा हुआ है :-

"सर्वलोकस्य कर्त्तारमिच्छाशक्तिमनन्तकम्।
अनादिनिधनं वन्दे गुणवर्णविवर्जितम्॥

इस गोमठ का निर्माता कोई हिन्दू नहीं, किन्तु एक धार्मिक मुसल्मान था। किन्तु देश के दुर्भाग्य से आज वह सुनहरा रंग उड़ गया है। आज सभी जगह हमारे दुर्भाग्य ने जैसे कालिख पोत दी है। अब तो भारतीय संस्कृति के प्रतीक 'श्री' और 'कमल' भी मुसल्मानों के दिलों में चिढ़ पैदा करने के कारण बन गये और उन्हें मिटा देने में ही उन्होंने अपने दीन की रक्षा समझी। आज तो पार्थिक देश के ही नहीं, हमारे हृदयों के भी टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं।

: ४४ :

उद्योगशाला

(१)

हमारे संघ के अध्यक्ष श्रीघनश्यामदासजी बिड़ला की कल्पना के अनुसार आचार्य नारायणदास मलकानी ने सन् १९३९ के मार्च में हरिजन-उद्योगशाला का कार्य आरंभ कर दिया। शुरू में सिर्फ आठ विद्यार्थी आये। प्रारम्भ में केवल दो उद्योगों के सिखाने की व्यवस्था की गई, एक छात्रावास के एक कमरे में चमड़ा-विभाग खोला गया और दूसरे में बढ़ई-विभाग। उद्योगशाला का मुख्य भवन तब बन ही रहा था। छात्रावास शुरू में हमने तीन-तीन कमरों के दो ही बनाये थे, जो तीस-पैंतीस लड़कों के लिए पर्याप्त थे। पचास से ऊपर संख्या ले जाने का हमारा तब विचार भी नहीं था। पीछे तो छात्र-संख्या बढ़ते-बढ़ते १५० तक पहुँची, पर घनश्यामदासजी को तब भी सन्तोष नहीं हुआ, वे तो ५०० लड़के उद्योगशाला में देखना चाहते थे। लेकिन मैं तो इतनी बड़ी संख्या की कल्पना से ही काँपने लगा।

गांधीजी की परमभक्त अमतुस्सलाम बहिन एक-दो महीने पहले से हरिजन-निवास में आकर रहने लगी थीं। दोनों समय प्रार्थना कराने

का सिलसिला उन्होंने शुरू कराया था। रसोई और भंडार की व्यवस्था भी उन्होंने अपने हाथ में लेली। बड़ी मेहनत व लगन से काम करती थीं। स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। स्व० डा० अन्सारी ने मना कर रखा था, फिर भी जेठ-बैसाख की कड़ी गर्मी में चूल्हे के पास बैठकर रसोइये को मदद देती थीं। विद्यार्थियों के कपड़े भी वही सीती थीं। रसोई की व्यवस्था में अमतुस्सलाम बहिन ने मुझे भी खींच लिया, और मैं उनका हाथ बटाने लगा। मैंने उन्हें अपनी छोटी बहिन मान लिया। जिस गहरी धर्म-भावना से वे नमाज़ पढ़ती थीं, उसी भावना से आश्रम की प्रार्थना भी करती थीं। रोज़े रखतीं और कृष्ण-जन्माष्टमी का व्रत भी।

लड़कों को एक-दो घंटे में हिन्दी भी पढ़ाता था। कोई पाठ्यक्रम अभी तैयार नहीं हुआ था। लड़के कुछ तो बिल्कुल निरक्षर आते थे, और कुछ उर्दू पढ़े हुए। मलकानीजी भी सप्ताह में तीन घंटे सफ़ाई और व्यावहारिक सभ्यता पर व्याख्यान दिया करते थे। फिर भी पढ़ाई बिल्कुल गौण थी। मुख्य ध्यान तो हमारा उद्योग-शिक्षण पर था, और वह आज भी है। पर साहित्य-शिक्षण तीन साल बाद एक निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार होने लगा।

उद्योगशाला का धीरे-धीरे खासा विकास और विस्तार हो गया। परन्तु आचार्य मलकानी ने शुरू में व्यवस्था और शिक्षण का जो क्रम निश्चित किया था, उसमें कोई खास बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। मूलतः एक अच्छे शिक्षा-शास्त्री और साहित्यकार होते हुए भी मलकानीजी ने व्यवस्था-कार्य भी खासा अच्छा किया। लड़कों के साथ खुद घास

छीलते थे, मिट्टी खोदते, और चक्की भी चलाते थे। लड़कों से वे बड़े प्रेम से काम लेते थे। अपने विनोदी स्वभाव से आलसी लड़कों को भी काम में खींच लेते थे। लड़के भी अपने श्रद्धेय आचार्य को 'पिताजी' कहा करते थे।

किंतु मलकानीजी अपने लगाये पौदे को दो वर्ष ही सींच पाये। अपने एक मित्र के आग्रह से उन्हें इंगलैंड जाना पड़ा, और उद्योग-शाला को उनकी स्नेहपूर्ण सेवाओं से वंचित होना पड़ा। हम लोगों ने मलकानीजी को हरिजन-निवास से ३१ मार्च, १९३८ को भीगी आँखों और भरे हुए गले से विदा किया। दूसरे सुयोग्य व्यवस्थापक के अभाव में पूज्य बापा ने उद्योगशाला का व्यवस्था-कार्य मुझे ही सौंप दिया। अपनी अयोग्यता और कच्चे अनुभव की ओर देखते हुए इतनी बड़ी जिम्मेदारी का काम मुझे बहुत भारी मालूम दिया। उसे सँभालते हुए मेरे दुर्बल हाथ काँपने लगे। मलकानीजी की जैसी व्यवस्था-कुशलता और व्यावहारिक बुद्धि कहाँ से लाऊँगा, वे तो शाला के लिए धन-संग्रह भी करते थे, मुझे तो कोई एक पाई भी नहीं देगा, उनका बड़े-बड़े आदमियों से काफ़ी परिचय था, दो-चार मित्रों को छोड़कर दिल्ली में मैं किसीको जानता भी नहीं। फिर उद्योगों के विषय की भी मुझे कोई जानकारी नहीं थी। समय भी कम मिलता था। मुख्य तो 'हरिजन-सेवक' का संपादन-कार्य था; उसे छोड़ नहीं सकता था। यह सब होते हुए भी मलकानीजी के प्रेमपूर्वक अनुरोध और बापा की अनुल्लंघनीय आज्ञा से उद्योगशाला की जिम्मेदारी मैंने अपने निर्बल कन्धों पर लेली। पर वास्तविक व्यवस्थापक और संचालक तो मैंने सदा पूज्य बापा को

ही माना। बापा ने हरेक काम में मुझे प्रोत्साहन दिया, और मेरी त्रुटियों और भूलों को सदा क्षमा किया।

मलकानीजी जब विलायत से वापस आये और उन्होंने अपनी प्यारी संस्था को देखा, तो नाराज़ नहीं हुए। अपने लगाये पौदे को देखकर उन्हें हर्ष ही हुआ, और मुझे बड़े प्रेम से प्रोत्साहित भी किया।

विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाने पर बिड़लाजी और बापाजी ज़ोर देते चले आ रहे थे। फलतः छात्र-संख्या बढ़ा दी गई। पर एक-एक लड़के पर जितना व्यक्तिगत ध्यान पहले दिया जा सकता था, संख्या बढ़ जाने पर उतना ध्यान देना अब कठिन होगया। साथ-साथ दूसरी भी कठिनाइयाँ बढ़ीं। अनेक प्रान्तों के विभिन्न भाषाभाषी और हर तरह के लड़के आने लगे। व्यवस्था में इससे नई-नई उलझनें पैदा हुईं। जिम्मेदारी ज्यादा बढ़ गई। बहुत चाहा कि एक-एक विद्यार्थी के संपर्क में आने का यत्न करूँ, पर ऐसा करना शक्य-सा नहीं लगा। इसके लिए समय और व्यवस्थित चित्त चाहिए। जितना चाहा उतना मैं उन्हें समय नहीं दे पाया। और वे भी मुझे ठीक ठीक नहीं समझ पाये। न चाहते हुए भी हम दोनों एक दूसरे से जैसे कुछ दूर से रहने लगे। यह स्थिति मेरे लिए सह्य नहीं हुई। पर इस अवांछनीय स्थिति की ओर से मैंने कभी आँखें बन्द नहीं कीं। बराबर प्रयत्न में रहा कि प्रत्येक बालक के संपर्क में आऊँ, और जहांतक बन पड़े उसे संपूर्ण स्नेह देकर अपने आपको अधिक से-अधिक समझूँ। पर मैं स्वीकार करता हूँ कि इस प्रयत्न में मुझे कोई खास सफलता नहीं मिली। परिणाम यह

हुआ कि चित्त में स्वाभाविक उत्साह या प्रसन्नता नहीं पाई, फिर भी पूरा हताश नहीं हुआ। निवृत्तिमार्गी होते हुए भी इस प्रवृत्ति को मैंने कभी भार-स्वरूप अनुभव नहीं किया।

बाद को हाथ-कागज-विभाग, बुनाई-विभाग, लोहारगिरी-विभाग और छापाखाना ये चार उद्योग-विभाग और धीरे-धीरे बढ़ाये गये। कताई सबके लिए अनिवार्य कर दी गई। साहित्यकशिक्षण का स्वतन्त्र पाठ्यक्रम तैयार किया गया। ललितकला, संगीत और साधारण अंग्रेजी, और बाद को अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत विषय भी रखे गये। प्रवेश-नियम भी बनाये गये। छात्र-संख्या बढ़ जाने पर सात छात्रावास और बनाने पड़े, और उद्योग-भवन भी बढ़ाया गया।

सन् १९३९ में गांधीजी की अध्यक्षता में उद्योगशाला का पहला दीक्षान्त-समारम्भ हुआ। आशीर्वादात्मक भाषण में गांधीजी ने कहा कि उद्योग-शिक्षा को स्वावलम्बी होना ही चाहिए और स्नातक होने के बाद विद्यार्थी को बेकार नहीं रहना चाहिए। स्नातकों को समाज तथा राष्ट्र की सेवा करने के लिए भी उन्होंने प्रेरित किया। दूसरे दीक्षान्त-समारम्भ पर गांधीजी ने अपने सन्देश में कहा कि, उद्योगशाला को हर साल कुछ-न-कुछ प्रगति करनी ही चाहिए। यह कामना भी प्रकट की गई कि 'हरिजन-निवास से ऐसे लड़के तैयार होकर जायें, जो अस्पृश्यता का जड़मूल से नाश करदें।'

यह नहीं कहा जा सकता कि उद्योगशाला ने पिछले वर्षों में वस्तुतः क्या प्रगति की, और गांधीजी द्वारा व्यक्त इच्छा या कामना की उसने कहाँतक पूर्ति की या कर सकती है। छात्र-संख्या अथवा कार्य

के विस्तार को देखते हुए यह कहने को जी नहीं करता कि उद्योगशाला ने कोई ऐसी प्रगति की, जिसका नम्रतापूर्वक बखान किया जा सके। केवल उद्योग-शिक्षण ७२ प्रतिशत और व्यवस्था-सहित समग्र शिक्षण मुश्किल से ५० प्रतिशत स्वावलम्बी हो सका। लड़कों ने जो चीज़ें तैयार कीं, ग्राहकों की दृष्टि में वे बुरी साबित नहीं हुईं, और बिक भी गईं। अधिकांश स्नातक बेकार भी नहीं रहे। कुछ ने तो अपने उद्योग द्वारा कुछ कमाया भी। रहन-सहन में भी फ़र्क पड़ा। साथ ही, शहरी सभ्यता ने भी काफ़ी असर डाला, जो स्वाभाविक है।

किन्तु सच्ची प्रगति या सफलता की कसौटी तो दूसरी ही है। कुछ प्रश्न हैं, जिनके उत्तरों पर हमारी सफलता या असफलता निर्भर करती है। प्रश्न ये हैं: उद्योग-शिक्षण पर क्या हमारे विद्यार्थियों और स्नातकों की श्रद्धा स्थिर रही? शरीर-श्रम को वे अपने जीवन में ज्ञान-पूर्वक ऊँचा स्थान देने के लिए तैयार हुए या नहीं? उद्योगशाला में तीन वर्ष रहकर सविनय स्वाभिमान की भावना उनमें कहाँतक पैदा हुई? संस्था के उद्देशों को हमारे कार्यकर्ताओं ने स्वयं किस दृष्टि से देखा? अस्पृश्यता-निवारण को उन्होंने अपने जीवन का एक ऊँचा ध्येय माना या नहीं? जीवन का लक्ष्य उन्होंने किसे माना—भोग को या त्याग को? अथवा, संस्था में आने का उनका क्या हेतु रहा?

विद्यार्थियों तथा स्नातकों के थोड़े-बहुत सम्पर्क में आकर मुझे जो अनुभव हुए उनके आधार पर मैं यह कहूँगा कि उद्योग-शिक्षण के प्रति अधिकांश की दृष्टि कुछ-कुछ शंका की ही रही। इसके कारण हैं। स्कूल-कालिजों की शिक्षा-प्रणाली को सार्वत्रिक रूप से सही या ग़लत जो

अत्यधिक महत्त्व मिला हुआ है, उसके मुक़ाबिले उद्योग-शिक्षण का मूल्य बहुत कम आँका जाता है। शिक्षा को ज्ञानोपार्जन का साधन न मानकर नौकरी का साधन मान लिया गया है। नौकरी को 'निकृष्ट' कहा गया था, पर आज हमारी दृष्टि में नौकरी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। पढ़े-लिखे बेकारों की संख्या हज़ारों-लाखों की देखने में आती है, फिर भी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के प्रति हमारा जो अतिमोह है, उसमें कोई कमी नहीं आ रही। जहाँतक उद्योग-शिक्षा की उपयोगिता का प्रश्न है वह स्वयंसिद्ध है। पर वर्तमान परिस्थितियों में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के मुक़ाबिले यदि हमारे विद्यार्थियों को वह हलकी जँचती हो, तो इसमें उनका क्या दोष है ? उद्योग-शिक्षा के प्रति उनमें या तो तब प्रेम उत्पन्न हो सकता है, जब हमारी सरकार उसे अपने शिक्षा-क्रम में प्रतिष्ठा का स्थान देदे, अथवा बुकर टी. वाशिंगटन के जैसा कोई क्रान्तिदर्शी शिक्षा-शास्त्री दलित समाज के उद्धार के लिए पैदा हो जाये, जो शिक्षा का सच्चा रूप और आदर्श उनके सामने रख-दे। हमारे विद्यार्थियों ने हम कार्यकर्त्ताओं को तो प्रायः शंका की ही दृष्टि से देखा। उन्हें यह समझने में हैरानी हुई कि जो लोग बुनियादी तालीम या उद्योग-शिक्षा का इतना अधिक गुण-गान करते हैं, वे खुद अपने बच्चों को क्यों इन विद्यालयों में दाखिल नहीं कराते ? मुझे एक प्रसंग याद आगया है। कोई छह-सात साल की बात है। काका कालेलकर बुनियादी तालीम की कान्फ्रेन्स के बारे में हमारे विद्यार्थियों के साथ चर्चा कर रहे थे। एक विद्यार्थी ज़रा अविनय के साथ उनसे पूछ बैठा—"काका साहब, क्या आपका यह सारा उपदेश हमारे ही

लिए है ? मैंने सुना है कि आपका लड़का अमेरिका में पढ़ रहा है, और उसकी पढ़ाई पर हज़ारों रुपये खर्च हो चुके हैं ? क्या यह सही है ?" "यह मेरा दुर्भाग्य है", उत्तर में उन्होंने इतना ही कहा।

शरीर-श्रम का तो उनके जीवन में स्थान रहा ही है। किन्तु 'ज्ञानपूर्वक' नहीं। यदि शरीर-श्रम को यहाँ आकर वे हलका समझने लग जायें, तो इसमें भी हमारा ही दोष है। हमारी देखा-देखी ही वे ऐसा करने लग जाते हैं। स्वभावतः हम ग़लत चीज़ का अनुकरण करते हैं। मैंने देखा कि शरीर-श्रम के जिन कामों को वे अपने घरों में प्रसन्नता-पूर्वक करते थे, उद्योगशाला में आकर उनसे जी चुराने लग गये। क्योंकि उन्होंने देखा कि यहाँ पर उन्ही लोगों का आदर होती है, जो शारीरिक श्रम के कामों से दूर रहते हैं। पर जब कोई शिक्षक उनके साथ काम करने बैठ जाता तो उस काम को वे हँसते-हँसते कर डालते; साथ ही, शरीर-श्रम का सच्चा महत्त्व भी उनकी समझ में आ जाता।

यह सन्तोष की बात है कि उनके अन्दर स्वाभिमान जागा, यद्यपि कभी-कभी उसके साथ अविनय भी देखने में आया। पर जो बेचारे सदियों से दबे पड़े हैं, उनके स्वाभिमान में यदि थोड़ा अविनय भी देखने में आये, तो उसपर विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रेम से उन्हें उनकी भूल समझा दी जाये, तो वे समझ जाते हैं और उसे स्वीकार भी कर लेते हैं।

अब रहे कार्यकर्त्ताओं से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न। उनके गुण-दोषों की आलोचना करना स्वयं अपनी आलोचना करना है। मैं अपने आप को उनसे अलग नहीं कर सकता। हमारे लिए इतना कहना ही पर्याप्त

है कि हमें आत्म-प्रवंचन से सदा बचना चाहिए। यदि संस्था के उद्देशों पर हमारी हार्दिक श्रद्धा नहीं, तो हमारे लिए संस्था में स्थान नहीं हो सकता। हमारे जीवन का सबसे बड़ा ध्येय अस्पृश्यता-निवारण ही है। यह निश्चय करके ही, मेरा ख़याल है, हम लोग हरिजन-सेवक-संघ में आये हैं। यदि इससे अन्यथा हेतु हो तो स्पष्ट ही हमारे लिए वह आत्मघात के समान है। ऐहिक भोग भले ही दूसरों के जीवन का लक्ष्य हो, पर हम संघवालों का नहीं हो सकता। भोग को हमें गौण स्थान देना होगा। त्याग की ओर खिंचकर ही तो हमने धर्म को जीवन का लक्ष्य बनाया है। धर्म के महान् उद्देश्य से प्रेरणा पाकर ही हम इस पवित्र संस्था में आये हैं। यदि हमारा अंतःकरण ऐसा नहीं मानता, तो फिर संस्था से अलग हो जाने में ही हमारा गौरव है। त्याग का मार्ग बलात्कार से ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह तो स्वेच्छा से और विवेक से अपनाने का मार्ग है। यदि कोई लाखों-करोड़ों की तरह अपने लिए भोग का मार्ग चुनता है, तो उसमें कोई लज्जा की बात नहीं। पर ऐसा करने के लिए सार्वजनिक संस्थाएँ उपयुक्त स्थान नहीं हैं।

ऊपर के इन प्रश्नों के उत्तर में ही हमारी सारी सफलता या असफलता समाई हुई है।

: ४५ :

उद्योगशाला

(२)

आठ वर्ष के दर्म्यान उद्योगशाला में आग्रहपूर्वक मैंने जो दो-चार प्रयोग किये उनके विषय में इस प्रकरण में अपने कच्चे-पक्के अनुभवों को लिखना चाहता हूँ।

सबसे पहले यह कहदूँ कि मेरा एक भी प्रयोग नया नहीं था। जिन प्रयोगों या प्रयत्नों में दूसरों को सफलता बहुत कम, बल्कि नाम-मात्र की मिली' और विफलता अधिक, उन्हींको बग़ैर ठीक तरह से समझे-बूझे मैंने भी हाथ में लिया और स्वभावतः लगभग उन्हीं परिणामों पर पहुँचा, जिनपर दूसरे प्रयोगकर्त्ता पहुँचे थे। गांधीजी से चार-पाँच साल पहले मैंने सुबह की प्रार्थना के सम्बन्ध में पूछा था कि हमारे कितने ही विद्यार्थी प्रार्थना की घण्टी सुनकर भी बिस्तरे नहीं छोड़ते, उन्हें रोज़-रोज़ जगाना पड़ता है। और प्रार्थना-मन्दिर में आते हैं, तो रोनी-सी सूरत लेकर बैठ जाते हैं, या फिर ऊँघते रहते हैं। ऐसी हालत में हमें क्या करना चाहिए ? गांधीजी ने जवाब में कहा, "जिस रास्ते पर तुमने अभी पैर रखा है उसपर मैं बहुत पहले चल

चुका हूँ सावरमती-आश्रम में कुछ दिनोंतक तो मैंने अपने साथियों को जगाने का खुद जिम्मा लिया था । पर कुछ को तो लंबा प्रयत्न करने के बाद 'मुक्ति-पत्र' ही देना पड़ा । लड़कों को 'मुक्ति-पत्र' देने की मैं तुम्हें सलाह नहीं देता । प्रयत्न तुम अपना जारी रखो । प्रार्थना में रस पैदा करो । यत्न करने पर भी जो लड़के न आयें, उनके लिए दुखी या क्षुब्ध होना ठीक नहीं । पर तुम कार्यकर्त्ताओं को तो प्रार्थना में नित्य जाना ही चाहिए । लड़के तुम लोगों का ही तो भला या बुरा अनुकरण करेंगे ।"

फिर भी मैंने लड़कों को ही सदा दोषी ठहराया । एक-दो वार प्रार्थना में अनुपस्थित रहनेवाले लड़कों का दूध भी बन्द कर दिया था । उन्हें डाँटा भी । पर इन उपायों ने काम नहीं दिया । मैं समझता हूँ कि प्रार्थना को भक्ति-भाव से करनेवाले तो बहुत थोड़े होते हैं । सामूहिक प्रार्थना में मेरा खुद का भी वैसा गहरा विश्वास नहीं है । सामूहिक प्रार्थना में मुख्य तो अनुशासन का शिक्षण है । पर यह हम भूल जाते हैं कि हमारे राष्ट्रीय स्वभाव, और हिन्दू-समाज की प्रकृति में तो और भी अधिक अनुशासन की बहुत कमी है । हम स्वभाव से व्यक्तिवादी हैं । मालूम होता है कि सामूहिकता हमारी प्रकृति में ही नहीं है । सैनिक शासन की बात जुदा है । भय से न कि मन से, हमसे कुछ भी कराया जा सकता है । पर क्या प्रार्थना सैनिक शासन की सीमा के भीतर आती है ? बहुत दिनों बाद मैं यह मत बना सका कि नहीं आनी चाहिए । प्रार्थना को सैनिक शासन के बल पर कराना उसके महत्त्व और रस को नष्ट कर देना है । प्रार्थना को फौजी कवायद नहीं बनाया

जा सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सबको स्वच्छन्दतापूर्वक मुक्ति-पत्र दे दिया जाये। प्रार्थना के लिए नित्य सवेरे उठाने का क्रम तो वैसा ही जारी रखा। समय-समय पर प्रार्थना का महत्त्व भी समझाता रहा। पर वैसी सख्ती से काम लेना छोड़ दिया। कुछ लड़के तो आलस्य कर जाते, और कुछ ऐसा सोचते होंगे कि हमारे अनेक गुरुजन तथा संघ के अनेक कार्यकर्त्ता भी जब प्रार्थना में सम्मिलित नहीं होते तब हमें ही क्यों बाध्य किया जाता है? भले ही उनकी इस शिकायत में कुछ अविनय रही हो, पर वह अनुचित नहीं कही जा सकती।

हमारे अधिकतर लड़के देहात से आते। शहरी लड़कों की संख्या तो बहुत कम होती। रहन-सहन सबका सादा ही रहता। फिर भी कुछ-न-कुछ असर तो शहर के वातावरण का पड़ना ही चाहिए। देहात से यहाँ आकर दूसरों की देखा-देखी लड़के और नहीं तो अंग्रेजी काट के बाल तो रख ही लेते हैं। फैशनवाले बालों से मुझे स्वभावतः कुछ चिढ़-सी रही है। इस चीज़ को लेकर विद्यार्थियों के साथ मैंने बड़ी ज्यादती की। समझाया, कितनी ही दलीलें दीं, और कई बार बुरी तरह डाँटा भी। मेरी आँखों के सामने तो विद्यार्थियों का वही प्राचीन काल का चित्र रहा। मैं उन्हें समझाया करता, "तुम्हारा यह बालों का वाहियात शौक़ तुम्हें धीरे-धीरे विलास अर्थात् पतन की ओर ले जायेगा। विद्यार्थी-अवस्था में शरीर का यह शृङ्गार अच्छा नहीं। यह त्याज्य वस्तु है। तुम्हारे चरित्र-निर्माण में यह चीज़ बाधक बन जायेगी" इत्यादि। अंत में तेल देना भी बंद कर दिया गया। पर मैं जो चाहता था वह न हुआ। उन्होंने अब अपने पैसों से तेल खरीदना

रू कर दिया। सुगंधित तेल की शीशी भी किसी-किसीकी आलमरीमें दिखाई देने लगी। शीशे और बढ़िया कंघे भी कइयों के पास देखे गये। काफ़ी प्रतिक्रिया हुई। मेरे प्रति अश्रद्धा भी बढ़ी। दस-पाँच ही ऐसे लड़के पाये, जिन्हें बाल रखने का शौक़ नहीं लगा। मुझ खुश्क ज़ाहिद का साथ सिर्फ उन्होंने ही दिया। मुझे अपनी ग़लती बहुत बाद को मालूम दी। लेकिन यह बात नहीं कि मैंने अपना मत बदल दिया। लड़कों की यह फ़ैशनपरस्ती मुझे सदा खटकती रही। मैं इस चीज़ को अच्छा नहीं समझता। ग़लती तो यहाँ मालूम हुई कि मुझे इस हदतक नहीं जाना चाहिए था। उन्हें समझाने और डाँटने में भी मेरा स्नेह-भाव तो रहता ही था। पर ज्यादती मैंने ज़रूर की। वातावरण का ध्यान नहीं रखा। मैं भूल गया कि हम शहर के वातावरण में रह रहे हैं, जिसके विषैले कीटाणु दौड़कर चिपटते हैं। जिसे मैं एक हौवा समझ रहा था वह तो बड़ी मामूली चीज़ थी। बालों का यह फैशन तो आज सभ्य विद्यार्थियों का एक सुलक्षण माना जाता है। लड़के हैरान थे कि यह प्रतिबन्ध केवल उन्हींपर क्यों लगाया जाता है, या उन्हींको जबर्दस्ती क्यों 'जंगली' बनाया जाता है, जब कि उनके कई शिक्षक और अन्य कार्यकर्त्ता भी अंग्रेज़ी काट के बाल रखते हैं! केवल एक ही संस्था ऐसी है, जहाँ विद्यार्थियों को ऐसे बाल रखने की आज्ञा नहीं; वह गुरुकुल है। पर गुरुकुल के ब्रह्मचारी भी जब स्नातक होकर वहाँ से निकलते हैं, तब उनमें भी खूब प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया का होना मुझे स्वाभाविक-सा लगा। मैं समझ गया कि मेरे 'प्रवचनों' पर लड़के क्यों इतना अधिक चिढ़ते हैं। फलतः जिस प्रतिबन्ध को

लड़के पहले ही तोड़ चुके थे उसे उठा लिया गया। लड़के अपनी जीत पर बड़े खुश हुए, और मुझे भी अपनी इस हार पर नाखुशी नहीं हुई।

इसी तरह सिनेमा देखने का भी मैं एक ज़माने से विरोध करता आ रहा हूँ। जीवन में केवल पाँच या छह बार मैंने सिनेमा देखा होगा, और वह भी तब के अनबोल चित्रपट। १६२५ से देखना छोड़ रखा है। तब यह 'बोल-चित्रपट' नहीं चले थे। लेकिन उनमें कितनी गंदगी भरी रहती है इसका पता मुझे या तो रेडियो में आनेवाले फिल्मी गानों से चला या ग्रामोफोन की किसी दूकान के सामने से गुज़रते हुए उनकी घोर बीभत्सता का अनुभव हुआ है। अधिकांश में ये फिल्मी गाने क्या हैं, दुर्गन्धपूर्ण वासनाओं को उगलनेवाले गन्दे नाले हैं। सिनेमा के पक्ष में लोग बड़ी-बड़ी दलीलें देते हैं, पर मेरे गले तो एक भी दलील नहीं उतरी। सिनेमा का शिक्षा तथा नीति-सम्बन्धी जो मूल्य बतलाया जाता है, वह असल में उसकी बीभत्सता को ढकने का काम करता है। मेरे कई मित्र इस धारणा को मेरी निरी हिमाक़त समझते हैं। अपनी इस हिमाक़त का प्रयोग मैंने अपने विद्यार्थियों पर भी करना चाहा। पर यहाँ भी मैं हारा। मेरे सिनेमा-विरोधी व्याख्यानों का कुछ भी असर न पड़ा। मैंने यहाँतक कहा कि सिनेमा तो शराब से भी अधिक घातक और व्यापक विष है। सिनेमा-सम्बन्धी विज्ञापन और पत्रों में सामयिक साहित्य देखकर मेरी विरोधात्मक धारणा और भी दृढ़ होगई। लेकिन लड़के कहाँ माननेवाले थे? स्कूल-कालेजों के सभी विद्यार्थी सिनेमा देखते हैं, बड़े-बड़े विद्वान और लोक-नेता तथा आश्रमवासी भी सिनेमा देखने जाते हैं। मेरे अपने लड़के और परिवार

के लोग भी साल में आठ-दस बार कोई-न-कोई खेल देख आते हैं। सिनेमा के घातक परिणामों पर शायद उनका ध्यान नहीं जाता। मैं सोचता रहता हूँ कि सिनेमा तो 'एटम बम' से भी अधिक नाशकारी आविष्कार है। एटम बम तो दस-पाँच पार्थिव नगरों का ही नाश कर सकता है, पर इस आततायी सिनेमा ने तो लाखों-करोड़ों 'मानस-नगरों' का विध्वंस किया है; उनका पुनर्निर्माण असम्भव है। पर मेरे इस अरण्यरोदन को कौन सुनता है? तब बेचारे लड़कों पर ही यह प्रतिबन्ध क्यों लगाया जाये? चोरी से तो वे देखते ही थे। छुट्टी के दिन उन्हें बाँधकर तो रखा नहीं जा सकता था। यद्यपि अपने पास पैसा रखने का नियम नहीं था, फिर भी सिनेमा देखने के लिए उन्हें कहीं-न-कहीं से पैसा मिल ही जाता था। जिस वस्तु को मैं त्याज्य समझता हूँ, उसे दूसरे भी मेरी ही तरह त्याज्य समझें इस आग्रह-वृत्ति में मुझे कुछ भूल मालूम हुई। मैंने देखा कि असत्य-भाषण और चोरी को मैं परोक्ष रीति से प्रोत्साहन दे रहा हूँ। अतः अपने आग्रह को मैंने ढीला कर दिया। दो शर्तों पर उन्हें सिनेमा देखने की छुट्टी दे दी—दफ्तर से, अपने निजी खाते से, टिकट का पैसा लेकर जायें, और जो खेल अपेक्षाकृत कुछ अच्छा या कम हानिकारक समझा जाता हो केवल उसीको देखें। इस तरह इस ज़हर की गोली को, हार मानकर, निगलना पड़ा। मुझे इन शर्तों के पालन होने में सन्देह रहा। मगर सिनेमा के प्रति मेरी जो अपनी दृष्टि है उसमें इस छूट से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दूसरों पर अपने चाहे जिस विचार को लादने का मैंने केवल आग्रहभर छोड़ा।

विदेशी खेलों के बारे में भी कई बरसोंतक मेरा ऐसा ही भिन्न मत रहा, और वह आज भी बना हुआ है। भरसक लड़कों को मैंने फुटबाल या वालीबाल खेलने का प्रोत्साहन नहीं दिया। हाकी या क्रिकेट तो बेचारे कभी खेले ही नहीं। खेलों के मैंने तीन विभाग कर रखे हैं, जिन्हें क्रम से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट मानता हूँ; अर्थात्, उत्पादक, अनुत्पादक और अर्थनाशक। उत्पादक, जैसे बाग़वानी। इसमें मेहनत भी बड़ी अच्छी हो जाती है; और साथ-साथ मनोरंजन भी होता है। बालकों से लेकर बुड्ढेतक इस सुन्दर सात्त्विक खेल में हिस्सा ले सकते हैं। अनुत्पादक तो पचासों देशी खेल हैं। कबड्डी ऐसे खेलों में बड़ा अच्छा खेल है। इन खेलों पर एक पाई भी खर्च नहीं होती, और कसरत भी बहुत अच्छी हो जाती है। इनके लिए साधन-सामग्री की भी कोई आवश्यकता नहीं। हाकी, क्रिकेट, फुटबाल आदि विदेशी खेल सारे ही अर्थनाशक हैं। इन खेलों पर हमारे दरिद्र देश का लाखों रुपया हर साल ख़र्च होता है। इन खेलों के साथ और भी कई फिजूल शौक़ लग जाते हैं। इन खेलों के बारे में स्व० आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का मत जब मैंने एक दैनिक पत्र में पढ़ा, तब से मेरा विरोध और भी दृढ़ हो गया। मैंने अपने विद्यार्थियों को इन विदेशी खेलों से अलग रखना चाहा। पर मैं अपने मत का अकेला ही था। पूज्य बापातक से मुझे समर्थन न मिल सका। लड़के तो रुष्ट रहते ही थे। मुझे भी लगता था कि मैं ज्यादती कर रहा हूँ। प्रकृति और काल के प्रवाह के विरुद्ध मैं नहीं जा सका। अपनी हार स्वीकार करली। असन्तुष्ट लड़कों को फुटबाल और वालीबाल खेलने की छुट्टी देदी।

इन अर्थनाशक खेलों के प्रीत्यर्थ बजट में हर साल अब एक नियत रकम भी रखी जाने लगी।

इन सारे प्रयोगों व आग्रहों को मेरे विद्यार्थियों और अनेक कार्यकर्त्ताओं ने कभी कुछ बहुत अच्छा नहीं समझा। फिर भी अपने रोष या असन्तोष को उन्होंने बहुत-कुछ संयत रखा. और मेरी आग्रह-वृत्ति को सहन भी काफ़ी किया। मेरे असामयिक विचारों को कुछेक विद्यार्थियों ने स्वेच्छा से अपनाया भी।

ऐसे कितने ही प्रसंग आये, जब व्यवस्थापक के नाते ऐसा व्यवहार भी करना पड़ा, जिसे मैं करना नहीं चाहता था। अनुशासन रखने के लिए कभी-कभी काफ़ी सख़्त होना पड़ा। शरारती और उद्दण्ड लड़कों को दण्ड देने के पक्ष में मेरे कुछ सहकारियों ने कितनी ही लुभावनी दलीलें दीं! पर मैं कभी उनकी इस बात पर राज़ी नहीं हुआ कि लड़कों को शारीरिक दण्ड दिया जाये। शिक्षकों की कठिनाइयों को अनुभव करते हुए भी मैं उनके साथ सहमत न हो सका। पर मैं खुद कई बार चूका और बुरी तरह चूका। किसी शरारती लड़के की कोई गम्भीर शिकायत सामने आई तो उसे मैंने माफ़ नहीं किया—उसे काफ़ी डाँटा, और एक-दो थप्पड़ भी लगा दिये। पर मन ने इस चीज़ का कभी समर्थन नहीं किया। बाद को पछताया भी, रोया भी। किन्तु क्रोध में भी अपराधी के प्रति स्नेह-भाव मेरा कम नहीं हुआ।

कुछ लड़कों ने समझा कि मैं सख़्त हूँ, और कुछ ने मान लिया कि नरम हूँ। मेरे सहकारियों का भी ख़याल रहा कि लड़कों पर मैंने कड़ी नज़र नहीं रखी और यही कारण है कि उन्होंने प्रायः अनुशासन को

नहीं माना। किसीके भी संबन्ध में एकमत होना बड़ा कठिन है, आवश्यक भी नहीं। सख्त रहा या नरम इस प्रश्न के निर्णय में न पड़कर मैंने सदा यह देखा और प्रयत्न भी किया कि लड़कों का पितृस्थान मैं कहाँतक ले सका हूँ। इस बात की कसौटी यह नहीं होगी कि उनकी मेरे ऊपर श्रद्धा रही या अश्रद्धा, बल्कि यह होगी कि सहज स्नेह से मैं कहाँतक उनका हितचिन्तन कर सका। मानता हूँ कि यह कसौटी बड़ी कड़ी है। प्रयत्न भी महा कठिन है। यह निरा दिवास्वप्न भी हो सकता है। मुझे खास सफलता भी नहीं मिली। पर मेरा उद्योगशाला से सम्बन्ध जोड़ने का एकमात्र उद्देश यही रहा।

अन्त में, दो शब्द अपने स्नातकों के विषय में भी। आधे से ऊपर स्नातकों ने अपने उद्योगों द्वारा जीविका चलाई है। कई स्नातकों में खासी संस्कारिता और राष्ट्रीय भावना भी पाई। जो बेकार बैठे रहे, वे सारे ही आलसी या निकम्मे नहीं थे। परिस्थितियाँ उन्होंने अपने अनुकूल नहीं पाईं; औजार और दूसरे साधन वे जुटा नहीं सके। सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने उनकी कुछ मदद नहीं की। हम लोग रचनात्मक कार्यक्रम में केवल मौखिक या लिखित विश्वास प्रकट करना जानते हैं; इससे आगे नहीं जाते। देहातों में जाकर हमारे लड़कों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। कइयों की आर्थिक अवस्था इतनी खराब रही कि वे ज़रूरी औजारतक नहीं खरीद सके। फिर पुश्तैनी कारीगरों का भी उन्हें मुक़ाबला करना पड़ता है। उनकी प्रगति में छूआछूत भी बाधक बनती है। हमारे लोक-सेवक बल नहीं लगाते कि वे कुछ आगे बढ़ें। ऐसी हालत में अपने ही पैरों पर वे खड़े हुए और अपने ही बल से आगे बढ़े

: ४६ :

चौबीस बरस बाद

छतरपुर का—अपने प्रिय जन्मस्थान का पुनर्दर्शन मैंने १६४४ के अन्त में, लगभग चौबीस बरस बाद, किया ! पन्ना से छतरपुर यद्यपि ४२ मील के ही अन्तर पर है, तो भी पन्ना-निवास के उन छह-सात सालों के बीच छतरपुर जाने का कभी संयोग नहीं आया। पूज्य धर्म-माता के स्वर्गवास के पश्चात् स्वेच्छा से मैंने निर्वासन-सा स्वीकार कर लिया था। पन्ना से नौगाँव या झांसी जाते-आते छतरपुर यद्यपि रास्ते में पड़ता था, तोभी कभी वहाँ उतरा नहीं। बचपन के उस स्वर्गकल्प जन्मस्थान ने मेरे शुष्क हृदय को फिर खींचा नहीं !

वहाँ, पूरे दो युगों के बाद, फिर एक बार जाने का प्रसंग तो यों आया। पाँच-छह साल के बाद माँ तथा दूसरे कुटुंबी डेढ़ महीने के लिए 'देश' गये हुए थे। मेरा बड़ा लड़का चि० भगवद्दत्त भी मेरी माँ के साथ गया था। बुन्देलखण्ड के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के चित्ता-कर्षक वर्णन उसने अनेक बार मुझसे सुने थे। उसने कवि का हृदय पाया है, अतः वहाँ के मनोरम दृश्य देखने के लिए अधीर-सा हो रहा था। बाद को, कोई पन्द्रह दिन बाद, छोटे लड़के चि० मोतीलाल को

भी मैंने अपने ममेरे भाई के साथ भेज दिया। छतरपुर वह भी देखना चाहता था। ये दोनों लड़के, भगवत और मोती, मेरे स्वीकृत पुत्र हैं।

मामा का विशेष अनुरोध और आग्रह था, और मेरा भी कुछ-कुछ मन हुआ कि क्यों न एक बार छतरपुर हो आऊँ। जाने का निश्चय कर लिया। पर ठहर पाया वहाँ केवल पाँच ही दिन। 'अतिथि' के रूप में अपने घर पहुँच गया। इतने बरसों बाद अपना सुन्दर नगर देखा, पर न जाने क्यों, चित्त वैसा भक्ति-भाव से प्रफुल्लित नहीं हुआ। बाज़ार और दूसरे भाग तो वैसे ही बल्कि कुछ उन्नत थे, पर हमारा मोहल्ला सारा ऊजड़-सा दिखाई दिया। सर्वत्र सूनापन। अपने अध्ययन के जिस कोठे को मैंने 'प्रेम-निकेतन' का सुन्दर नाम दे रखा था, उसे भयावने खंडहर के रूप में पाया। रहने का हमारा वह कच्चा घर भी जराजीर्ण हो चुका था; जैसे रोज-रोज के अभाव को बेचारा सँभाल नहीं पारहा था। और यही दशा मेरे पड़ोस के अनेक घरों की भी थी। सामने के खारे कुएँ पर पनिहारिनों की वह पहले की चख-चख नज़र नहीं आई। न हमारे शिवाले पर जल तथा बिल्वपत्र चढ़ानेवाले भक्तों की वह भीड़ ही दिखाई दी। लगा कि मैं आज कहाँ आ गया! सबका सब यह क्या हुआ! जहाँ भी दृष्टि दौड़ता हूँ, वहीं सूनापन और अभाव दिखाई देता है। काल के प्रखर प्रवाह ने यह क्या-से-क्या कर डाला!

दो-तीन दिनोंके अन्दर ही मैं सब-कुछ देख लेना चाहता था। सोई हुई मेरी एक-एक स्मृति जागने लगी। उन जागृत स्मृतियों ने जैसे मेरे मन को झकझोर डाला। देखा, यह वही झोंपड़ा है, वही यह आँगन है, वही यह चौंतरा है, जहाँ मैं खेलता-कूदता था, पढ़ता-लिखता

था, और उठता-बैठता था। गोसाइँयों की वह गढ़ी धराशायी हो चुकी थी, पर उसके सामने का वीरान बगीचा रह-रहकर पुरानी याद दिला रहा था कि दिन में तो लड़कों के साथ तुम यहाँ खेलने चले आते थे, पर रात को मारे डर के इधर कभी झाँकते भी नहीं थे। मन्दिर के पिछवाड़े इमली के ऊँचे-ऊँचे दरख्त उसी तरह आज भी खड़े हुए थे। फिर नाना और नानी के लाड़-प्यार की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ आँखों के सामने नाच उठीं। छतरपुर छोड़ने के बाद मामी को तो फिर चौबीस बरसों में कभी नहीं देखा। कई बरस पहले वह चल बसी थीं। हमारे पड़ोसी माधव गोसाईं और लाला चिंताहरण भी खूब याद आये। माधव गोसाईं और नाना के बीच एक बार कुछ झगड़ा होगया था। बरसों दोनों का बोलचालतक बन्द रहा, पर हृदय से प्रेम-भाव नहीं गया। कई बरस बाद जब दोनों पड़ोसी गले मिले उस दिन का वह स्नेह-करुण दृश्य भला कभी भूल सकता हूँ? वैसा सरल प्रेमभाव आज बहुत कम दीखता है। द्वेष की लू में हृदय की हरियाली झुलसती चली जा रही है। लाला चिंताहरण कापियाँ बनाने के बादामी काग़ज़ ही नहीं दिया करते थे, मेरी तब की तुकबन्दियों पर दाद भी खूब देते थे। तीस-पैंतीस साल पहले का उनका वह 'महिम्नस्तोत्र' का मधुर पाठ भी कानों में गूँज उठा। मेरे सहृदय मित्र स्व० छक्कीलालजी भी खूब याद आये। उनके घर पर हमारी साहित्यिक बैठक जमा करती थी! अहा! हमारा मोहल्ला तब कैसा हरा भरा था, कैसी चहल-पहल रहती थी। जन्माष्टमी की झाँकी व जल-विहार का मेला भी याद आगये। रामलीला और दीवाली-

होली के उत्सव भी मुझे बचपन की उस धुँधली-सी छाया की ओर खींच ले गये। गवाही देनेवाले, बस, इतने ही तो कुछ बचे थे—वह खारा कुआँ, वह शिव-मंदिर, वे ऊँचे-ऊँचे पेड़ और कुछ वीरान और कुछ आबाद घर। किन्तु 'क्षणिकवाद' का आश्रय लेलूँ, तब तो यह कहना भी कठिन होगा कि मेरे स्मृति-चित्रों की गवाही देनेवाले ये सब वे ही थे या परिवर्तित रूप में कोई दूसरे। तब तो, तब का मन भी यह नहीं, और मेरा तन भी यह नहीं। काल के अनंत प्रवाह के लेखे में किसे तो अतीत कहा जाये और किसे वर्तमान! भविष्य की तो चर्चा ही क्या? फिर भी अविभाज्य असीम काल को हम बुद्धिमानों ने तीन भागों में विभक्त और सीमित कर रखा है, और सर्वत्र कल्पना-ही कल्पना से काम ले रहे हैं। उठती-गिरती कल्पनाओं का यह मोह कितना सुन्दर और कितना वीभत्स है! इस मोह के आगे मनुष्य कितना दीन-हीन बन गया है! औरों की मैं नहीं कहता, पर स्वयं अपनी कहता हूँ कि शान्तिप्रद 'शून्यत्व' का मैं क्षणमात्र भी अनुभव नहीं कर पाता।

पर मैं यह सब क्या-क्या कह गया? हाँ, तो उस चलदलधर्मा स्मृति-प्रवाह ने मुझे अस्त-व्यस्त-सा कर दिया। फिर भी वैसा व्याकुल या व्यथित नहीं हुआ। सामान्य प्रवासी की भाँति छतरपुर मेरे लिए आज छूटा हुआ 'वतन' नहीं था। और मेरा भावुक कवि तो, मेरी खुशनसीबी से, मुझसे पहले ही विदा ले चुका था। कुछ हलका तूफान-सा हृदय-तल्व पर एक बार उठा और अपने आप वहीं-का-वहीं बैठ भी गया।

उस दिन, जब मैं पहुँचा, शाम को ताज़िये निकलनेवाले थे।

छतरपुर के ताज़िये उधर दूर-दूरतक मशहूर हैं। ऊदलसिंह का अबरक का ताज़िया तो कारीगरी में अपनी सानी नहीं रखता था। पर अब वह बात नहीं थी। फिर भी दिल्ली के ताज़ियों के मुकाबिले छतरपुर के ताज़िये काफ़ी सुन्दर थे। मुसल्मानों के साथ हिन्दू भी उमंग और प्रेम से ताज़ियों के जुलूस में हमेशा की तरह उस साल भी शरीक हुए थे। मैं भी देखने चला गया। जुलूस हमारे मोहल्ले में से ही गुज़रता है। रात को पुराने मिलने-जुलनेवालों से वहाँ अनायास ही भेंट-मुलाक़ात हो गई। मेरे कुछ मित्र और बुज़ुर्ग तो बड़े ही प्रेम व स्नेह से मिले।

जितने दिन वहाँ रहा, मिलनेवालों का ताँता-सा लगा रहा। कोई काव्य-चर्चा करने आते थे, और कोई दिल्ली की बातें व लड़ाई की खबरें पूछने। एक-दो सज्जनों ने धर्म और अध्यात्म के भी प्रसंग छेड़ दिये। पर मेरे मुँह से अस्पृश्यता-निवारण की बात सुनकर उनके मन को जैसे ठेस पहुँची, फिर भी प्रकट में कुछ न कहा। मेरी साहित्यिक रुखाई और धर्म-भ्रष्टता देखकर कई मित्रों को निराशा ही हुई। मैं तो उनसे राज्य की असली हालत जानना चाहता था। पर मेरे पूछने पर राज्य की उचित आलोचना भी किसीने नहीं की। राजनीतिक जागृति बहुत कम देखी। दूसरी रियासतों की तरह छतरपुर की भी प्रजा को मैंने दुखी और दुर्बल पाया। मगर किसीको मुँह खोलने की हिम्मत नहीं होती थी; कुछ तो अधिकारियों के दबाव व डर से, और कुछ आदतन 'संतोषी' बन जाने के कारण। जीवन की ज़रूरी चीज़ें भी मिलने में भारी कठिनाई आरही थी, जैसे कोई व्यवस्था ही न हो। किन्तु मेरे

जैसा चार दिन का मेहमान, सिवा मन मसोसकर रह जाने के, कर ही क्या सकता था? मेरा सारा समय मिलने-जुलने में ही चला गया। लोगों ने मेरे ऊपर अपना सारा संचित स्नेह उँडेल दिया।

एक दिन नगर-प्रदक्षिणा भी कर डाली। तीस-चालीस साल पहले के कितने ही धुँधले-से दृश्य स्मृति-पटल पर फिर एक-एक करके उतरने लगे। टोरिया पर स्थित हनुमानजी का वह मन्दिर भी देखा, जहाँ से उतरते हुए मैं तीस साल पहले बुरी तरह गिरा था। मेरे पुराने परिचित महंतजी बड़े प्रेम से मिले। सिंघाड़ी नदी का वह घाट भी देखने चला गया, जिसे जोतिषी बाबा ने अकेले ही बड़े-बड़े शिलाखंड ढो-ढोकर तैयार किया था। फिर अपने पिछवाड़े के गरीब काछियों की झोंपड़ियाँ बाहर से देखीं। नब्बे बरस का मुण्डा काछी, जो गोद में मुझे लेकर खिलाया करता था, सुनकर दौड़ा आया। बेचारा अंधा होगया था। देवी और भूत-प्रेतों का यह पहुँचा हुआ भगत था। औरतें उससे बहुत डरा करती थीं साठिये कुओं में डुबकी मारकर कलसा और लोटा ही नहीं, चांदी की चूड़ियाँतक ढूँढ़कर ले आने में मुण्डा काछी एक ही था। अब बड़ा दुखी था। उसकी दीनदशा देखकर गला भर आया। इसी तरह रामायणी बाबा भी लाठी टेकते हुए जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मुझसे मिलने आये थे। इनके पिता और यह राज-मन्दिर में नित्य नियम से रामायण की कथा कहा करते थे। पाठ तथा अर्थ करने का उनका बड़ा रोचक ढंग था। बाल्यकाल में नाना के साथ मैं भी कभी-कभी रामायण सुनने जाया करता था। मुझे देखकर रामायणी बाबा का हृदय वात्सल्यस्नेह से उमड़ आया। मुझे भी कथा-श्रवण

के वे पुराने दिन याद आ गये।

मेरे अध्यापक श्रीवृन्दावनजी, जिनके घर पर मैं पढ़ने जाया करता था, कई बरस पहले स्वर्गस्थ होचुके थे। अध्यापकों में अब केवल मास्टर दिल्लीपत थे, जिनसे मिलने की बड़ी इच्छा थी। दिन छिपने से कुछ पहले उनके घर पर मैं अचानक ही पहुँचा। जाकर श्रद्धापूर्वक मास्टर दिल्लीपत को प्रणाम किया। अपने पुराने विद्यार्थी से वे बड़े स्नेह से मिले। घर खूब स्वच्छ था। चटाई पर बैठे थे। हाथ में तुलसी की माला थी और हरि-भजन कर रहे थे। इतने बरसों के बाद भी मैंने अपने आपको मास्टर साहब के सामने एक विनम्र 'विद्यार्थी' ही अनुभव किया। अध्ययन-काल में गुरुजनों से जो सहजशील की दीक्षा पाई थी उस अनमोल निधि को क्यों हाथ से जाने दूँ ? मेरे जीवन में वह सचमुच एक पवित्र घड़ी थी। आचार्य से मिलकर बहुत आनन्द-लाभ हुआ।

इससे पहले राज्य के दीवान साहब से उनके बंगले पर मिलने गया था। मुझे उन्होंने याद किया था। पहले का मेरा उनसे परिचय नहीं था, फिर भी बहुत अच्छी तरह मिले। साधारणतया इधर-उधर की कुछ बातें हुईं। अपनी समझ से उन्होंने राज्य में जो सुधार (?) किये थे, उनकी भी कुछ चर्चा की। कुल मिलाकर मुझे वे एक मिलनसार व चतुर हाकिम मालूम दिये, साथ ही अंग्रेज़ सरकार के अच्छे वफ़ादार भी। रियासती राजनीति की गहराई में नहीं उतरे; मुझसे ज़रा बच-बचकर बातें कीं। मगर मुझसे क्या छिपा था! दीवान साहब को तो रियासत में आये मुश्किल से तीन या चार साल हुए थे, जब

कि मेरा वहाँ जन्म हुआ था, वहीं बड़ा हुआ था, और रियासती राग के 'स्वर-ताल' से भी पूर्णतया परिचित था।

मेरी इस मुलाकात का पेशकार व दूसरे अहलकारों पर काफ़ी असर पड़ा। उनकी दृष्टि में मैं कितना बड़ा भाग्यशाली था, जो हुजूर दीवान साहब कमरे से निकलकर मुझे बरामदेतक खुद भेजने आये थे! और बग्घी के कोचवान ने, जब मैं उतरने लगा, मुझसे बख्शीश माँगी—यह समझकर कि दीवान साहब ने शायद मुझे किसी बड़े ओहदे पर नियुक्त कर दिया है!

: ४७ :

खजुराहे के मन्दिर

अब, बस, खजुराहे के भारत-प्रसिद्ध मन्दिर ही देखने, अथवा मोती को एक बार दिखाने थे। भगवत देखकर लौटा ही था, और उसने अपने छोटे भाई की उत्कण्ठा को और भी तीव्र कर दिया था। बुन्देल-खण्ड का कौन ऐसा अभागा यात्री होगा, जो वहाँ जाकर इन अनूठे मन्दिरों के देखने की इच्छा प्रकट न करेगा ? खजुराहे की अद्भुत शिल्प-कला की प्रशंसा तो मुक्तकण्ठ से विदेशी यात्रियों और प्रख्यात पुरातत्त्व-शोधकों ने भी की है।

छतरपुर से यह लगभग ३० मील दूर है। बचपन में तो मैं यहाँ नाना के साथ प्राय: हर साल ही आया करता था। यहाँ का शिवरात्रि का मेला सारे बुन्देल-खण्ड में प्रसिद्ध था, और शायद अब भी है। मेला यहाँ एक या डेढ़ महीनेतक खूब भरा रहता था। दूर-दूर से हर प्रकार के दूकानदार आते थे। मथुरा के पेड़ों की तरह यहाँ का 'सिंघाड़पाग' (सिंघाड़े व मावे के मीठे सेव) मशहूर था। मतंगेश्वर (मृत्युञ्जय) महादेव पर जल चढ़ाने कई हज़ार तीर्थ-यात्री यहाँ शिवरात्रि पर आते हैं। इस विशाल शिवलिंग की महिमा पुराण-प्रसिद्ध 'ज्योतिर्लिंगों' की

जैसी ही है। रेल से ६५ मील दूर होने के कारण दूर-दूर के यात्री यहाँ पहुँच नहीं पाते, नहीं तो यह खजुराहा भी आज एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान बन गया होता।

हम लोग तब महाराजा प्रतापसिंह के 'मुकरबे' में ('मकबरे' का अपभ्रंश—असल में समाधि मन्दिर) ठहरा करते थे। इसके पास ही एक छोटा-सा राज-भवन है। वहीं 'शिवसागर' तालाब है। इस सारे स्थान को, जहाँ मन्दिर-ही-मन्दिर हैं, 'पुरी' कहते हैं। खजुराहा गाँव यहाँ से कोई सवा-डेढ़ मील है। हम लोग तब पुरी में ही मेले के दिनों में, रहते थे। अपना तब का डेरा देखकर बचपन के वे सुनहरे दिन बरबस याद आ गये। इसी मेले में रामायण का एक सुन्दर गुटका मैंने जिद करके खरीदा था, और एक छोटी सी सितारी भी ली थी। इन खिलौनों को लेकर मुझे उस दिन कितनी खुशी हुई थी! तब मैं आठ या नौ बरस का था। एक-दो साथियों की धुँधली सी सूरत भी ध्यान में आई, पर उनके नाम याद नहीं आरहे थे। शायद मेरे एक हेती (मित्र या साथी) का नाम रामाधार था। हम दोनों यहाँ खूब खेला कूदा करते थे। जहाँतक याद है, आपस में कभी मार-पीट नहीं की थी। हम लोग होली भी यहीं खेलते थे। बसन्ती रंग टेसू के फूलों का खुद बना लेते थे। रंग-बिरंगे गुलाल से भरे कुमकुमे (चपड़े की गेंदें) एक दूसरे के मुँह पर ताककर मारते थे। गाँव के लोग रात-रातभर गला फाड़-फाड़कर फागें गाते थे। उधर राज-भवन में फागोत्सव की रास-लीला अलग हुआ करती थी। मेरे नाना ढप पर व्रज के धमार गाया करते थे। उन्हें सन्तमार्गी कई निर्गुण धमार भी याद थे। रंग-पंचमीतक भारी

रंग और उत्सव रहता था। इसके बाद हम लोग राजनगर चले जाते और वहाँ भी तीन-चार सप्ताह रहते थे। सचमुच वे मेरे बालपन के सुनहरे दिन थे। हाईस्कूल में नाम लिखाने के बाद फिर खजुराहा और राजनगर जाना छूटा-सो-छूटा। पन्ना से, अलबत्ता, दो बार खजुराहा देखने गया था; एक बार तो श्रद्धास्पद स्व० पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को साथ लेकर और दूसरी बार शायद राज-परिवार के साथ। पर राजनगर को तो मैंने पूरे ३७ साल बाद फिर से देखा।

छतरपुर से हम लोग पहले सीधे राजनगर ही गये थे। खजुराहे से राजनगर ढाई-तीन मील है। यहाँ तहसील का सदर मुकाम है। खासा अच्छा कस्बा है। बाजार और मिडिल स्कूल के अलावा एक अस्पताल भी है। यहाँ पर थोड़ी जन-जाग्रति भी पाई। कुछ आर्यसमाज का भी प्रभाव देखने में आया। यहाँ के डाकबाबू श्रीरामप्रताप ने बड़े प्रेम से हमारा आतिथ्य किया। परिचय इनसे मेरा केवल पत्र-व्यवहार का था। गरीब होते हुए भी आतिथ्य इस प्रदेश के लोग हृदय से करते हैं। मेरा नाम सुनकर कई लोग मिलने आये, यद्यपि पहचानता मैं केवल एक-दो सज्जनों को ही था। उस साँझ को हम लोग गाँवके बाहर काफ़ी दूरतक घूमने निकल गये। चारों ओर हरे-हरे खेत देखकर चित्त प्रफुल्लित हो गया। एक कुएँ पर, जहाँ लकड़ी व मिट्टी की घड़ियों का रहँट चल रहा था, हाथ-पैर धोये। लोहे के कीमती रहँट से गाँव का यह रहँट इधर काफ़ी अच्छा और सस्ता होता है। गाँव का बढ़ई मेंड़ पर के किसी पेड़ को काटकर रहँट तैयार कर देता है। कुम्हार घड़ियाँ बना देता है। किसान खुद रस्सी बटकर घड़ियों को बाँध देता है। न

कोई कल-पुर्ज़ा, न कुछ झंझट। खेत के बुड्ढे काछी ने बुन्देलखण्डी बोली में हमारी आव-भगत की, मेंड़ के पेड़ से तोड़-तोड़कर खट-मीठे बेर खिलाये और बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। दूसरे दिन सवेरे हम लोगों ने एक स्वच्छ कुइयाँ पर नहाया। उसके पास एक दालान भी था। राजनगर के एक सेवा-भावी वृद्ध सुनार ने इस सुरम्य स्थान को बनवाया है। रोज सवेरे जाकर अपने हाथ से वह खुद झाड़ू लगाता, और सारी जगह साफ़ रखता था। सचमुच नहाने-धोने के लिए यह बड़ा सुन्दर स्थान है।

राधा-माधव और जानकी-रमण के मन्दिरों की मुझे कुछ-कुछ धुँधली-सी याद थी। मन्दिरों की अब वह श्री-शोभा नहीं रही थी। गढ़ी को बाहर से देखते हुए हम खजुराहे के मन्दिर देखने के लिए राजनगर से पैदल ही चल पड़े। वहाँ के एक सज्जन भी हमारे साथ हो लिये।

समय बहुत कम था। उसी रात को हमें छतरपुर वापस जाना था। चार घंटे में ही शिव-पुरी के तथा खजुराहे गाँव के जैन-मन्दिरों को हमने जल्दी-जल्दी देखा। सबसे ऊँचा और सुविशाल मन्दिर यहाँ खंडारिया (कंदरीय) महादेव का है। यह ७२ हाथ लम्बा, ९६ हाथ चौड़ा और लगभग ७८ हाथ ऊँचा है। मन्दिर के पाँच भाग हैं—सबसे पहले अर्द्धमण्डप, उसके बाद मण्डप, उसके आगे महामण्डप, उसके बाद अन्तराल और फिर गर्भगृह। स्थापत्य और मूर्तिकला इस की विशेष सुन्दर है। किन्तु इससे भी ऊँचा शिल्प नैपुण्य लक्ष्मीजी के मन्दिर का है, जो खंडारिया मन्दिर के उत्तर में स्थित है। यह

मन्दिर भी विशाल है। सम्भवतः पहले यह विष्णु-मन्दिर रहा हो, क्योंकि इसके गर्भगृह के द्वार पर मध्य में विष्णु तथा दोनों पार्श्वों में शिव और ब्रह्मा की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। विश्वनाथ का मन्दिर भी शिल्पकला की दृष्टि से खासा सुन्दर है। इसके शिला-लेखों में १०५६ और १०५८ ये दो संवत् खुदे हुए हैं। एक लेख में चंदेलवंशी राजा धंग और उसके पुत्र गंडदेव के नामों का उल्लेख मिलता है। पर इससे भी प्राचीन 'चतुर्भुज, का मन्दिर है। आकार में यह विश्वनाथ के मन्दिर के जैसा ही है। किन्तु मूर्तियाँ इसकी अत्यन्त सुन्दर हैं। इस मन्दिर को चंदेलवंशी राजा यशोवर्मन और उसके पुत्र धंगदेव ने संवत् १०११ में बनवाया था। मन्दिर के शिला-लेख में चंदेल राजाओं की वंशावली भी खुदी हुई है। चतुर्भुज-मन्दिर के पूर्व में वाराह-मन्दिर है। वाराह की सुन्दर विशाल मूर्ति दर्शनीय है। इसके शरीर पर अगणित मानव-मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। चतुर्भुज-मन्दिर से दक्षिण दिशा में मतंगेश्वर (मृत्युञ्जय) महादेव का मन्दिर है। यह मन्दिर प्राचीन नहीं है, यद्यपि मतंगेश्वर की प्रतिमा प्राचीन मालूम देती है। इस मन्दिर में ऐसा कोई विशेष शिल्प-नैपुण्य भी नहीं है। सूर्य-मन्दिर के उत्तर की ओर हमने एक भग्न स्तूप देखा। आसपास और भी कई टूटे-फूटे स्तूप यहाँ दिखते हैं। सम्भवतः ये बौद्ध मठों के भग्नावशेष हों, जिनका वर्णन चीन के प्रसिद्ध यात्री यूअन च्वांङ ने किया है।

बहुत सी भग्न मूर्तियों और अवशेषों का राज्य ने एक संग्रहालय बना दिया है। उसे भी हमने सरसरी नज़र से देखा। खुदाई और शोध का काम यहाँ कम ही हुआ है। मन्दिरों की मरम्मत का काम

भी अधिक सन्तोषजनक नहीं हुआ। नया काम पुराने से मेल नहीं खा सका, साफ़ अलग दिखता है। विन्ध्य प्रदेश को तथा भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग को इस उपेक्षित ऐतिहासिक स्थान के पुनरुद्धार का पूरा प्रयत्न और आयोजन करना चाहिए।

पुरी से हम लोग खजुराहा गाँव गये। यहाँ कई जैन-मन्दिर हैं। पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्त्ति बड़ी भव्य है। छठी-सातवीं शताब्दियों के बौद्ध भग्नावशेष भी यहाँ मिले हैं। मालूम होता है कि एक बौद्ध मन्दिर पर शायद बाद को जैनों ने अधिकार कर लिया था। आदिनाथ का मन्दिर बाहर से ही देखा। पुजारीजी ताला बन्द करके कहीं घूमने चले गये थे।

खजुराहे में बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्म के मन्दिर पास-पास बने हुए हैं। इससे हमें इन धर्मों की पारस्परिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है। महाप्रतापी चंदेल राजाओं ने जेजाकभुक्ति के इस प्राचीन नगर को सचमुच उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था। वे कितने ऊँचे कलाप्रिय रहे होंगे, इसकी साक्षी आज भी ये अनेक प्राचीन मन्दिर दे रहे हैं।

चित्त जहाँ यह सब स्थापत्य और मूर्ति-कला देखकर हर्षित हुआ, वहाँ एक दृश्य देखकर कुछ खिन्न भी हुआ। कतिपय मन्दिरों में, खासकर खंडारिया महादेव के मन्दिर में, प्रस्तर-खंडों पर खुदे हुए कुछ चित्रों को देखकर क्षोभ हुआ। ये रतिकला विषय के अश्लील चित्र थे। उड़ीसा के प्रसिद्ध मन्दिरों पर भी इस भ्रष्टता का प्रदर्शन देखने में आता है। यथार्थवादियों ने मनोविज्ञान का सहारा लेकर इस अश्लील कला के पक्ष का अद्भुत तर्कों से समर्थन भी किया है। पर मैं तो ऐसे

कला प्रदर्शन को, चाहे वह कितना ही सुन्दर हो, 'नारकीय' ही कहूँगा। हमारी अनुपम शिल्पकला की उज्ज्वल कीर्त्ति पर निश्चय ही यह एक कलंक रेखा है। ऐसे तमाम वीभत्स चित्रों को तोड़कर उनके स्थान पर सुन्दर शील-सम्पन्न चित्र क्यों न खुदवा दिये जायें।

दूसरे दिन, जिस दिन मैं छतरपुर से दिल्ली के लिए रवाना होनेवाला था, कुछ मित्रों ने छतरपुर के जैन पुस्तकालय में मेरा स्वागत-सत्कार किया। जाग्रत जैनबन्धुओं की यह एक खासी अच्छी संस्था है। जैनधर्म पर मैंने वहाँ एक भाषण भी किया।

पर, वहीं सामने, 'सरस्वती-सदन' पुस्तकालय की दुर्गति देखकर व्यथा भी हुई। प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ स्व० लाला भगवानदीनजी की प्रेरणा से यह पुस्तकालय स्थापित हुआ था। यहाँ के तत्कालीन साहित्य-सेवियों का यह प्रिय स्थान था। देखा कि न तो सरकार का इसे सहारा मिल रहा है, न जनता का। पुस्तकें इधर-उधर अस्त-व्यस्त पड़ी थीं और उन्हें दीमक खारही थी। मकान भी बेमरम्मत पड़ा था। देखकर क्लेश हुआ।

यही चौबीस बरसों के बाद की मेरी जन्मभूमि की आकस्मिक यात्रा थी। अनेक चलस्वप्नों के बीच आखिर पाँच दिन का यह भी एक स्वप्न-दर्शन ही था। देखकर सुख भी हुआ, दुःख भी हुआ, और सुख-दुःख दोनों आये, और वायु वेग से दोनों गुज़र भी गये। घर के लोगों ने सन्तोष प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा किया जो इतने बरसों बाद तुम एक बार 'देश' हो आये।" मैंने मन में कहा—"पर मैं 'परदेश' में कब था? जहाँ कहीं भी रहा, देश में ही तो रहा।

मुझे तो सभी भूमियों ने जन्मभूमि की ही भाँति स्नेह से अपने अंक में रखा। 'कच्छप' जातक की एक गाथा याद आ गई है—

गामे वा यदि वा रञ्जे सुखं यत्राधिगच्छति।
तं जनित्तं च भवित्तं पुरिसस्स पजानतो॥

अर्थात्, ग्राम या वन में जहाँ भी मनुष्य को सुख मिले, वहीं उसकी जन्मभूमि है, वहीं उसके पालन की जगह है।

अतः मैं तो सदा से वतन में ही रहा हूँ। मगर फिर भी न जाने क्यों कभी-कभी अपने आपसे कह बैठता हूँ—"असल वतन क्यों छोड़ दिया ?"

: ४८ :

सम्मेलन ने फिर खींच लिया

१९४६ के अन्त में ऐसा ही एक और आकस्मिक प्रसंग आगया। सहृदय हिन्दी-संसार ने मुझे, मेरी पुरानी नगण्य सेवाओं की ओर देखकर, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद पर बिठाने का निर्णय कर डाला। मुझे इसका पता ग्वालियर की टेनरी (चर्मालय) में चला, जहाँ मैं मुर्दार चमड़ा देखने व खरीदने के लिए गया था। दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में यह खबर छपी थी। मुझे हर्ष नहीं, किन्तु आश्चर्य सा हुआ। सिर पर जैसे एक भारी बोझ आ पड़ा। पर निर्णय होचुका था। डेढ़-दो महीने पहले मेरे एक-दो सम्मान्य मित्रों ने नाम वापस न लेने के विषय में मुझे अनुरोधपूर्वक लिखा था। उसके बाद चुनाव के संबंध में फिर मुझे कुछ पता नहीं चला। अब गुरुजनों तथा मित्रों की आज्ञा शिरोधार्य करना ही मेरा परमधर्म था।

चित्त उन दिनों, कुछ कारणों से, काफ़ी अस्थिर था। उद्योगशाला के व्यवस्था-कार्य से मन उचट-सा गया था। कुछ भी निश्चय न कर सका। भाषण तैयार करना आवश्यक था, पर सूझ नहीं रहा था कि लिखूँ तो क्या लिखूँ। फिर भी अधिवेशन आरम्भ होने से दस-बारह

दिन पहले बेमन से जैसे-तैसे कुछ तो स्वयं लिखा और कुछ बोलकर लिखाया। भाषा और साहित्य के विषय में मेरे जो इतने वर्षों के टूटे-फूटे संचित विचार थे उन्हें, जिस तरह बना, तीन-चार दिन के अन्दर लिखा दिया और उससे मुझे संतोष भी हुआ।

इस बीच में, और बाद को भी, मेरे पास कुछ ऐसे पत्र आये, जिनके लेखकों का न्यूनाधिक संबंध दलबन्दियों से था। स्वभावतः मैं ऐसे प्रश्नों में रस नहीं लिया करता। मेरी मोटी बुद्धि उलझी हुई बातों को समझ भी नहीं पाती। मेरा सही या ग़लत कुछ ऐसा मत बन गया है कि अधिकांश टीका-टिप्पणी प्रायः ऐसे ही लोग किया करते हैं, जो श्रमसाध्य रचनात्मक कार्यों से अलग रहते हैं। दुर्भाग्य से हमें साहित्य और संस्कृति के पुण्य क्षेत्रों में भी या तो राजनीतिक 'साँचे' में ढले, या फिर हलके-फुलके 'टाइप' के लोग अधिकतर दिखाई देते हैं। क्षिप्र स्वार्थों ने जैसे इन पवित्र क्षेत्रों में भी प्रवेश पा लिया है। परिणामतः जहाँ-तहाँ परस्पर की टीका-टिप्पणी प्रायः सुनाई देती है। किन्तु अपेक्षाकृत मुझे तो स्वच्छ वातावरण ही सर्वत्र मिला। दलबंदी, उत्तर में आश्रय न पाकर, स्वयं निष्प्राण होजाती है। मुझे तो सचमुच सभी ने सदा स्नेह-रस से ही अभिषिक्त किया।

मेरे बहुत-से मित्रों ने आशा प्रकट की कि मैं अपना अधिक-से-अधिक समय सम्मेलन के सेवा-कार्य में दूँगा। उन्हें मैं संतोषकारक उत्तर नहीं दे सका। जिस संस्था में मैं इतने वर्षों से बैठा हूँ उसे, जब-तक कि जीवन-रस बिल्कुल सूख नहीं गया, कैसे छोड़दूँ? साथ ही, अपनी शक्तिभर सम्मेलन का भी काम करता रहूँगा, इतना ही विश्वास

में करा सका। काम तो सम्मेलन के आगे इतना विशाल पड़ा है कि उसमें सैकड़ों अनन्य निष्ठावाले सेवक खप सकते हैं। पर सभी सब काम कहाँ कर सकते हैं? अंश ही हमारे हिस्से में आता है। जो अंश मेरे भाग में आयेगा उसे मैं श्रद्धा-भक्ति से करूँगा, यही मैंने विनम्र संकल्प किया।

२३ दिसम्बर की रात को मैं कराची के लिए रवाना हुआ। रेल की इस लम्बी यात्रा में भारी कष्ट अनुभव किया। निचले दरजे की मुसाफिरी आजकल कितनी कष्टकर हो गई है, इसका मुझे इसी यात्रा में पूरा अनुभव हुआ। दस घंटेतक तो मैं पेशाबतक नहीं कर सका; वहाँतक जाना असंभव हो गया। जागरण तो सारी रात हुआ ही। साथ में मेरे अपने दोनों लड़के तथा उद्योगशाला के उत्साही कार्यकर्त्ता आन्ध्र-निवासी श्री चोला विष्णु भी गये थे। दिल्ली और लाहौर के भी कई साहित्यकार मित्र उसी डिब्बे में कराचीतक गये। उनके विनोदी स्वभाव ने मेरी सारी थकान दूर करदी। अधिवेशन के बाद सिंध का दौरा करने का मलकानीजी ने मुझे हैदराबाद से वहीं गाड़ी में निमंत्रण दे दिया। उनके प्रेमपूर्ण आग्रह को कैसे टाल सकता था?

पूज्य टंडनजी को कराची के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी श्रीलालजी मेहरोत्रा के यहाँ ठहराया गया, और मुझे वहीं मेहरोत्राजी के मकान के सामने श्रीबालमुकुन्द खन्ना के घर पर। खन्नाजी की पत्नी श्रीशान्ति देवी ने जिस निश्छल स्नेह से हमारा आतिथ्य किया वह भुलाया नहीं जा सकता। शान्ति दो-तीन दिन में ही मेरी छोटी बहिन बन गई। बहुत अपनापन दिखाया। शान्ति बहिन के ऊँचे सुसंस्कृत

विचारों को जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैं यहाँ सम्मेलन के अधिवेशन का अनावश्यक वर्णन करने नहीं बैठा हूँ। पर दो-तीन संस्मरणों का उल्लेख अवश्य करूँगा।

भारतवर्ष के ही नहीं, एशिया के सुविख्यात भाषाशास्त्री श्रीमान् सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या से मिलकर बड़ा आनन्द-लाभ हुआ। इतने भारी विद्वान् को अध्यक्ष बनाकर राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इस वर्ष वास्तव में अपने को शोभान्वित किया। सुनीति बाबू की विनयशीलता और मिलनसारी देखकर मैं मुग्ध और आश्चर्यचकित रह गया। उनके भाषण में अगाध पाण्डित्य भरा हुआ था। भाषण में प्रकारान्तर से रोमन-लिपि का समर्थन-सा किया गया था। केवल उसी अंश पर मुझे आश्चर्य हुआ, पर वहाँ भी मेरा श्रद्धा का ही भाव था। मेरे मन में हुआ कि हम लोग कैसे लापर्वाह हैं, जो न तो इस अमरकीर्ति महा-पण्डित से यथार्थ ज्ञानसञ्चय ही कर रहे हैं, और न इसे यथेष्ट श्रद्धा-दान ही दे रहे हैं! यह सामान्य सत्कार भी इस उद्भट विद्वान् को बहुत पीछे मिला।

स्वागत-समिति ने सूफी-समागम तथा सिन्ध की गान-वाद्य-कला के प्रदर्शन का भी आयोजन किया था, जिसमें हिन्दू-मुसल्मान दोनों ने ही भाग लिया था। शाहलतीफ़ की चीजों को सुन-सुनकर लोग झूमते थे। यह महान् सूफी सन्त आज भी सिन्धियों के हृदय पर अधि-कार किये हुए है। सिन्ध के राष्ट्र-कवि दुखायल ने भी अपनी कवि-ताएँ खंजड़ी पर गाईं। यह कोरे कवि ही नहीं, रचनात्मक कार्य भी करते थे। सिन्ध में दुखायल को मैंने खूब लोकप्रिय पाया। फिर

वाद्य-प्रदर्शन हुआ। एक गुणी मियां ने सिन्धी बीन बजाकर सबको मन्त्र-मुग्ध-सा कर दिया। रात के बारह बजेतक यह कला-प्रदर्शन होता रहा। मैंने देखा कि भट्टी के मुँह पर खड़ा हुआ भी सिन्ध प्रदेश अपनी ललित कलाओं और भारतीय संस्कृति को बहुत-कुछ बचाये हुए है। प्रेम के इसी कच्चे धागे ने सिन्ध के हिन्दू-मुसलमानों को सदियों से बाँध रखा था। पर अफसोस, वह प्यारा धागा आज बुरी तरह से तोड़ दिया गया। पाकिस्तानी नेताओं और प्रणेताओं ने वहाँ के प्रेम-सिन्धु के अन्दर हलाहल घोल ही दिया।

कला-प्रिय गुजराती-समाज ने एक दिन प्रसादजी का 'अजातशत्रु' नाटक खेला था, और एक दिन नृत्यकला का प्रदर्शन रखा था। सिनेमा तो मैं कभी देखता ही नहीं, इधर बरसों से नाटक देखने का भी अवसर नहीं आया था। कभी मन ही नहीं होता। पर कराची में उन लोगों का अनुरोध टाल नहीं सका। नाटक भी देखा और नृत्यकला का प्रदर्शन भी। छोटे-छोटे बच्चों का नृत्य मुझे प्यारा लगा। पर बड़ी लड़कियों का नाच देखना मेरे लिए कठिन होगया। वह सब अच्छा नहीं लगा। दर्शकों की हर्ष-सूचक आवाज़ों का सुनना असह्य-सा होगया। पर वहाँ से उठ भी नहीं सकता था। जड़वत् बैठने का यत्न किया। किन्तु इर्द-गिर्द बैठे हुए कई साहित्य-रसिक नृत्य करनेवाली लड़कियों के कलात्मक मूक अभिनय पर मुग्ध होरहे थे। मैं मान लेता हूँ कि नृत्य निर्दोष था, किन्तु बारबार मन में यह भाव तो उठता ही था कि मनोरंजन के अधिक निर्दोष साधन सुलभ नहीं हो सकते हैं क्या? और ऐसे-ऐसे प्रदर्शन साहित्य और संस्कृति के क्या वस्तुतः अभिन्न अंग हैं?

मैं जानता हूँ कि अनेक साहित्यशास्त्री मेरे इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में ही देंगे। फिर भी वे मुझ 'खुश्क ज़ाहिद' को क़ायल नहीं कर सकेंगे। नींद बुलाने का यत्न करता था, पर आती नहीं थी। नीची आँख किये अन्यमनस्क-सा बैठा रहा। शायद टंडनजी मेरी मनोदशा को भाँप गये थे। सँवेरे के नृत्य के समय उन्होंने मेरी तामसी समाधि को भंग कर दिया। मेरे भी मुँह से निकल पड़ा—'हाँ, यह मूक अभिनय अच्छा रहा।' पर समाप्ति पर उठा मैं रंगशाला के सामने से विषाद समेट-कर ही।

कला-प्रदर्शन के बाद तुरन्त ही कवि-सम्मेलन होनेवाला था, यद्यपि रात के बारह बज चुके थे। कवि-सम्मेलनों में भी जाना मुझे पसन्द नहीं। इन सम्मेलनों के विषय में मैं काफ़ी सुन चुका था। पर यह कवि-सम्मेलन सवा-डेढ़ घंटे के अन्दर ही भदन्त आनन्दजी की अध्यक्षता या शासन में सानन्द समाप्त हो गया। कविता-पाठ में शील-मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ। मैंने अपने भाग्य को सराहा।

फँसा तो मैं बहुत बुरी तरह मथुरा में था—साहित्य-वाचस्पति सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के जयन्ती-समारोह के अवसर पर मेरे सभापतित्व में उस दिन वसंतोत्सव मनाया गया था। कार्यक्रम में आयोजकों ने 'पढ़न्त' भी रखदी थी। मैंने स्वयं 'पढ़न्त' का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझा था। स्थानीय कवि-समाज ने स्वरचित तथा प्राचीन कवियों का कविता-पाठ शुरू किया। गणेश और सरस्वती की वन्दना के पश्चात् ऋतुराज के रसीले कवित्तों का पाठ प्रारम्भ हुआ। फिर संयोग शृंगार के कवित्त पढ़े जाने लगे। निर्बाध रूप से पढ़ते ही

चले जाते थे। पढ़न्त का यह प्रचंड प्रवाह रुकने का नाम नहीं ले रहा था। मैं तो घबरा गया।

इस प्रकरण से यह न समझा जाये कि ऐसी कविताएँ रीतिकाव्य के रसिक ही पढ़ते या सुनाते हैं। ऐसी बात नहीं है। आधुनिक युग के भी कई कवियों की ऐसी ही बल्कि इनसे भी अधिक कुरुचिपोषक कविताएँ कवि-सम्मेलनों में पढ़ी जाती हैं, और उन्हें खूब दाद भी दी जाती है! इस शीलघातक कुप्रवृत्ति का अन्त होना ही चाहिए।

: ४६ :

मेरा अभिभाषण

कराची-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से राष्ट्र-भाषा और साहित्य के संबंध में मैंने जो विचार व्यक्त किये थे उनके मुख्य-मुख्य अंशों को, संक्षिप्त रूप में, इस प्रकरण में देता हूँ।

राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के संबंध में मेरा मत सम्मेलन के मत से कभी भिन्न नहीं रहा। मैं हिन्दी को उसके प्रचलित रूप में ही राष्ट्र-भाषा और नागरी लिपि को राष्ट्र-लिपि मानता हूँ। इसमें मेरा सदा ही शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। उसकी एक शैली उर्दू भी है, जिसका चलन कुछ विशिष्ट जनों में पाया जाता है, और उसे मैं आदर की दृष्टि से देखता हूँ। सदा से भारत राष्ट्र की व्यापक भावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाली संस्कृत और प्राकृत-मूलक भाषाएँ ही रही हैं। और हिन्दी ने इस दिशा में सबसे अधिक काम किया है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने और फैलाने में वह सबसे अधिक समर्थ भाषा सिद्ध हुई है।

भाषा के प्रवाह को मैंने सदा सहज या 'अयत्न-साधित' माना है। साथ ही, भाषा और शैली दोनों विषय विशेष का अनुसरण

करती हैं। विषय की यथेष्ट अभिव्यंजना लेखक या वक्ता के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर करती है। कबीर की भाँति गांधीजी की भी हिन्दी स्वभाव-सरल होती थी। मगर उनके 'हरिजन-सेवक' की हिन्दुस्तानी भाषा में यह बात नहीं रही। उसमें हिन्दी-उर्दू का बेमेल गठ-बन्धन भोंडेपन से किया गया। यह भद्दा परिहास मुझे खला। समन्वयीकरण में भाषा की मूल प्रकृति का ध्यान न रखने से समन्वय कोई अर्थ नहीं रखता। समन्वय वैसा, जैसा कि राग में भिन्न-भिन्न स्वरों का। प्रत्येक राग का, उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार, बँधा हुआ स-र-ग-म' होता है। इस स्वर को यहाँ इतना स्थान मिला है, तो उस या उन स्वरों को भी उतना ही मिलना चाहिए, अथवा यह स्वर मध्यम लगाया गया है तो वह भी मध्यम ही लगाना चाहिए,—इस न्याय-नीति को लेकर हम स-र ग-म की पुनर्रचना करने बैठेंगे, तो उससे कौन-सा राग बनेगा? इस नीति से कभी सामंजस्य सिद्ध होने का नहीं। इससे तो भाषा की प्रकृति का अंग-भंग ही होगा, वह असुन्दर या विरूप ही बनेगी। असली सिर काटकर उसकी जगह बकरे का सिर चिपका देने से दक्ष प्रजापति की जो शकल बनी थी उसे देखकर तो भगवान् रुद्र भी खिलखिलाकर हँस पड़े थे। उस विचित्र आकृति को नर और अजा का समन्वय कहने के लिए क्या आप तैयार हैं?

इसलिए, मैंने कहा, मेरी राय में हिन्दी और उर्दू को अपने अपने रास्ते बढ़ने और फैलने दिया जाये। राष्ट्र के विचारों व भावों को व्यक्त करने की जिसमें जितनी अधिक सामर्थ्य होगी वह उतने ही बड़े जनसमूह को स्वयं अपनी ओर खींच लेगी। उद्यान में हम

सभी फूलों को अपने-अपने रस में महकने दें, एक पेड़ का फूल तोड़कर दूसरे पेड़ की डाली पर न खोंसते फिरें। भ्रमर किन फूलों पर आकर बैठते हैं और किनपर नहीं, इस व्यर्थ की चिन्ता में न पड़ें—इस पसंदगी को तो आप रसग्राही भ्रमरों पर ही छोड़दें। प्रकृत रसिकों के आगे कृपया गिने-चुने फूलों के गुलदस्ते सजा-सजाकर न रखें।

मैंने यह भी कहा कि राजनीतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न हमारी भाषा पर प्रभाव और दबाव नहीं डाल सकते। उसपर राज-शासन नहीं चल सकता, उलटे राष्ट्र-भाषा के अन्दर राज्य को जमाने और उलट देने की शक्ति विद्यमान है। राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोरतक फैलाने में हिन्दी का सबसे अधिक हाथ रहा है। हिन्दी को किसी खास सम्प्रदाय की भाषा कहने का आज कौन दुःसाहस कर सकता है ?

हिन्दी की जिस संस्कृतनिष्ठता पर आज आक्षेप किया जाता है वही तो उसकी लोक-व्यापकता का मूल कारण है। हिन्दी को संस्कृत-निष्ठ कहना ही ग़लत है। हिन्दी तो हिन्दी है।

अपने भाषण में 'हिन्दुस्तानी' की वर्तमान प्रवृत्ति पर भी मैंने स्पष्टतः अपना मतभेद प्रकट किया। मैंने कहा कि हिन्दी की विशिष्ट शैली उर्दू को जो सीखना चाहें शौक़ से सीखें। उर्दू के लहलहे बाग़ से हम अच्छे खुशबूदार फूल चुन सकते हैं। यदि हमसे बने, तो फारसी साहित्य का भी ज्ञान-लाभ कर सकते हैं। किन्तु संस्कृतमूलक या संस्कृतयुक्त भाषा-भाषियों पर उर्दू को और हिन्दुस्तानी के नाम से परिचित उस क़ौमी ज़बान को, जो उर्दू का ही एक भद्दा रूप है—हठपूर्वक लादा

और थोपा नहीं जा सकता।

राष्ट्र-भाषा के संबंध में मैंने इसी प्रकार के विचार अपने अभिभाषण में प्रकट किये। मेरे कई मित्रों को आश्चर्य हुआ और कुछ ने तो शिकायत भी की—"साफ़ ही तुम्हारे ये विचार गांधीजी के भाषा-विषयक विचारों के विरुद्ध जाते हैं। तुम्हें तो हम आजतक गांधीवादी मानते आ रहे थे। गांधीजी के प्रति तुम्हारी क्या यही श्रद्धा-भक्ति है? अव्वल तो सम्मेलन की अध्यक्षता तुम्हें स्वीकार ही नहीं करनी चाहिए थी, जबकि गांधीजी सम्मेलन का परित्याग कर चुके हैं।"

ये लोग नहीं जानते थे कि गांधीजी के त्यागपत्र का अर्थ सम्मेलन का परित्याग नहीं था। वे तो, उन्हींके शब्दों में, 'सम्मेलन अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए सम्मेलन से निकले थे।' फिर मैंने अपने आपको कभी गांधीवादी कहा भी नहीं। गांधीजी के प्रति मेरी श्रद्धा-भावना अवश्य रही है। उनकी बहुत-सी बातों को सच्चाई से ग्रहण करने का यत्न भी किया है। पर उनकी या किसीकी भी हरेक बात को बिना सोचे-समझे, आँख मूँदकर, मानने की मेरी आदत नहीं रही। गांधीजी ने हमें ऐसा सिखाया भी नहीं। राष्ट्र-भाषा के संबंध में उनसे अपना भिन्न मत रखकर भी मैं उनका एक विनम्र भक्त बना रह सका। उनके प्रति जितने अंशों में मेरी श्रद्धा-भक्ति रही उसे तो स्वयं गांधीजी भी नहीं छीन सके।

एक-दो सज्जनों ने तो यहाँतक कह डाला था कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को उसके वर्तमान स्वरूपमें विशुद्ध राष्ट्रीय संस्था कैसे कहा जा सकता है! इस अज्ञानपूर्ण आरोप का मैंने रोषपूर्वक उत्तर दिया, और

क्षोभ आ जाना स्वाभाविक था। यह उत्तर कि, जिस संस्था के प्रधान कर्णधार, उसके जन्म-काल से ही, नख से शिखतक राष्ट्रीय-ही-राष्ट्रीय श्रीटण्डनजी अबतक रहे हों, उसे अराष्ट्रीय कहने का दु:साहस करना सरल नहीं। हाँ,वह कर्णधार, जिसने एक बार यहाँतक कहा था कि "यदि मैं देखूँगा कि सम्मेलन राष्ट्र के विरुद्ध जा रहा है, तो उसमें अपने हाथ से आग लगा दूँगा।" राष्ट्रीयता की परिभाषा स्थिर है और रहेगी। वह पग-पग पर पलटनेवाली चीज़ नहीं है। उसके मूल तत्वों पर, जो स्थिर हैं, राजनीतिक दावपेंचों के बल पर होनेवाले सौदों का असर नहीं पड़ना चाहिए।

साहित्य के कला-पक्ष की सूक्ष्म गति-विधियों का अद्यतन ज्ञान न होते हुए भी उसपर मैंने अपने कुछ टूटे-फूटे विचार व्यक्त किये। मेरी दृष्टि कबीर, तुलसी, सूर तथा जायसी पर ही स्वभावत: पड़ी। देखता हूँ कि इन अमरकीर्ति कवियों के कारण हमारा साहित्य हिमालय की ऊँचाई और सागर की गहराई से होड़ लगा सकता है। इनकी शुभ्र वाणी ने विश्व-मानव को वह अमृत-सन्देश दिया है जिसके बल पर वह दुर्जित आसुरी सैन्य पर आज भी विजय प्राप्त कर सकता है।

संत-वाणी को मैंने 'अवर्ण' माना है। उसका सब कुछ श्वेत-ही-श्वेत है, जो निर्मलता का विशुद्ध प्रतीक है। भाषा इस निर्मल आलोक में अपने को भूल जाती है। यथार्थवाद और आदर्शवाद और सभी प्रकार के वाद इस रसार्णव में विलीन हो जाते हैं। वह हमें उस निर्मल अन्तरिक्ष में, अपने रुपहरे परों पर

बिठाकर, उड़ा ले जाती है, जहाँ हम अपने रस-मानस का निखरा-ही निखरा रूप पाते हैं। पर आज हम अपने आसपास इस शुभ्ररस को पा नहीं रहे हैं। हमारी अध्ययन-चिंतन की वह परम्परा मानों भग्न हो गई है। हमने पश्चिम से 'शव-परीक्षा' करना सीख लिया है। 'शिव-दर्शन' हमें नहीं मिल रहा। न हम उतनी ऊँचाई पर उठते हैं, और न उतने गहरे ही उतरते हैं। धीरे-धीरे हमने जैसे साधना की ओर से दृष्टि फेरली है; और वैज्ञानिक शब्दजाल में उलझ-से गये हैं। राजनीतिक छाया ने भी हमारी दृष्टि को धुँधला-सा कर दिया है।

आगे चलकर मैंने इसपर भी आश्चर्य और क्लेश व्यक्त किया कि शीलघातक रीतिकाल की ही भाँति हमारे कुछ आधुनिक सुकवि भी यथार्थवादिता एवं प्रगतिशीलता की ओट में प्रकारान्तर से उद्दाम वासना को लाक्षणिक रचनाओं द्वारा अनुचित उत्तेजन दे रहे हैं। ऐसी रचनाओं से उपलब्ध रस क्षणिक और उन्मादक ही होता है। सच्चा आनन्द-रस तो उच्छृंखल चित्तवृत्तियों के निरोध से ही उपलब्ध होता है। 'फिसलन' को हम सहज वृत्ति क्यों कहें ? प्रगति तो हमारी ऊँचे चढ़ने में है। प्रियतम की सहज सेज तो 'गगन-मंडल' में अथवा तो 'सूली' के ऊपर है—किसी गढ़े में वह साजन अपनी सेज लगाने नहीं गया। गढ़े में तो कर्दम-ही-कर्दम है। उत्पत्ति कमल की कर्दम से भले ही हुई हो, पर आनन्द-विकसित तो वह 'ऊपर ही' 'ऊँचे पर' ही हुआ है न ? यथार्थ सहज असल में क्या वस्तु है ? मेरी दृष्टि में आत्मा का सहज विकास ही यथार्थ है। मनुष्य के उदात्त भावों को, उसके उत्तमांश को, जिससे व्यष्टि और समष्टि

दोनों का उदय और अभ्युदय होता हो, अनुभूति को भाषा द्वारा हूबहू चित्रित करना ही यथार्थ कलात्मक अभिव्यंजना है। समाज में जैसा पाये वैसे-का-वैसा उसे लौटा देने में कलाकार की कोई विशेष कुशलता नहीं। संखिये को यथा-का-यथा न देकर शुद्ध करके ही देते हैं। मानव में पशु की अर्च्चना करने में यथार्थ कला नहीं; कलाकार का धर्म तो मानव को उसके अपने रूप में, जो निश्चय ही पशु से ऊपर अथवा 'पशुपति' है और असीम सुन्दर है, ज्यों-का-त्यों चित्रित करना ही है।

कविता में विभिन्न वादों के प्रवेश पर भी मैंने मनोवेदना प्रकट की। मैंने कहा कि कवि बेचारे को निःशक्त समझकर जैसे इन विभिन्न वादों ने अपने नागपाश में जकड़ रखा है। इसी प्रकार लाक्षणिक अभिव्यंजना की अति ने भी कविता की आत्मा को कुछ ऐसा ढक लिया है कि वह गूढ़-से-गूढ़ बनती जा रही है। रस उसमें तरल रूप में नहीं रहा, बल्कि जम-सा गया है। आन्तरिक भावों की रहस्यात्मक व्यंजना तीन-चार ही अमरकीर्ति कवि कर सके हैं। उनका भद्दा अनुकरण बहुत अधिक किया जा रहा है।

राष्ट्रीय क्षेत्र भी बहुत हरा-भरा नहीं दिख रहा है। मैथिलीशरण तथा एक-दो सुकवि ही अपवादरूप हैं। हमारे राष्ट्र के कवियों की भावनाओं को क्रियाशीलता से ज्वलंत प्रेरणा नहीं मिली, तो फिर वे राष्ट्र की चेतना और अचेतना के साथ एकाकार हों तो कैसे ? समाज के निम्न स्तर के साथ एकाकार हुए बिना वे युग की वाणी के सच्चे प्रवक्ता हो नहीं सकते।

कहानी, उपन्यास, नाटक, इन अंगों पर मैंने अधिक नहीं कहा। कविता की आलोचना के अन्तर्गत ललित-पक्ष के इन अंगों का भी लगभग समावेश हो जाता है। केवल इतना ही कहा कि हमारे कलाकार कृपया यूरोप-अमेरिका के साथ इन क्षेत्रों में फिलहाल प्रतिस्पर्धा न करें। उन्हें प्रतिभा और लेखनी को अब अन्य दिशाओं में मोड़ना चाहिए। साहित्य-शरीर के ये अंग कुछ फूल-से गये हैं, वैसे स्वस्थ नहीं बन पाये। भ्रष्ट कहानियों की भड़कीली पत्रिकाओं और समाज के शील एवं पौरुष को नष्ट करनेवाले निरंकुश चित्रपटों पर भी मैंने जनता और सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। इस विषैले वातावरण में ऊँचे दरजे की कहानियाँ, उपन्यास और नाटक कैसे बढ़ या पनप सकते हैं? मुझे भय लगता है कि हमारे ऊँचे कलाकारों की कृतियों को यह दिन-दिन फैलता हुआ शैवाल-जाल कहीं बिल्कुल ढक न दे।

अन्त में, वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण, लोक-साहित्य-संरक्षण तथा ऊँचे अनुवादों द्वारा अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान की आवश्यकता की ओर राष्ट्र-भाषा-प्रेमियों का ध्यान खींचा। पत्रकारों और अपने लेखक बन्धुओं से भी दो-दो शब्द कहे। और उपसंहार इन शब्दों में किया—

"सम्मेलन का मार्ग लोक-सेवा का मार्ग है। भारत राष्ट्र की सेवा उसने बिना किसी भेद-भाव के की है। जैसे राष्ट्र, वैसे भाषा भी सबकी। सम्मेलन का किसी भी भाषा से वैर या विरोध नहीं है,—भाषा के रूप में अंग्रेजी से भी नहीं। विरोध तो उसकी उस दुष्टता से है, जिससे उसने हमारे मानस को बुरी तरह मोहित या आक्रान्त कर

रखा है। हमारे राजकाज में, हमारे आपसी व्यवहार में, हमारी सार्वजनिक संस्थाओं में अंग्रेजी क्यों दखल दे? अंग्रेजों के साथ ही अंग्रेजी को भी हमें पदच्युत करना है, यह हमारी प्रतिज्ञा है।"

अभिभाषण पर तरह-तरह की सम्मतियाँ आईं; पर संतोष तो मुझे अपने एक विचारशील मित्र की इस सम्मति से हुआ—"यह दूसरी बात है कि तुम्हारे विचारों से कोई सहमत हो या असहमत, पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि भाषा और साहित्य के विषय में तुमने स्पष्टता और ईमानदारी से अपने विचार व्यक्त किये हैं।"

: ५० :

सिन्ध-प्रवास

अधिवेशन के बाद राष्ट्रभाषा-प्रचार के उद्देश से सिन्ध के चार-पाँच स्थानों में घूमलेने का वचन मैं अपने मित्र आचार्य मलकानी को दे चुका था। तदनुसार सम्मेलन के प्रधानमन्त्री पं० मौलिचन्द्र शर्मा तथा भदन्त आनन्द कौसल्यायन के साथ मैं सबसे पहले हैदराबाद गया। मलकानीजी हैदराबाद के निवासी हैं। वहाँ उनकी पत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी से आठ साल बाद मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। राष्ट्रभाषा-प्रेमी भाई प्रताप दियालदास के मकान पर हमें ठहराया गया। इनका परिष्कृत कला-प्रेम देखकर मैं मुग्ध होगया। अत्यन्त मनोरम चित्रों और फ़ारसी की पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकों का इनका सुन्दर संग्रह सचमुच देखनेलायक था। मलकानीजी ने हमें हैदराबाद के कई मशहूर मकबरे तथा शहर के अनेक प्रसिद्ध स्थान दिखाये। शाम को राष्ट्रभाषा के कार्यकर्त्ताओं तथा हिन्दी-प्रेमियों की एक सभा हुई, जिसमें भदन्तजी ने अपने भाषण में राष्ट्रभाषा हिन्दी की बड़े अच्छे ढंग से हिमायत की।

उसी रात हमलोग लरकाना के लिए चल दिये। रास्ते में टंडनजी तथा अन्य कई मित्र साथ हो लिये। लरकाना से मोएंजो दड़ो जाने

का हम लोगों ने कार्यक्रम बनाया था। इस प्राचीनतम मानव-स्थान को देखकर हमने उस दिन अपनी सिन्ध प्रदेश की यात्रा को सफल माना।

पर वहाँ योग्य 'गाइड' का अभाव बहुत खटका। एक मुसल-मान गाइड ने हमें वहाँ की एक-एक चीज़ दिखाई। सबसे पहले वह हमें एक बौद्धस्तूप दिखाने ले गया और हम नासमझों को समझाने लगा—"यह स्तूपा है, बुध धरम के फकीर लोग यहाँ पर खुदा की इबा-दत किया करते थे!" हमारे भदन्तजी इसपर हँस पड़े—"मेरे भाई, बुध धरम के फकीर तो खुदा तो क्या रूह पर भी यकीन नहीं लाते हैं, फिर इबादत वे किसकी करेंगे!" पर हमारा विद्वान् गाइड तो बारबार अपनी खोजपूर्ण बात को गले उतारने का यत्न कररहा था।

पाँच-छह हजार वर्ष पुरानी स्थापत्य-कला देखकर हम सब आश्चर्य-चकित रह गये। इन भग्नावशेषों को देखने से पता चलता है कि मोएनजो दड़ो नगर में सफाई का जैसा सुन्दर प्रबन्ध था, गंदगी बहाने के लिए जैसी अच्छी नालियाँ बनी हुई थीं, वैसी दक्षिण मेसोपोटामिया के सुप्रसिद्ध नगर उर में भी नहीं थीं। मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्य-ताएँ दुनिया में बहुत प्राचीन मानी जाती हैं, पर उनके साथ यहाँ की तुलना करने पर मालूम होता है कि भारतवर्ष में उनकी अपेक्षा जीवन की सुख-सुविधाओं का कहीं अधिक अच्छा प्रबन्ध था। यहाँ के गेहूँ के दाने भी हमने देखे, जो आजकल के पंजाबी गेहूँ के से ही थे। बहुत-से मकानों में चर्खे की पिंडलियाँ भी मिली हैं, जिनसे पता चलता है कि घर-घर में चर्खा चलता था और बहुत महीन कपड़े बुने जाते थे।

दो-ढाई घण्टे में हमने सरसरी नज़र से घूम-फिरकर सब देख डाला। हमारी दृष्टि सामान्य यात्रा की ही थी। पुरातत्त्व के ज्ञाता की दृष्टि से देखने में एक नहीं दो-या तीन दिन भी लग सकते थे। काश हमारे मित्र डा० वासुदेवशरण अग्रवाल अथवा काका कालेलकर हमारे साथ उस दिन वहाँ होते।

मोएनूजो दड़ो से दिन के तीसरे पहर हमलोग लरकाना वापस आये। यहाँ से टंडनजी सक्खर चले गये और मेरे दोनों लड़के दिल्ली। शाम को हिन्दी-प्रेमियों की सभा हुई, जिसमें मलकानीजी धाराप्रवाह सिंधी में बोले और हम तीनों सरल हिंदी में। दूसरे दिन भी तीन शिक्षण-संस्थाओं में हमारे भाषणों का आयोजन किया गया। शर्माजी के भाषणों का अध्यापकों और विद्यार्थियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

लरकाना की एक चीज़ मुझे हमेशा याद रहेगी। जिस बाग में हम-लोग ठहरे थे, वहाँ बगल की सड़क से सामूहिक गायन की जैसी आवाज़ रात को और सवेरे भी जब कई बार मेरे कानों में पड़ी, तब मैंने मल-कानीजी से पूछा, "क्या आजकल यहाँ कोई त्यौहार मनाया जा रहा है? गाने की जैसी आवाज़ आती वो नजदीक से ही है, पर कोई शब्द समझ में नहीं आ रहा। यह चें-में चें-में आखिर है क्या?" विनोद-प्रिय मलकानीजी ने तुरन्त हमारी जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहा—"ये सिंध की बैलगाड़ियाँ हैं, जो मोएनजो दड़ो के ज़माने के गीत गा रही हैं, या फिर स्वर के साथ रो रही हैं।" चार-चार छह-छह बैलगा-ड़ियाँ जब एकसाथ चलती हैं, तब उनके पहियों से एक आवाज़ निक-लती है। इस बारे में देहात के लोग इतने अधिक पुराणप्रिय हैं कि

बैलगाड़ियों में कुछ भी सुधार नहीं करना चाहते। उनकी वह गायन या रसीले रोदन की विचित्र ध्वनि आज भी मेरे कानों में गूँज रही है।

लरकाना से हमलोग सक्खर गये, और वहाँ से शिकारपुर। यहाँ भी वही, वैसा ही कार्यक्रम—कार्यकर्त्ताओं की तथा सार्वजनिक सभाएँ; हमारे भाषणों में वही प्रचारात्मक पिष्टपेषण; वही करतल-ध्वनि; और सर्वत्र फूलमालाओं से वही स्वागत-सत्कार। मैं तो इन दस-बारह सभाओं से ही घबरा गया। और एक वे हैं, जो चुनाव के दिनों में हफ्तों रोज़ दस-दस बारह-बारह सभाओं में गरज-गरजकर बोलते चले जाते हैं, और थकने या ऊबने का नाम भी नहीं लेते। हमारे शर्माजी सक्खर की सार्वजनिक सभा में पौने दो घंटे बोले और ऐसा बोले कि श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। मैं तो पाँच मिनिट ही बोलकर बैठ गया। कुछ सूझ ही नहीं रहा था कि और क्या बोलूँ!

सक्खर-शिकारपुर की एक मजेदार घटना का उल्लेख अवश्य करूँगा। हमारी इस यात्रा में हैदराबाद की लक्ष्मी (लच्छो) नाम की एक सिंधी लड़की भी थी। उसको भी घूमने की इच्छा थी, इसलिए मलकानीजी उसे अपने साथ ले आये थे। सरल स्वभाववाली इस सिन्धी लड़की की हिन्दी-निष्ठा और खादी-भक्ति देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। सक्खर की सभा में वह मेरे पास बैठी हुई थी। एकसाथ कई लोगों को वहाँ ऐसा लगा कि यह वियोगी हरि की लड़की है। सभास्थल से उठने पर रास्ते में लच्छो ने मुझसे कहा—"आजसे आप मेरे धर्मपिता हुए। जो बात दो-तीन दिन से मेरे मन में चक्कर काट रही थी, उसे इन लोगों ने आज कह दिया। हमारा यह आकस्मिक संबंध क्या पूर्वसंबंध

नहीं है ? आज से आप मुझे अपनी पुत्री मानोगे न ?" बिना किसी हिचकचाहट के मैंने 'हाँ' कह दिया। न जाने कहाँ से मेरे हृदय में स्नेह उमड़ आया। लच्छो उसी क्षण मेरी लड़की हो गई; जैसे कोई खोई हुई लड़की अकस्मात् मिल गई हो। मैंने मन में कहा —"तू मोह-ममता से दूर-दूर भागता था, पर तेरा पवित्र परिवार, देख, बढ़ता ही जा रहा है। अभीतक तेरी एकमात्र वात्सल्य-भाजन पुत्री दमयन्ती (चि० भगवत की पत्नी) है,जिसे तू स्नेह से 'बिटिया' कहा करता है। अब यह लच्छो भी तेरी पुत्री बनगई। तेरा 'अनिकेत' गृह अभी और भी भरेगा, परिवार और भी बढ़ेगा। प्रभु की जैसी इच्छा।" मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह स्वीकृत परिवार मेरे बंधन का कारण न बनकर निर्लिप्तता की ही ओर मुझे ले जायेगा। पर आज मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता। सब 'हरि के हाथ निवाह' है।

लाहौर के लोक-सेवक-मंडल के सदस्य श्री सेवकरामजी मुझे रात को नौ बजे अपने कुछ मित्रों के साथ घुमाते हुए सक्खर की हरिजन-बस्ती दिखाने ले गये। मेरे लिए तो यह सक्खर के साधुवेला तीर्थ के जैसा ही पवित्र स्थल था। बस्ती में पैर रखते ही ऐसा लगा, जैसे अपने घर में आगया। मन मेरा नाच उठा। भंगी भाइयों की वह खासी अच्छी बस्ती थी। सब पंजाब और राजस्थान के मूल निवासी थे। घर अच्छे स्वच्छ थे। वहीं स्कूल था, दवाखाना था और उनका अपना छोटा-सा कोआपरेटिव बैंक भी। जब मैं पहुँचा, वे लोग भजन गारहे थे। सेवकरामजी ने सक्खर के कार्य का संक्षेप में परिचय दिया और चार-पाँच मुखियों ने अपने-अपने मोहल्ले की शिकायतें सुनाईं। आम

शिकायत बहुसंख्यक जाति द्वारा उनकी औरतों पर होनेवाले अत्याचारों की थी। जवाब में मैंने साहस और दृढ़ता के साथ अत्याचारों का सामना करने के लिए कहा, और साथ ही अपने परम सेवकों की उपेक्षा करनेवाले उपस्थित नागरिकों को भी कुछ धिक्कारा। बस्ती से चलते समय मैंने अपने हृदय में जैसे पवित्रता के संचार का अनुभव किया।

शिकारपुर की बस्ती देखकर तो और भी अधिक आनन्द हुआ। शिकारपुर के हरिजन कार्यकर्त्ता दा० किशनचन्द को मैंने धन्यवाद दिया, जो ऐसा सुन्दर स्थान दिखाने मुझे ले गये थे। यह बस्ती हरिजन सेवक-संघ की कृति थी। स्वच्छ और सुन्दर बस्ती थी। स्कूल की इमारत भी शानदार देखी। और सक्खर की तरह यहाँ भी कोआपरेटिव बैंक था। इन बस्तियों में जाकर मैंने अपनी सिन्ध-यात्रा को सचमुच सफल माना। संतोष हुआ कि पूज्य बापा के लिए भी सिन्ध से कुछ ले जा रहा हूँ।

सिन्ध-प्रवास के सभी भाषणों में हम लोगों ने प्रायः एक ही बात पर ज़ोर दिया। सिन्ध में देवनागरी लिपि के प्रचार की सब से बड़ी आवश्यकता अनुभव की। अन्य अनेक भारतीय भाषाओं की भाँति सिन्धी भी प्रकृति से संस्कृत-प्राकृतमूलक है। सिन्धी के विद्वान् लेखक श्री भेरूमल नारूमल ने अपने सिन्धी भाषा के व्याकरण में, जिसे १८४२में सिन्ध-सरकार ने प्रकाशित कराया था, लिखा है, " सिन्धी में कुल २०,००० शब्द हैं, जिनमें १२००० संस्कृत के तद्भव हैं, १५०० देशज हैं, २००० फारसी के और २५०० अरबी के शब्द हैं। १५०० देशी शब्दों में भी बहुत-से संस्कृतमूलक शब्द हैं। क्रियाएँ, सर्वनाम, संख्यावाचक, विशेषण और अव्यय सब संस्कृतमूलक ही हैं।"

लिपि के संबंध में सिन्धी के विद्वान् पंडित ट्रम्प ने, १८६७ में प्रकाशित अपने सिन्धी भाषा के व्याकरण में, लिखा हैं– "संस्कृत वर्णमाला ही सिन्धी वर्णमाला के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है; क्योंकि सिन्धी भाषा संस्कृत-प्राकृत की सच्ची पुत्री है। अरबी लिपि में प्राकृत भाषा के लिखने में भारी कठनाई होती है।" डा० ट्रम्प का मत स्पष्ट एवं वैज्ञानिक है। जब संस्कृत और प्राकृतमूलक अन्य प्रांतीय भाषाएँ देवनागरी अथवा उससे मिलती-जुलती लिपि में लिखी जाती हैं, तो केवल सिन्धी भाषा को ही परिवर्द्धित अरबी लिपि में लिखने का कोई कारण नहीं। इस लिपि को १८५३ में ईस्टइंडिया कंपनी के डायरेक्टरों ने प्रयोग के रूप में यहाँ चलाया था। मैंने अपने भाषणों में जगह-जगह यही अनुरोध किया कि सिन्ध के सब राष्ट्र-प्रेमियों को इस लादी हुई अवैज्ञानिक लिपि का मोह छोड़ देना चाहिए, और उसके स्थान पर राष्ट्र-लिपि देवनागरी को स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि सिन्धी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति देवनागरी लिपि के द्वारा ही हो सकती है। देवनागरी लिपि के स्वीकार से ही सिन्ध अपना साहित्यिक संबंध राष्ट्रभाषा हिन्दी से स्थापित और दृढ़ कर सकेगा।

यह देखकर मुझे सन्तोष हुआ कि सिन्ध का विद्वत्-समाज इस सत्य को अनुभव कर रहा था, किन्तु सिन्ध संकट की जिन विषम परिस्थितियों में से गुजर रहा था उन्हें देखते हुए कुछ कहा नहीं जा सकता था कि भविष्य में क्या होने वाला है। हाल में, लोकतंत्रवाद को पैरोंतले कुचलकर एक वर्ष के भीतर ही जो कुछ हुआ वह तो सब को विदित

है ही। जिस तरीके और जिस नीयत से वहाँ 'सिन्ध-यूनिवर्सिटी' बि
पास हुआ उसे देखकर तो सिन्ध देश की संस्कृति और सिन्धी भाषा
भविष्य अभी तो घोर अन्धकारमय ही दीखता है। फिर भी हम, आ
के विरुद्ध भी, आशावान हैं कि अदृष्ट लोक-शक्ति अपनी व्यापक संस्कृ
की, जो शेष भारत से अविच्छिन्न है, रक्षा कर ही लेगी। राज-शाह
की जड़ों के मुकाबिले लोक-संस्कृति की जड़ें बहुत गहरी और
होती हैं।

: ५१ :

मेरा परिवार

पिछले प्रकरणों में प्रसंगानुसार परिवार के कई परिजनों का मैंने उल्लेख किया है। इस प्रकरण में—जिसे मैं कुछ संकोच या पशोपेश के साथ लिख रहा हूँ—अपने कुटुंबियों के संबंध में कुछ अधिक लिखना चाहता हूँ। पशोपेश यह रहा कि पाठकों को घरेलू या खानगी बातों में क्यों बेकार उलझाऊँ; पर साथ ही, यह भी सोचा कि सब-कुछ मैंने पाठकों को ही ध्यान में रखकर थोड़ा ही लिखा है। किसीके भी जीवन-प्रवाह ने दूसरों की राजी या नाराजी पर बहुत ध्यान कब दिया? परिजनों की चर्चा करने या न करने से कृतज्ञता या कृतघ्नता का प्रश्न नहीं उठता, पर यह अवश्य है कि चित्र यह अधूरा-सा रह जायेगा, और मुझे, और शायद स्वयं मेरी कहानी को भी, पूरा संतोष नहीं होगा। फिर मेरा यह सारा चित्र ऐहिक ही तो है। सांसारिक संबंध तो सब ज्यों-के-त्यों कायम ही हैं। यह सोचकर, इसलिए, जहाँ मेरा जन्म हुआ उस घर के कतिपय संबंधियों की, तथा बाद को स्वभावतः स्वीकारने से जो विशिष्ट परिवार मेरा आज बन गया है उसकी भी थोड़ी विस्तृत चर्चा इस प्रकरण में कर लेना चाहता हूँ।

आरंभ इस कथा का मेरे पूज्य नाना और नानी के पुण्य स्मरण से हुआ था, सो उनके विषय में अब और अधिक नहीं लिखना। अपनी धर्ममाता पर भी एक अलग प्रकरण लिख चुका हूँ। जन्मदात्री माँ के विषय में ही मैं अबतक लगभग मौन-सा रहा हूँ। माँ सदा मेरे साथ रहीं, फिर भी मैं उनसे कुछ अलग-अलग-सा ही रहा। इलाहाबाद तथा पन्ना में मैं उनसे एक-एक, दो-दो मील के फासले पर रहता था; दिल्ली में एक ही जगह रहा—सात-आठ साल तो एक ही घर में, और अब हरिजन-निवास में ज़रा हटकर दूसरे मकान में। बोला भी हमेशा उनसे बहुत कम। उनके हाथ का परोसा खाना भी कभी-कदास ही खाया होगा। घर में सदा अपने हाथ से ही परोसकर खाने की मेरी आदत रही। संबोधन भी सामने माँ या किसी अन्य शब्द से नहीं किया। गरज़ यह कि जैसा चाहिए था वैसा संपर्क नहीं रहा। विवाह न कराकर माँ को मानसिक क्लेश भी बहुत दिया। मेरे ममेरे भाइयों व उनके बच्चों के लालन-पालन में अपने दुःख को उन्होंने एक तरह से भुला दिया सही, पर जीवन तबसे उनका कुछ नीरस-सा ही बन गया। पर मेरे प्रति उनके सहज स्वाभाविक स्नेह में कोई कमी नहीं आई। रूढ़िग्रस्त ब्राह्मणकुल की कई परंपराओं को त्यागकर मेरी खातिर सुधारों को भी उन्होंने बहुत-कुछ अपना लिया। देह जर्जरित, फिर भी गिरस्ती के किसी काम-काज में आलस नहीं, थकान नहीं। भोजन में सादा दाल-रोटी। न दूध से मतलब, न घी से; दूध तो कभी बीमारी में भी नहीं; जवाब यह कि दूध तो बच्चों के लिए है, इतना महँगा दूध मैं भला पिऊँगी! पहनने को मोटी खादी की धोती, यद्यपि

वृद्धावस्था में मोटा कपड़ा वैसे सधता नहीं। पर महीन खादी पर पैसा कैसे खर्च किया जाये, और फिर इतना पैसा आये भी कहाँ से? मुझसे कभी कोई बड़ा सुख नहीं मिला। स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने भीतर वह ऊँची भक्ति-भावना नहीं पाता, जो माता के प्रति स्वभावतः होनी चाहिए। इसका कारण? प्रकृति ही मेरी कुछ ऐसी बन गई है। पर जान-मानकर मैंने उनकी कभी उपेक्षा नहीं की, अविनय की तो बात ही नहीं। इस प्रकार की मनोवृत्ति को विरक्ति भी नहीं कहूँगा, पर जैसी होनी चाहिए वैसी भक्ति-भावना मैंने अपने हृदय में देखी नहीं। फिर भी माँ ने मेरी इस उदासीनता की किसीसे कभी शिकायत नहीं की। उनके स्नेह की थाह मैं पा नहीं सका, यद्यपि वह स्नेह सीमित-सा ही रहा, बहुत व्यापक नहीं बन सका।

मेरे मामा भगवानदासजी भी जीवन-भर जैसे रोते ही रहे, आँसू बहाने में कभी मितव्ययिता से काम नहीं लिया। क्रोधी होते हुए भी हृदय उनका बड़ा कोमल रहा। अकर्मण्यता और दुर्भाग्य ने आजीवन उनका पीछा नहीं छोड़ा। लड़कों को भी अधिक पढ़ा-लिखा नहीं सके। तीन लड़कों में से केवल एक लक्ष्मण ही कुछ बन गया। वह छुटपन से हमारे साथ रहा। गिरस्ती का छकड़ा उसीने चलाया। सबसे बड़े लड़के रामप्यारे ने जीवन का सुख नहीं पाया। उसका विवाह नहीं हो सका। बेचारा कहीं वहीं एक गाँव से दूसरे गाँव में सारी ज़िन्दगी मारा-मारा भटकता फिरा। मैंने उसके जीवन में दयनीय ग़रीबी और सरलता देखी। और छोटा लड़का भी जीवन-क्षेत्र में पैर नहीं जमा सका। मामी का देहान्त हुए भी कई साल होगये। मामा को घर की

मोह-माया फिर भी बुरी तरह घेरे रही। वाद्य-गुणी होते हुए भी अपने दुखी दरिद्र घर को कभी त्यागा नहीं। उधर, उस तरफ़ लोग प्रायः फाकेमस्त और फटेहाल रहना पसंद करते हैं, और बाप-दादों के घर मे हर हालत में चिपटे रहते हैं। मुझपर मामा का सदा निश्छल सकरुण स्नेह रहा। मैं उनकी कोई खास मदद नहीं कर पाया और लड़कों से भी उन्हें जैसा चाहिए वैसा सहारा नहीं मिला।

जैसाकि ऊपर कहा है, लछमण मेरे, बल्कि ज्यादा सही तो यह है कि अपनी बुआ के साथ रहा, फिर भी एक ही जगह रहते हुए भी मुझसे उसका मिलना-जुलना हमेशा बहुत कम हुआ। अपने काम से काम रखा। मैं बोला तभी जवाब दिया। मुझसे हमेशा डरा। इसे पुराने ढर्रे की शील-मर्यादा ही कहनी चाहिए। कई बच्चों का बाप होते हुए भी कभी मेरे सामने अपनी स्त्री से नहीं बोला। पहले 'हिन्दुस्तान टाइम्स' प्रेस में था, बाद को बिड़ला मिल में नौकरी करली। एक बार किसी ग़लती पर मुअत्तिल कर दिया गया था। चुपचाप घर में बैठ गया, पर मुझसे सिफारिश करने के लिए नहीं कहा। मैंने सुना तो बल्कि उसे ऊपर से और डाँटा।

और शान्ति—लछमण की पत्नी—भी ग़रीब स्वभाव की ही मिली। सारे दिन चुपचाप काम करती रही। कभी किसी बात पर खीझ आगई तो कोने में बैठकर चार आँसू डार लिये, और फिर वैसे ही काम में लग गई। किसी वस्तु की इच्छा प्रकट नहीं की। मेरी माँ के शासन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया। जिस दरिद्रग्रस्त वातावरण में वह पैदा हुई और बड़ी हुई उसे भुलाकर यहाँ शहर के

अपरिचित वातावरण को संयत रूप से अपनाने में उसे कोई खास कठिनाई नहीं हुई। यहाँ आकर अपने-आप थोड़ा अक्षर-ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। पढ़ी-लिखी प्रगतिशील महिलाओं की दृष्टि में शान्ति-जैसी गृहिणी का भले ही अधिक मूल्य न हो, पर इस पिछड़ी हुई श्रेणी की हमारी कुल-वधुएँ ही भारत की शीलमूलक आर्य-परम्परा को थोड़ा-बहुत साधे हुए हैं और सद्भाग्य से आज भी उनकी बहुत बड़ी संख्या है। कौन उनकी अज्ञात कथाएँ लिखने जाता है? किस महिला-परिषद् ने उनका प्रतिनिधित्व किया है?

मैं अपनी स्वीकृत बहिन की चर्चा पिछले एक प्रकरण में कर चुका हूँ। घटना-चक्र से उनके जीवन के कितने सारे वर्ष मानसिक क्लेश में बीते, फिर भी मेरे लिए उनके चिन्ता-जर्जरित अंतर में भ्रातृस्नेह ज्यों-का-त्यों बना रहा। उनके पवित्र स्मरण ने स्वभावतः मेरे हृदय में सदा शीतलता और सात्त्विकता का संचार किया।

विवाह न करने से असल में जिसे 'गृहस्थी' कहते हैं उसके सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव मैंने स्वयं नहीं किया। दूर से ही कुतूहल की दृष्टि से देखता रहा कि किस प्रकार विवाह-बंधन में पड़कर देखते-देखते मनुष्य का रूपान्तर हो जाता है। नर और नारी दोनों एक नया ही संसार बसा लेते हैं; पुराने संसार को बरबस भूलने-से लग जाते हैं। यह नहीं कहता कि यह रूपान्तर या अभिनव सृजन बुरा है। शायद अच्छा भी हो, शायद कुछ अंशों में बुरा भी हो, इसका पता तो शायद समय पर अभिनय के उन पात्रों को भी न लगता हो। तथापि अपनी बाँधी हुई नई सीमाओं के अन्दर स्वच्छन्द घूमना उन्हें सुखद ही

मालूम देता होगा । उन सीमाओं को उद्‌बोधपूर्वक कितनों ने तोड़ा ? वह अद्‌भुत पुरुषार्थ कभी-कभी ही कहीं देखने में आया । यों भिक्षु लाखों-करोड़ों हुए, पर उनमें से बुद्ध कितने बन पाये ? गृह बसानेवालों की कृत्रिमता उनके जीवन में स्वाभाविक-सी बन जाती है, तो इसमें आश्चर्य क्या ! बाहर से देखनेवालों को भले ही ऐसा लगता हो कि वे आग की लपटों के बीचों-बीच जल-भुन रहे हैं, पर कौन जाने कि उन्हें वे लपटें भी शीतल प्रतीत होती हों ! क्या पता कि रोते-कराहते हुए भी वे अपने रचे लौह-जाल के भीतर पड़े-पड़े मधुर-मदिर स्वप्न देखा करते हों । तटस्थों को भले ही उनकी विवशता पर तरस आता हो, पर उन गृह-स्रष्टाओं को तो शायद अपने इस मोहक रोदन में भी जीवन-संगीत सुनाई देता होगा । उन की अपनी आँखों से बाहर-बाहर से देखनेवालों ने उनके चिर-सेवित स्वप्नों को कब देखा है ?

मैंने 'गृहस्थी' को बिना ही प्रयास के जिस जगह से ३२ वर्ष पहले खड़े होकर देखा था, वहाँ से तो मुझे उसका कटुता-भरे संघर्ष का डरावना पहलू ही दिखाई दिया था । प्रेम के क्षेत्र में उसे मैंने 'जोड़क' नहीं, किन्तु 'तोड़क' माना था । मैं घबरा गया था । प्रकृति से मन में भावातिरेक जो था; या फिर मैं बिल्कुल दुर्बल था । उस संघर्ष-दर्शन से अभिभूत हो गया । भागकर फिर अपने आपसे जो सतत संघर्ष किया वह क्लेशकर और भीषण रहा । अनेक सतृष्ण वृत्तियों पर काबू नहीं पा सका । मानसिक पतन तो हुआ ही । लड़ते-भिड़ते इतना कुछ मार्ग, काल की सहायता से, काट पाया हूँ; किन्तु जिस

आश्रम को अज्ञानपूर्वक उस दिन अस्वीकार किया था, और जिसे कुतूहलपूर्ण अतृप्त दृष्टि से देखता रहा, उसके एक रस ने, जो मधुर है किन्तु मादक नहीं, मुझ जर्जरित यात्री को, जीवन-यात्रा के उत्तरार्द्ध में, अपनी ओर खींच लिया। मेरा आशय 'वात्सल्य' रस से है। मैंने स्वयं अपनी धर्म-माता की गोद में असीम वात्सल्य पाया था। आदान का दान में परिणत होना प्राकृतिक था। प्रतीक्षा केवल समय की थी। संस्कार अन्दर दबे पड़े रहे। संयोग ही कहूँगा कि वह दबी पड़ी वात्सल्य-भावना समय पाकर ऊपर उठ आई—फलतः भगवत और मोती को पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया, अथवा इन लड़कों ने ही पहले मुझे पितृरूप में स्वीकार किया। यह पितृ-पुत्र-संबन्ध बिना किसी जाब्ते के सहज भाव से हुआ।

इनका परिचय क्या दूँ? दोनों उद्योगशाला के स्नातक हैं, और मेरे बच्चे हैं। भगवत बड़ा है, मोती छोटा। यों तो कई वर्षों से किन्तु आत्मजों के जैसा संपर्क इनका मेरे साथ आठ-नौ वर्षों से है। दोनों में मैंने साहित्यिक अभिरुचि को पाया; हिन्दी-साहित्य के कुछ ग्रन्थ भी पढ़ाये। भगवत कविता भी लिखने लगा, और कुछ-कुछ पंक्तियाँ उसकी सरस भी देखीं। उपनाम अपना उसने 'शिशु' रखा, जो उसकी प्रकृति को देखते हुए शायद थोड़ा सार्थक भी लगा। मैंने उसे कविता लिखने का प्रत्यक्ष प्रोत्साहन नहीं दिया; पर उसकी उस अभिरुचि को दबाया भी नहीं। साधारणतया अंकुश इतना ही रखा कि कविता के शील-विरोधी प्रवाह में कहीं वह बह न जाये। मोती ने भी खासी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करली। सम्मेलन का वह

'साहित्य-रत्न' भी हो गया। अपने विचारों को उसने स्वतंत्रता के साथ प्रकट किया, किन्तु शील-मर्यादा का ध्यान रखा।

मैंने सहज भाव से इन दोनों पर अपना संचित वात्सल्य उँडेला। फिर भी कभी-कभी ये मेरे साथ ढिठाई और थोड़ी रुखाई का भी व्यवहार कर बैठे। इनके आपसी मनमुटाव से कई बार मुझे मनोव्यथा भी हुई। अस्तु; इनके विषय में और अधिक क्या लिखूँ। इनके लिए मैं अबतक कुछ कर नहीं पाया। अपने अपरिपक्व सद्विचार ही कभी-कभी इनके सामने रखे। हृदय से सदा चाहा कि इन दोनों में दिन-दिन सद्बुद्धि और शील का विकास होता रहे, दोनों में भ्रातृभाव फूलता-फलता रहे, सांसारिक सुखों को स्वाभाविकतया ये भले भोगें, पर उन्हें पहला स्थान न दे बैठें, और अपनी जीवन-दृष्टि का चरम लक्ष्य अभी से ही परमार्थ को बनालें। मैं तो इतना ही संकेत दे सकता हूँ कि द्वेष की भाँति राग भी एक आग का ही मोहक रूप है, जलाते दोनों ही हैं—इसलिए भरसक इस आकर्षक आग से ये दूर ही रहें। यही मेरी आशा है और यही आकांक्षा है। यों कौन किसका जीवन-निर्माण करता है? हमारी तो केवल कल्याण-कामना ही हो सकती है। प्रत्येक का निर्माण वास्तव में वातावरण और बाह्य कारणों की अपेक्षा अपने-अपने स्वभावसिद्ध संस्कारों पर ही अधिक निर्भर करता है। कामना में ममता-जनित सूक्ष्म अहंकार तो निहित रहता ही है, जो उसकी उज्ज्वल आशा को भी मलिन कर देता है। ऐसा एकांगी प्रेम में नहीं होता। पर एकांगी प्रेम कहाँ देखने में आता है? आशा उसमें कितनी कुछ बाधा डालती है! सच्चा कल्याणकामी तो परमपिता परमात्मा ही

आश्रम को अज्ञानपूर्वक उस दिन अस्वीकार किया था, और जिसे कुतूहलपूर्ण अतृप्त दृष्टि से देखता रहा, उसके एक रस ने, जो मधुर है किन्तु मादक नहीं, मुझ जर्जरित यात्री को, जीवन-यात्रा के उत्तरार्द्ध में, अपनी ओर खींच लिया। मेरा आशय 'वात्सल्य' रस से है। मैंने स्वयं अपनी धर्म-माता की गोद में असीम वात्सल्य पाया था। आदान का दान में परिणत होना प्राकृतिक था। प्रतीक्षा केवल समय की थी। संस्कार अन्दर दबे पड़े रहे। संयोग ही कहूँगा कि वह दबी पड़ी वात्सल्य-भावना समय पाकर ऊपर उठ आई—फलतः भगवत और मोती को पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया, अथवा इन लड़कों ने ही पहले मुझे पितृरूप में स्वीकार किया। यह पितृ-पुत्र-संबन्ध बिना किसी जाब्ते के सहज भाव से हुआ।

इनका परिचय क्या दूँ ? दोनों उद्योगशाला के स्नातक हैं, और मेरे बच्चे हैं। भगवत बड़ा है, मोती छोटा। यों तो कई वर्षों से किन्तु आत्मजों के जैसा संपर्क इनका मेरे साथ आठ-नौ वर्षों से है। दोनों में मैंने साहित्यिक अभिरुचि को पाया; हिन्दी-साहित्य के कुछ ग्रन्थ भी पढ़ाये। भगवत कविता भी लिखने लगा, और कुछ-कुछ पंक्तियाँ उसकी सरस भी देखीं। उपनाम अपना उसने 'शिशु' रखा, जो उसकी प्रकृति को देखते हुए शायद थोड़ा सार्थक भी लगा। मैंने उसे कविता लिखने का प्रत्यक्ष प्रोत्साहन नहीं दिया; पर उसकी उस अभिरुचि को दबाया भी नहीं। साधारणतया अंकुश इतना ही रखा कि कविता के शील-विरोधी प्रवाह में कहीं वह बह न जाये। मोती ने भी खासी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करली। सम्मेलन का वह

'साहित्य-रत्न' भी हो गया। अपने विचारों को उसने स्वतंत्रता के साथ प्रकट किया, किन्तु शील-मर्यादा का ध्यान रखा।

मैंने सहज भाव से इन दोनों पर अपना संचित वात्सल्य उँडेला। फिर भी कभी-कभी ये मेरे साथ ढिठाई और थोड़ी रुखाई का भी व्यवहार कर बैठे। इनके आपसी मनमुटाव से कई बार मुझे मनोव्यथा भी हुई। अस्तु; इनके विषय में और अधिक क्या लिखूँ। इनके लिए मैं अबतक कुछ कर नहीं पाया। अपने अपरिपक्व सद्विचार ही कभी-कभी इनके सामने रखे। हृदय से सदा चाहा कि इन दोनों में दिन-दिन सद्बुद्धि और शील का विकास होता रहे, दोनों में भ्रातृभाव फूलता-फलता रहे, सांसारिक सुखों को स्वाभाविकतया ये भले भोगें, पर उन्हें पहला स्थान न दे बैठें, और अपनी जीवन-दृष्टि का चरम लक्ष्य अभी से ही परमार्थ को बनालें। मैं तो इतना ही संकेत दे सकता हूँ कि द्वेष की भाँति राग भी एक आग का ही मोहक रूप है, जलाते दोनों ही हैं—इसलिए भरसक इस आकर्षक आग से ये दूर ही रहें। यही मेरी आशा है और यही आकांक्षा है। यों कौन किसका जीवन-निर्माण करता है? हमारी तो केवल कल्याण-कामना ही हो सकती है। प्रत्येक का निर्माण वास्तव में वातावरण और बाह्य कारणों की अपेक्षा अपने-अपने स्वभावसिद्ध संस्कारों पर ही अधिक निर्भर करता है। कामना में ममता-जनित सूक्ष्म अहंकार तो निहित रहता ही है, जो उसकी उज्ज्वल आशा को भी मलिन कर देता है। ऐसा एकांगी प्रेम में नहीं होता। पर एकांगी प्रेम कहाँ देखने में आता है? आशा उसमें कितनी कुछ बाधा डालती है! सच्चा कल्याणकामी तो परमपिता परमात्मा ही

: ५२ :

महा परिनिर्वाण

राजनीति से यद्यपि मैंने कभी कोई सीधा संबंध नहीं रखा, तो भी स्वदेश-प्रेम का मेरे हृदय में एकांत अभाव नहीं रहा। यों राजनीति हरेक के लिए आवश्यक और उपयुक्त भी नहीं। जब मैं छतरपुर में था, तब भी, उस अँधेरे कूप के अन्दर भी, देश-प्रेम की मुझे कुछ-कुछ हवा लग चुकी थी। बुन्देलखण्ड की रियासतें उन दिनों सभी दृष्टियों से बहुत पिछड़ी हुई थीं। देश-भक्ति की मामूली चर्चा करना भी वहाँ भारी राजद्रोह समझा जाता था। एक तो लोगों में अखबार मँगाने और पढ़ने का भी शौक़ नहीं था, दूसरे, जो इधर-उधर से ले-देकर पढ़ते थे उनपर पुलिस कड़ी निगाह रखती थी। अखबारों में कभी-कभी बंगाल के क्रान्तिकारियों की और स्वदेशी-आन्दोलन की भी खबरें छपती रहती थीं। ऐसी खबरों को मैं ज़रूर पढ़ता था। मुझे याद है कि कुवँर कन्हैयाजू को छत्रसाल की जीवनी 'बुन्देलखण्ड-केशरी' जैसी निर्दोष पुस्तक लिखने पर मुकदमा चलाये बग़ैर ही क़ैद में डाल दिया गया था। अँग्रेज़ी राज के प्रति प्रजा में पूरी वफ़ादारी थी। अँग्रेज तब परमात्मा द्वारा भेजे हुए भारत के खास उद्धारक और त्राता

समझे जाते थे।

देश-भक्तों में लोकमान्य तिलक, मालवीयजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और अरविन्द घोष यही चार-पाँच नाम हम लोगों ने सुन रखे थे। इन राष्ट्र नेताओं के लिए मन में भक्ति-भाव पैदा हो गया था। सोचता था कि क्या कभी इन बड़े-बड़े नेताओं के दर्शन कर सकूँगा। दो तीन महापुरुषों की मामूली जीवनियाँ भी पढ़ी थीं। कुछ बाद को उस समय की प्रसिद्ध पुस्तक 'देश की बात' भी शायद पढ़ी थी।

इलाहाबाद आया तब राजनीतिक आन्दोलनों को प्रत्यक्ष देखा। अनेक बड़े-बड़े नेताओं के दर्शन किये और उनके भाषण भी सुने। यह गांधी-युग का उदय-काल था। इस ऐतिहासिक युग का आरम्भ बड़े प्रचंड वेग से हुआ। मैं उन दिनों टंडनजी के घर में रहता था। वे जिस त्याग और निर्भीकता से असहयोग-आन्दोलन में कूदे वह सब मैंने अपनी आँखों से देखा। उनकी पहली गिरफ्तारी का दृश्य हजारों को रोमांचित कर देनेवाला था।

इस असहयोग-आन्दोलन में मुझसे और कुछ योग तो देते बना नहीं; हाँ, तनपर मोटी खादी अवश्य धारण करली। खादी तभी से मेरे शरीर का अंग बनी हुई है। देश-प्रेम से प्रेरित होकर असहयोग संबंधी तीन-चार छोटी-छोटी किताबें भी उन्हीं दिनों लिखीं।

जब सन् ३० का सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ा तब मैं पन्ना में था। आंदोलन की हवा देशी रियासतों में भी पहुँची थी। छतरपुर राज्य में तो चरणपादुका स्थान पर गोली भी चली, जिससे कितने ही निर्दोष आदमी मारे गये। पकड़-धकड़ भी काफी हुई। गड़बड़ी देखकर एक-दो जगह

बदले-पर-बदले लिये जाने लगे। खून से रँगे परदे पर कभी कलकत्ता दिखाई दिया तो कभी नोआखाली; कभी बिहार सामने आया तो कभी रावलपिण्डी। गांधीजी की छाती इन घृणित घटनाओं को सुन-सुनकर धायँ-धायँ जल उठी। उन्होंने देश के अनेक भागों में फैली हुई आग को बुझाने का यत्न किया। खुद जल-बल रहे थे, फिर भी रग-रग से अहिंसा की मधुर झनकार निकल रही थी। आग के बीचो-बीच खड़े प्रेम का शीतल छिड़काव कर रहे थे।

प्रश्न था—आनेवाली कई पीढ़ियोंतक पराधीनता को जारी रखना, या स्वाधीनता की खातिर देश के दो टुकड़े कर देना? कांग्रेस और लीग का मिल-जुलकर शासन चलाना असम्भव हो गया। फलतः ब्रिटिश शासकों की नेक सलाह से देश को खण्डित कर दिया गया। पंजाब के भी दो टुकड़े किये गये, और बंगाल के भी। आरा चलाकर भारत की दोनों भुजाएँ काट डाली गईं। गांधीजी को भी ज़हर की घूँट पीकर इस घातक योजना का समर्थन करना पड़ा। बेचारे एक टण्डनने ही विरोध की आवाज़ उठाई, पर वह सुनी-अनसुनी करदी गई। ऊपर से देखने में नहीं आये, पर अन्दर-अन्दर गांधीजी के कलेजे के टुकड़े टुकड़े हो गये। देश का अंगच्छेद हो जाने पर भी शान्ति न हुई—आग और भी भड़क उठी। जिस दिन भारत खण्डित हुआ उसी दिन युग-युग के लिए अशान्ति के विष-बीज बो दिये गये।

१५ अगस्त, १९४७ का ऐतिहासिक दिन। सन्ध्या को दिल्ली में स्वातन्त्र्य-महोत्सव मनाया जा रहा था। विद्युत की दीप-मालिकाओं से सारे राज-पथ जगमगा रहे थे। हर छोटे-बड़े भवन पर चक्राङ्कित राष्ट्र-

ध्वज फहरा रहे थे। उधर लाहौर में तथा पंजाब के कई नगरों और ग्रामों में निर्दोषों के रक्त के पनाले बह रहे थे। जहाँ-तहाँ हाहाकार मचा हुआ था। लाखों घरों के दिये बुझ चुके थे।

फिर इधर इन हिस्सों में भी बदले लिये गये। प्रतिहिंसा का नग्न नृत्य हुआ। कुछ छुट-पुट शर्मनाक घटनाएँ यहाँ भी घटीं। देवता बनने का चाव रखनेवाला मनुष्य देखते-देखते पशु हो गया।

कोई पचास लाख आदमी पाकिस्तान से और लगभग इतने ही हिन्दुस्तान से चन्द दिनों में अदल-बदल हुए। रास्ते में सैकड़ों-हज़ारों क़त्ल कर दिये गये। जवान स्त्रियाँ भगाई गईं, सतीत्व नष्ट किया गया। धर्म ज़बरन बदला गया। लाखों का घर-द्वार छूटा। हज़ारों-लाखों लुटानेवाले दाने-दाने के मोहताज हो गये। शरणार्थियों से दोनों स्वतन्त्र देश खचाखच भर गये।

इनकी आपबीती कहानियाँ सुनने के लिए पत्थर का कलेजा चाहिए। जो मारे गये थे वे पार हो गये, जो ज़िंदा बचकर आये उनका बहुत बुरा हाल हुआ। आज़ादी की क़ीमत असल में इन्हीं दुखियों ने चुकाई। पाकिस्तान की मैं नहीं जानता, पर हमारे हिन्दुस्तान में उन्हें फिरसे बसाने का पूरा-अधूरा उद्योग करने पर भी हालत उनकी प्रायः वैसी ही रही। सरदार पटेल की तरफ़ से कपड़े बाँटने के लिए मैं कितनी ही जगह गया, और वहाँ अनेक शरणार्थी कैंप अपनी आँखों देखे। उनकी अपार विपदा को देखा, उनका असन्तोष और उनका रोष देखा। ऐसे भी देखे, जिन्होंने इस भारी विपत्ति को ईश्वर की अपरम्पार लीला समझकर खुशी-खुशी झेला।

इन लाखों दुखियों ने छोटे-छोटे तम्बुओं, घास-फूस के झोंपड़ों और खुले मैदानों में पूस-माह की रातें काटीं, और बैसाख-जेठ के दिन काटे। बेचारों को इस तरह बिलबिलाते हुए देखा, जैसे लाखों की संख्या में एक-दूसरे पर लदे हुए बरसाती कीड़े। अपने हरिजन-निवास के पड़ोस का सब से बड़ा कैम्प आग और आँधी की लपटों में जब धायँ-धायँ जला, उस दिन का वह हृदय-विदारक भयङ्कर दृश्य क्या कभी भूल सकता हूँ ? स्वतन्त्रता तो आई, पर साथ में यह क्या-क्या विपदा लाई। उत्सव का यह कैसा दीपक, कैसा उजेला !

'घर में चिराग़ क्या जला, घर को जला गया !'

गांधीजी का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। उनकी छाती पर अङ्गार दहक रहे थे। हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति के मुख पर वे किसी भी तरह कालिख नहीं लगने देना चाहते थे। रक्त की एक-एक बूँद होम-कर वे बर्बरता और प्रतिहिंसा को बढ़ने और फैलने से रोक रहे थे। उधर शासन शकट के अनुभव-शून्य अश्वों की लगाम भी अपने जीर्ण-शीर्ण हाथों से खींचे चले जा रहे थे।

गांधीजी की धर्म-नीति से हिन्दू जाति का एक नगण्य-सा भाग बेतरह क्षुब्ध और उत्तप्त हो उठा। फलतः एक हतबुद्धि हिन्दू युवक ने ३० जनवरी की शाम को ५। बजे गोलियाँ दाग़कर महात्मा का वध कर डाला। अथवा, अपनी ही जाति—हिन्दू जाति की गर्दन पर, बल्कि मानव जाति की गर्दन पर पागल होकर उसने कुल्हाड़ा मारा। भारत के लम्बे इतिहास में इस प्रकार की यह पहली ही घटना है, जो कितनी कलुषित और कितनी लज्जाजनक है। उस सन्ध्या को, लोगों ने कहा,

साथ-साथ दो-दो सूर्य डूबे।

मैं उस दिन पिलानी में था। दूसरे दिन दोपहर को जब दिल्ली पहुँचा तब पूज्य बापू का विमान बिड़ला-भवन से रवाना हो चुका था। मार्ग में दूर से उनके शव का दर्शन किया। महानिर्वाण-यात्रा का वह दृश्य कैसा अपूर्व था! सचमुच में वह श्मशान-यात्रा नहीं थी। लाखों आँखों से आँसू बह रहे थे, चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम उमड़ रहा था, और मानवरूप में देवगण पुष्प-वर्षा कर रहे थे।

उस बेचारे नादान हत्यारे पर कहाँ किसका ध्यान जाता। प्रेम के महासागर में द्वेष की उस बूँद का कहीं पता भी नहीं चलता था। मुझे तो ऐसा लगा कि उस संध्या को प्रार्थना-स्थल पर स्वेच्छा से स्वयं बापू ने ही जीवन-सखा मृत्यु को प्रेमालिंगन देने के लिए यह सब लीला रची होगी। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इस महामंत्र का साक्षात्कार करनेवाले महात्मा का शस्त्र द्वारा कैसा तो घात और कैसा मरण!

मुझे यह भी उस समय लगा कि गांधीजी मानो उसी सहज, शान्त मुद्रा में लेटे हुए अंतरिक्ष से हमें अपने हाथ के संकेत से सावधान कर रहे हैं, और रह-रहकर उनकी मीठी धीमी आवाज़ हमारे कानों में गूँज रही है—यह कि, "सावधान! क्रोध में अन्धे न हो जाना। दण्ड देना असल में भगवान् का कार्य है या फिर न्यायी शासन का। पागल होकर मेरे जीवनभर के उपदेशों पर पानी न फेर देना। विष का नाश विष से नहीं होगा, आग आग से नहीं बुझेगी।"

अंतिम अनशन शुरू किया उससे कोई पाँच-छह दिन पहले की

बात है। ठक्कर बापा ने सिन्ध से आये हुए हरिजनों के लिए कच्छ में शरणार्थी-शिविर खोलने के विचार से वहाँ जाने का निश्चय किया और बापू की सलाह और आशीर्वाद लेने वे बिड़ला-भवन पहुँचे। बापू का मत था कि कच्छ जाने की अपेक्षा तो दिल्ली में बैठकर कहीं अधिक काम हो सकता है। पर बापा तो निश्चय कर चुके थे। बापू ने कहा—"ठीक है, तब भले जाओ। जा सको तो कराची भी जाना। जो बेचारे हरिजन वहाँ से निकल नहीं सकते उन्हें निकाल लाने का यत्न करना। ऐसा करते हुए वहाँ अगर तुम मारे भी जाओ, तो मैं तो उसे 'मंगल मरण' कहूँगा, और तुम्हारा मरण सुनकर नाच उठूँगा।" ठक्कर बापा २ फरवरी को सवेरे फूल उठाते समय सीधे चिता-स्थान पर पहुँचे, और उन्हें बापू का उस दिन का एक-एक शब्द वहाँ याद आ गया। बापू तो पहले ही नाचते हुए भगवान् के मंगल-मन्दिर में चले गये थे। मैं रामदास भाई के साथ अस्थियाँ चुन रहा था, भस्म इकट्ठी कर रहा था, उधर ठक्कर बापा स्तब्ध बैठे बापू के ध्यान में मग्न थे।

चैत्य आज दिल्ली का एक तीर्थ-स्थान बन गया है। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सभी वहाँ पहुँचते हैं, श्रद्धा-भक्ति से फूल चढ़ाते हैं, दो बूँद आँसू टपकाते हैं, और मस्तक झुकाते व टेकते हैं। वहाँ बैठकर किसीको भान भी नहीं होता कि यह श्मशान-भूमि है।

स्वभावतः तुरन्त ही गांधीजी के पुण्यस्मारक बनाने का प्रश्न देश के सामने आया। पूजा-उपासना व्यक्ति की ही जगत् में देखी

गई है, यद्यपि भार हमेशा अव्यक्त गुणों की उपासना पर दिया गया है। दूसरे महापुरुषों की भाँति गांधीजी भी अपने विचारों और आदर्शों की उपासना और साधना पर बल दिया करते थे। वह भी होगी, साथ-साथ व्यक्त की उपासना भी होगी। धन-संग्रह होगा; स्मारक निर्माण होंगे; मन्दिर बनेंगे; मूर्तियाँ स्थापित होंगी; स्तंभ खड़े होंगे; गान्धीवाद पर चर्चाएँ और व्याख्यान हुआ करेंगे; गांधी-साहित्य विविध भाषाओं में प्रकाशित होगा, इसी प्रकार और भी अनेक आयोजन होते रहेंगे। राजसत्ता भी अपने ढंग के गांधीजी के स्मारक बनायेगी, और उनकी रक्षा करेगी। रचनात्मक संघ गांधीजी द्वारा जलाई गई ज्योति को भरसक बुझने नहीं देंगे। उनके प्रवचनों के नये-नये भाष्यकार भी पैदा होंगे। शायद गद्दियाँ भी स्थापित हो जायें। साहित्यकार और कलाकार अपनी-अपनी कृतियों से गांधी-जी के अमरत्व को युग-युगतक सिद्ध और प्रसिद्ध करते रहेंगे। ये सभी अपने-अपने प्रकार के, अपने-अपने ढंग के 'गांधी-स्मारक' होंगे।

प्रश्न है कि क्या गांधीजी के अनेक अनुयायी और उनके उपासक उनकी अपनी कल्पना का 'रामराज्य' भी स्थापित कर सकेंगे? वह राज्य, जिसमें प्रेम ही राजा हो और प्रेम ही प्रजा; जहाँ कर्तव्य के आगे अधिकार को आदर न दिया जाये; जहाँ भय से सिर न झुके; जहाँ लोभ को आश्रय न मिले; और जहाँ धर्म के दण्ड को राज के दण्ड से ऊँचा स्थान दिया जाये। ऐसा स्मारक क्या बड़े-बड़े राजनेता ही निर्माण कर सकते हैं? इसके संबंध में क्या हमारे धुरन्धर विचारक ही सोच सकते हैं? ऐसी बात नहीं है। नेता और विचारक

अपने-अपने ढंग से भले ही उसमें योग-दान दें, पर उसका निर्माण तो जनसाधारण के हाथों से ही होगा। बापू की आत्मा को तभी संतोष होगा, जब ऊँचे स्वर से उनका जय-जयकार बोलनेवाले हम सब लोग अपनी ही विवेक-बुद्धि से सत्य को पहचानेंगे, प्रेम को हृदय में स्थान देंगे, अन्धानुकरण न कर उनके सुझाये मार्ग पर सचाई से चलने का नम्रतापूर्वक प्रयत्न करेंगे।

गांधीजी स्थूल शरीर से चले गये, सूक्ष्म शरीर छोड़ गये। उनके महान् जीवन से जिनसे जितना लेते बना उतना लिया, और आगे भी लेते रहेंगे। शोक और भक्ति-भाव का वह उफान भी एक-दो मास के बाद धीरे-धीरे अपने आप शान्त होने लगा। फिर सबका सब वैसा ही चलने लगा। राष्ट्र का शासन-शकट भी आगे खिसका, उसके अश्वों और सारथी को किसीने आशीर्वाद दिया और किसीने अभिशाप।

नये राज-मन्त्रियों को शुरू से ही दम मारने की फुर्सत नहीं मिली। विभाजन से राष्ट्र की छाती में जो गहरा घाव हो गया उसकी असह्य पीड़ा का अनुभव उन्होंने पीछे किया। साथ-साथ अनेक छोटी-बड़ी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। दूर तट पर खड़े-खड़े मैं देखता रहा कि राज-व्यवस्था ठीक-ठीक आखिर क्यों नहीं जम रही। चोरबाज़ार और भी गरम हो गया। घूसखोरी भी कितनी बढ़ गई। अनुभवशून्य अधिकारी आ-आकर कुर्सियों पर बैठ गये। पदों की थाली पर लोलुप जन-सेवक अकाल-पीड़ितों की तरह टूट पड़े। तन्त्र की गति मन्द पड़ने लगी। साधारण जनतातक सालभर बाद भी स्वराज्य का प्रकाश नहीं पहुँचा। हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान बढ़ा, बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनीं, पर इस सबसे

उसे क्या लेना-देना। पेटभर दाल-रोटी मिले, तन ढकने के लिए कपड़ा हो, रहने को ठीक घर हो, बच्चों के लिए थोड़ा दूध हो, बीमारों के लिए दवा-दारू का इन्तजाम हो—साधारण जनता को शुरू में इतना मिल गया तो उसकी समझ में आ जायेगा कि देश में स्वराज्य आ गया।

अखबारों में कितनी ही भड़कीली योजनाएं प्रकाशित हुईं, पर अमल उनपर बहुत कम हुआ या हुआ ही नहीं। गोली बन्दूक से पहले छूटती है, आवाज़ पीछे होती है। पर इससे ठीक उलटा देखने में आया। भाषणों और वक्तव्यों पर संयम नहीं रखा गया। ध्यान अधिकतर अंतर्राष्ट्रीयता और एशिया के नेतृत्व पर रहा। हर बात में कभी तो सोवियत रूस का और कभी अमेरिका का मुँह ताका गया, और अपनी हीन भावना को प्रश्रय दिया गया। कुछ अनावश्यक बातें भी बार-बार दोहराई गईं, और बहुसंख्यकों को व्यर्थ चिढ़ाया गया। अति न्याय के फेर में पड़कर कभी-कभी सामान्य न्याय की भी उपेक्षा की गई। स्वस्थ्य और मौक़े की आलोचना भी सरकार को अच्छी नहीं लगी। बहुतों ने लोभ से और कुछेक ने भय से अपना सच्चा मत प्रकट नहीं किया। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को यों ही टाल दिया गया। जैसे, हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राजलिपि मान लेने में प्रायः हिचकिचाहट दिखाई गई। शुद्ध वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय प्रश्न को दबी ज़बान से साम्प्रदायिकतक कहा गया। सांस्कृतिक प्रश्न वैज्ञानिकों पर न छोड़कर राज-नेताओं पर छोड़ दिये गये। किसी भी शासन-तन्त्र के हित में, खासकर उसके आरम्भ-काल में, ये लक्षण अशुभ हैं।

फिर प्रजा ने भी ज़रा उतावली और कुछ अविवेक से काम

लिया। उसने साल-छह महीने के अन्दर ही सब कुछ का लेना चाहा। लोग अपने पैरों पर खड़े नहीं हुए। पंगु बनकर सरकारी बैसाखियों पर सारा भार रखकर चलने की चेष्टा की। चोरबाज़ारी और घूसखोरी जो इतनी अधिक बढ़ी और फैली इसमें प्रजा भी दोषी रही और सरकार से भी कहीं अधिक।

स्वयं इन बारह महीनों में जो-जो मैंने देखा, और लोगों के मुँह से जहाँ-तहाँ जो कुछ सुना उसी सबके आधार पर यह लिखा गया है। गहराई में उतरकर राज-शासन की नीति से अलग-सलग रहने-वाला मुझ जैसा मामूली आदमी इससे अधिक और समझ ही क्या सकता था? फिर भी राजप्रकरण ऐसा जटिल और गुह्य विषय नहीं है, जो जनसाधारण की पहुँच से एकदम बाहर हो, और जिसपर कहने या राय बनाने का किसी सामान्य व्यक्ति को अधिकार ही न हो। आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश बाबू से लेकर हमारे हरिजन-निवास के [illegible] अम्मू मज़दूरतक सभी अपना-अपना मत प्रकट कर सकते हैं। राजनीति की ऊँची-ऊँची बातें तो देहात का जग्गू भला क्या जाने, पर इतना तो वह भी जानता है, कि "जवाहरलाल नेहरू गांधी महात्मा के भजन के परताप से राज कर रहा है; पर अभी सतजुग नहीं आया, लोग सुखी नहीं हैं।" और एक दिन कहने लगा, "सिक्कों और नोटों पर तो अब भी वही अंग्रेज का पुतला बैठा हुआ है!"

: ५३ :

सिंहावलोकन

इस प्रकरण में—चढ़ाई, या कहिए उतार की, ५३ वीं सीढ़ी पर खड़े-खड़े एक बार ज़रा पीछे की ओर मुड़कर देख लेना चाहता हूँ। जीवन की वे कई धुँधली और कई निखरी झलकें सुखद न सही, आकर्षक तो मुझे लगती ही हैं।

जीवन के सुनहरे प्रभात की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ एक-एक करके सामने आ रही हैं। शैशव का वह अनजानपन कितना सरल, कितना निर्दोष था, और आज का मेरा यह सारा जानपन कितना पेचीदा, कितना सदोष बन गया है! तब तो जैसे प्रतिक्षण जिज्ञासा और तृप्ति दोनों साथ-साथ मेरे नन्हें-से आँगन में खेला करती थीं। और, आज का यह अनपका या अधपका 'ज्ञान' दिन-दिन अतृप्ति की ओर खींचे ले जा रहा है! मैं रोना रोने नहीं बैठा हूँ—यह तो एक तथ्य की बात सुना रहा हूँ। मेरा रुपहरा बाल-चिन्तन तब कमल के पत्ते पर जल-बिन्दु की नाईं काँपता रहता था—वह कितना सुन्दर और कितना सुखद प्रतीत होता था! आज इस प्रौढ़ता की चट्टान पर पैर जमाये हुए खड़ा हूँ, फिर भी चारों ओर जैसे संशय और विषाद की घटोर रहा है।

खूब याद है, तब मैं पाँच बरस का था। भात के साथ छिलके-सहित आलू की तरकारी खाने से एक दिन उलटी होगई थी। ऐसा डरा कि फिर तीन-चार सालतक वैसी तरकारी कभी जीभ पर नहीं रखी। इधर अब इस उतरती उम्र में पता चला कि छिलकों में तो 'विटामिन' होता है। पर तब की उस अज्ञान-जनित अरुचि ने 'पोषण' में कुछ कमी की थी क्या? चटनी और नमक-मिर्च या पाँच-सात बताशे उस डरावनी तरकारी को सामने नहीं फटकने देते थे।

ध्यान फिर जा रहा है उन अनेक त्यौहारों, उत्सवों और नाना खेलों पर। कितने दिनों पहले से मैं बाट जोहा करता था कि अब कन्हैया-आठें आ रही है, अब दसहरा, अब दीवाली और अब होली। उमंग-ही-उमंग। सत्यनारायण की कथा का पंचामृत जितना स्वादिष्ट होता था उतनी ही अरोचक वह लीलावती-कलावती की कहानी लगा करती थी। उससे कहीं सुन्दर तो वे राजा-रानी की कहानियाँ होती थीं, जिन्हें मेरी नानी और माँ सुनाया करती थीं।

एक बारात को भी नहीं भूला हूँ। तब मुश्किल से मैं आठ, साढ़े आठ बरस का था। मामा के साथ एक सेठ के लड़के की बारात में गया था। उस गाँव का नाम शायद दरगवाँ था। तीन या चार दिन में बैलगाड़ियाँ वहाँ पहुँची थीं। जेठ का महीना था वह। दोपहर की लुवों में घने पेड़ों की छाँहतले जहाँ हमारा पड़ाव पड़ता वहाँ कितना सुहावना लगता था! हर पड़ाव पर रोज़-रोज़ वही सेव-खुरमे खाने को और पीने को पानी की जगह खाँड का ठंडा शर्बत। कच्चे आम भी हम सब बच्चे झोड़ लेते थे। बारात में जितने बालक गये थे, सब-के-

सब, सिवा एक मेरे, चाँदी-सोने के गहनों से लदे हुए थे, पर कपड़े-लत्ते सबके वैसे ही मैले-कुचैले थे। आधी रात को जब वहाँ आगोनी (आतिशवाजी) छूटी और कागज़ की रंगबिरंगी फुलवाड़ियाँ लुटीं, तब कितनी खुशी हुई थी हम सब बच्चों को! बारात आठ नौ दिन ठहरी थी उस छोटे-से गाँव में। लौटते हुए रास्ते में जब एक बड़ा नाला मिला, तब उसमें से हमने बहुत-से लाल और सफेद रंग के गोल-गोल सुन्दर पत्थर बीनकर इकट्ठे किये थे।

खेलों में आँख-मिचौनी और दौड़-पदौड़ के सारे ही खेल मैं बचपन में खेलता था। दिमाग़ी खेलों की तरफ़ कभी रुचि नहीं होती थी। आज भी मैं ऐसे खेलों की हार-जीत नहीं समझ पाता। बाल-साथियों में सबसे समीपी, पड़ोस के, रामचन्द्र गुसाईं और मातादीन सर्राफ़ थे। उट्टी (असहयोग) भी हम लोगों में जल्दी हो जाती, और मेल भी जल्दी। सयाना या समझवाला होना कितना बुरा है कि वैर की गाँठ ऐसी पक्की बैठ जाती है कि फिर खोले नहीं खुलती! काश जीवनभर मनुष्य बालक ही बना रहता! हम तीनों ही ग़रीब घरों के थे—शील-व्यवहार में सब समान। हम तीनों धूलि-धूसरित मित्र फटे-पुराने कपड़े पहनते, सूखी-रूखी रोटी खाते, और खेल-कूद में मस्त रहते थे। हमारा पुनर्मिलाप, छतरपुर छूटा उससे २९ बरस बाद, १९४४ में हुआ। हरियाली वह सारी सूख चुकी थी। वे गये-बीते सुहावने दिन फिर लौटाने पर भी नहीं लौटे। चेष्टा व्यर्थ थी।

पढ़ाई के दिनों या प्रसंगों पर नज़र नहीं दौड़ाना चाहता। जितना आवश्यक था वह लिख चुका हूँ। फिर ऐसा पढ़ा-पढ़ाया ही क्या?

अध्ययन का क्षेत्र मेरा बहुत संकुचित रहा। न तो वैसे अनुकूल साधन मिले, न अधिक पढ़ने का मन ही हुआ। पर इसका मुझे पछतावा नहीं। जितना कुछ पढ़ा उसीको नहीं पचा सका। अतः अल्पशिक्षित रहने में भी सन्तोष ही रहा।

मेरी विद्यार्थी-अवस्था समाप्त हुई कि बेकारी ने धर दबाया। अनिश्चितता और विमूढ़ता के दलदल में जा फँसा। सस्ती भावनाओं ने थपकियाँ दे-देकर मेरे डावाँडोल मन को सुलाने का यत्न किया, पर वह तो अनिद्रा रोग से ग्रस्त हो चुका था। उस समय की मनःस्थिति को याद नहीं करूँगा। उन दिनों, और बाद को भी, इर्द-गिर्द के लोग मुझ अस्थिरचित्त नवयुवक को कुछ-का-कुछ समझने लग गये थे। मेरा मन खुद भी मुझे बहका रहा था।

यौवन आया। फिर भी कुशल रही कि यौवन-ज्वर बहुत ऊँचा नहीं गया। हाँ, हलका-हलका तापमान रहने लगा। पर वह नित्य का हलका तापमान तो और भी बुरा था। यह तो मानसिक राजयक्ष्मा का लक्षण हुआ।

फिर मिथ्याकवि के रंग-बिरंगे पंख चिपकाकर कल्पना के आकाश में बहुत कालतक इधर-उधर फड़फड़ाता रहा। मित्रों ने मेरे इस स्वाँग भरने पर शाबासी दी और शायद मैं उनके बहकावे में आ भी गया। अब मैं कवि था, और शायद दार्शनिक भी था, और न जाने क्या-क्या था। मैं अपनी असलीयत को भूल बैठा था।

विवाह-बन्धन में नहीं पड़ा यही सन्तोष था। वह लुभावना फंदा गले में इस डर से भी नहीं डाला था कि जिन स्वजनों से इतना अधिक

स्नेह-दान पाया वे कहीं छूट न जायें। भय था कि नया संसार बस जाने पर मेरा पुराना संसार, जो मुझे प्रिय था, कहीं उजड़ न जाये। आँखों के आगे ऐसा होते मैंने देखा भी था। पर जो डर था वह तो होकर ही रहा। पुराना संसार एकदम तो नहीं उजड़ा, पर उसकी कड़ियाँ एक-एक करके टूटने-बिखरने लगीं। एकाध बार मन में आया भी कि साधारण रीति-नीति का अनुसरण न कर मैंने शायद कोई भारी भूल कर डाली। पर पुस्तक प्रकाश में आ चुकी थी। प्रूफ-संशोधन के लिए गुंजाइश अब नहीं रही थी। और फिर, बाद को तो अपनी कुछ भूलों पर मुझे ममता भी हो गई।

फिर कितने ही वर्षों तक अध्यात्म-रस के लोभ से शब्दारण्य में मुँह उठाये भटकता फिरा, मगर हाथ कुछ भी न आया। न तो आत्मा का रूप चित्त पर उतरा, न अनात्मा का ही। जितने भी चित्र खींचे—सब पानी पर। अन्दर-अन्दर संशयों और प्रश्नों के साथ अधकचरे अध्ययन का कुछ-कुछ वैसा ही संघर्ष चलता रहा, जैसा शतरंज के मोहरों का। किताबी दलीलों से मात देता और मात खाता रहा। भावावेश में जो कभी-कभी थोड़ा क्षणिक आनन्द-लाभ होता था उस लोभ से इस अन्धी शोध को छोड़ते भी नहीं बनता था। यथार्थ में अनात्मदर्शी भी हो गया होता, तो मन की उस अशान्ति का तब भी कुछ-न-कुछ उच्छेद हो जाता। पर अनात्म-दर्शन भी ऐसा सुलभ कहाँ? कैसी विचित्रता है कि न तो सामान्यजन-सुलभ सरल श्रद्धा मेरे भाग्य में आई, न तत्त्व-साधक की धर्म-निष्ठा हाथ लगी, और न भौतिक विज्ञानी का बौद्धिक सहारा ही मिला!

मेरी धर्म-माता ने मेरे डगमगाते पैरों को भक्ति की आधार-शिला पर जमाने का बहुत प्रयत्न किया, पर निस्सत्त्व पैरों में उतना भी बल नहीं रह गया था। फिर भी उस महान् उपकार को भूलूँगा नहीं। उनके स्नेह-भरे संकेत से काँपते-काँपते तुलसी की 'विनय-पत्रिका' का एक बार फिर सहारा लिया, और उससे कुछ-कुछ ढाढ़स बँधा।

फिर कई बरस बाद गांधीजी का प्रकाश-पुञ्ज जीवन सामने आया। देखते-देखते वह एक पुण्यतीर्थ बन गया। सहस्रों यात्री उस तीर्थधाम में पहुँचे। देखा-देखी मैं भी लड़खड़ाता हुआ कुछ दूरतक गया, पर और आगे नहीं बढ़ सका। उस निर्मल निर्झर से, सुनने में आया कि, कितने ही साधकों ने जाकर अपने-अपने जीवन-घट भर लिये। पर जिसके घड़े में छेद-ही-छेद हों, वह वहाँतक पहुँच भी जाता तो क्या भरकर लाता?

स्वीकार करता हूँ कि मैं किसी भी महापुरुष का सच्चा अनुयायी न बन सका, और वैसा भक्त भी नहीं। किसीके भी दीपक से अपने अन्तर का अन्धकार दूर न कर सका। सुना कि दीपक का उजेला तो उसी घर में पहुँचता है, जो उसे अपना सब कुछ अर्पण कर देता है। 'स्वार्पण' की वह भक्ति-भावना स्वभाव से मुझमें नहीं रही। भगवान् बुद्ध ने अपने ही दीपक से अपने आपको आलोकित करने का उपदेश किया था—'अत्तसरणा भवथ अत्तदीपा।' पर इसके लिए भी सम्यक साधना चाहिए। फिर भी बुद्ध के इस अंगुलि-निर्देश से बहुत अधिक आश्वासन मिलता है।

आध्यत्मिक प्रश्न और उनके उत्तर अब पहले की तरह आकृष्ट नहीं करते। न कुछ प्रश्न करने को जी करता है, न उत्तर सुनने को। रोज़-

मर्रा के साधारण विषयों पर बात करना बल्कि अधिक अच्छा लगता है। उस नाते अगर कुछ रुचिकर लगता भी है, तो वैराग्य की ओर कभी-कभी चित्त भटक जाता है। पर वह विश्राम-स्थली इतनी अधिक ऊँचाई पर है कि वहाँतक हाथ नहीं पहुँच पाता। उस अधर लटकते निर्वेद-रस को चख लेने का लोभ सन्त-वाणी ने बढ़ा दिया—यद्यपि राग की लपटों से बुरी तरह झुलस गया हूँ।

फिर अपने साहित्यिक जीवन पर दृष्टि डालता हूँ तो वह भी देखने में सुन्दर नहीं लगता। अधिकांश जो कुछ मैंने लिखा उसमें अनुभूति तो क्या अध्ययन भी बहुत कम रहा। ऐसा खोखला साहित्य असुन्दर तो होना ही चाहिए। ऐसे साहित्य का रचयिता लोगों को प्रायः भ्रम में डाल देता है। उसकी रचनाओं का रंगीन चश्मा चढ़ाकर वे उसका अयथार्थ रूप देखने लग जाते हैं। मेरे बारे में भी बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ। रुखाई और कभी-कभी अविनय के साथ मैंने कई मिलने-जुलने-वालों के भ्रम को दूर करने का यत्न किया; और सफलता मिलने पर सन्तोष भी हुआ। पर मेरी मूढ़ता को तो देखिए कि इतना होते हुए भी मैं 'मसि-जीवन' से पल्ला नहीं छुड़ा सका। माना कि ज्यादावर पेट के लिए ही मैंने लिखा, और अब भी लिखता हूँ, पर कुछ हदतक यह लेखन एक व्यसन भी बन गया है। कुछ मित्र जब-तब यह भी सलाह देते रहते हैं कि मुझे और सब काम छोड़-छाड़कर अपने समय का अधिकांश साहित्य-रचना को ही देना चाहिए। शायद वे इसमें मेरा कुछ लाभ देखते हों। उनके दृष्टिकोण पर मैं क्यों सन्देह करूँ ? पर उनकी नेक सलाह पर मैं अबतक चल नहीं सका, और आगे

भी शायद उनके सुझाये पथ पर नहीं चल सकूँगा। साहित्यकार बनने की यदि मुझमें कुछ पात्रता होती, तो अबतक बन गया होता।

१९१८ से १९२५ तक प्रयाग में रहा, और फिर १९३२ के अंत-तक पन्ना में। ये तेरह-चौदह साल हमेशा याद रहेंगे। दोनों जगह मेरा जीवन-प्रवाह बालू को छूता और पत्थरों से टकराता हुआ प्रवाहित हुआ। प्रयाग में टण्डनजी को पाकर मानों पुण्य को भेंटा; और सम्मेलन से सम्बन्ध जोड़कर कृतार्थ हुआ। वे दिन बड़े अच्छे बीते। छतरपुर के, अपने जन्म-स्थान के, वातावरण में जो दम घुटा जा रहा था उससे यहाँ राहत मिली। बेकारी भी जाती रही और जो जड़ता ने जकड़ रखा था वह स्थिति भी दूर हुई। न वैसी ऊँची उड़ानें भरने का मन हुआ, न अधिक आकांक्षाओं ने ही घेरा। अभाव भी वैसे यहाँ चुभे नहीं। काफ़ी मस्त रहता था।

पन्ना में यह बात नहीं रही। वहाँ जीवन ने पलटा खाया। राज्य का वातावरण मोहक था, पर शान्त और सुखद नहीं। अर्थ-संकट वहाँ भी बना रहा, पर उसे मैं ढकने का प्रयत्न करने लगा। इससे दिखावे को आश्रय मिला। वहाँ जाकर जैसे सुनहरे जाल में फँस गया। शिक्षा-विभाग के कार्य को यदि हाथ में न ले लिया होता, और मान लीजिए, चार-पाँच बरस राज-भवन का अतिथि ही बना रहता, या दूसरों की तरह हाँ-में-हाँ मिलानेवाला बन जाता, तो मेरी क्या दशा हुई होती। मैं बिल्कुल निकम्मा हो गया होता और मुझे पता भी न चलता। कुशल रही कि मैं ऐसा नहीं हो पाया।

फिर भी पन्ना को मैं भूल नहीं सका। विन्ध्य प्रदेश के उन मनो-

रम दृश्यों को कैसे भुलादूँ ? उन हरी-भरी घाटियों को, काली-भूरी चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करती हुई उस केन नदी और उसके प्रपातों को, पूस-माह और वैसाख-जेठ के अपने उन सालाना दौरों को, शिकार के उन हाँकों और मचानों को भला कभी भूल सकता हूँ ? पन्ना-महाराज के छोटे भाई नन्हें राजा का प्रेम-व्यवहार एवं उनकी पत्नी—मेरी धर्म-भगिनी का निश्छल स्नेह भी सदा याद रहेंगे।

अब दिल्ली। यहाँ रहते आज सोलह साल होने को आये—सन् १९३२ से १९४८ तक। यहाँ पूज्य बापू से संपर्क बढ़ा; ठक्कर बापा का पुण्य स्नेह मिला; हरिजन-निवास को बसते हुए देखा; दो बालकों को पुत्ररूप में स्वीकार किया; और जीवन के बहाव को ममताभरी दृष्टि से देखा।

लोगों ने यहाँ माना कि मैं सेवा के क्षेत्र में काम कर रहा हूँ, और साहित्यिक संन्यास ले लिया है। पर मैंने ऐसा नहीं माना। जन-सेवा की जो परिभाषा सुनी, उससे मैं बहुत-बहुत दूर हूँ। यह कोरी नम्रता की बात नहीं है। एक शिक्षण-संस्था के साधारण-से व्यवस्था-कार्य को लोक-सेवा का नाम कैसे दूँ ? सेवा करते-करते तो मन निर्मल और स्थिर हो जाता है, हृदय अधिक-अधिक विकसित होता है, और अहंकार का पर्दा हट जाने से 'स्वरूप' स्वयं ही सामने आजाता है। अबतक तो ऐसा कुछ अनुभव हुआ नहीं। लोक-सेवक को, हाथ में विवेक का दीपक लेकर, साधना के कठिन पथ पर चलना पड़ता है। मैंने तो उस पथ पर पैर भी नहीं रखा। हज़ारों आदमी दफ्तरों और कारखानों में मुझसे कहीं अधिक परिश्रम का काम करते हैं। फिर भी उनके दिनभर

क़लमें घिसने और पसीना बहाने को कोई सेवा-कार्य नहीं कहता। मैं दूसरों की नहीं जानता, पर मेरे साथ जब लोक-सेवा का ग़लत अर्थ जोड़ा जाता है तब लज्जा व ग्लानि-सी होती है।

हाँ, दिल्ली में मेरा जन-परिचय का क्षेत्र अवश्य बढ़ गया। कितने ही साहित्यकारों, समाज-सेवकों और कई राष्ट्र-नेताओं से यहाँ जान-पहचान हुई। कुछ असमान व्यक्तियों के साथ भी मित्रता का सम्बन्ध जुड़ा। पर असल में सम्पूर्णतया कौन तो किसके समान है और कौन असमान? समान और असमान आंशिक रूप में ही तो अर्थ को वहन करते हैं। अस्तु; ऐसे असमान कहे जानेवाले मित्रों में मुख्य श्री घनश्यामदास बिड़ला हैं। यों तो वे शुरू से ही हमारे हरिजन-सेवक-सघ के अध्यक्ष रहे। पर स्वतंत्र रूप से भी मेरा उनके साथ एक मित्र के जैसा नाता बन गया। इसपर यदा-कदा मेरी टीका-टिप्पणी भी खूब हुई। चूँकि घनश्यामदासजी श्रीमन्त हैं, इसीलिए उनसे दूर-दूर रहने की मुझे, मेरी हित-चिंतना की दृष्टि से, सलाह दी गई—इस भय से कि कहीं मैं उनकी हाँ-में-हाँ मिलानेवाला न बन जाऊँ। पर अनुचित रूप में 'जी हाँ-वादी' तो मैं किसीका भी नहीं बना; न किसी श्रीमन्त का, न किसी लोक-नेता का। अपने आप पर मेरा इतना भरोसा तो रहा ही। मुझसे प्रायः पूछा गया—एक पूँजीपति के साथ तुम्हारी यह मैत्री कैसी? प्रत्येक पूँजीपति मानो अस्पृश्य है, और उसके साथ हमारी अमैत्री ही होनी चाहिए! जो विचार-तुला मानव को भुलाकर केवल उसके ऊपरी आवरणों को ही तोला करती हो उसके परिणामों की यथार्थता पर कैसे विश्वास करूँ? मानव-मानव के

सम्बन्ध में ये विचित्र वर्ग और वाद क्यों दख़ल दें? घनश्यामदासजी बस मेरे मित्र हैं, फिर वे चाहे कुछ भी हों। उनमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं, जैसी कि आकार-प्रकार-भेद से हर किसी मनुष्य में होती हैं। मुझमें ही कितनी सारी अपूर्णताएँ भरी पड़ी हैं। फिर किसीका भी सच्चा निष्पक्ष टीकाकार या निर्णायक कौन हो सकता है? आलोचक और आलोच्य के बीच न्यूनाधिक रूप में सापेक्ष्य सम्बन्ध ही तो होता है। मैं तो घनश्यामदासजी के कतिपय सद्‌गुणों का आदर करता हूँ। कितनी ही बातों में उनसे मेरा मत नहीं मिला, और यह आवश्यक भी नहीं। औरों की तरह उनके भी कुछ कच्चे-पक्के विचार हैं। उन्होंने जल्दी में प्रायः अनुकूल या प्रतिकूल मत बना लिया, यह भी कभी-कभी मुझे अच्छा नहीं लगा, पर वहाँ भी मैंने उनमें सचाई और सरलता ही देखी। प्रतिपक्षी के प्रति कभी-कभी कटुता तो प्रकट की, फिर भी उसका बुरा नहीं चाहा। वैज्ञानिक की जैसी सूक्ष्म बुद्धि पाकर भी हृदय अतिशय भावनाशील रहा, जिससे बहुत बार उन्हें चोट भी लगी। भिन्न मत रखते हुए भी बड़ों के प्रति श्रद्धा और छोटों के प्रति स्नेह-भाव में भरसक कमी नहीं आने दी। माता-पिता एवं गांधीजी तथा सबसे ज्येष्ठ भ्राता के प्रति उनमें आदर्श श्रद्धा-भाव देखा। मेरी मित्रता का एक मुख्य कारण यह भी हुआ कि घनश्यामदासजी ने कभी कुलशील का परित्याग नहीं किया। और कुलशील ही तो मनुष्य के चारित्र्य की आधार-शिला है।

मगर उनकी व्यापार-नीति? बहुधा पूछा गया कि क्या वह सर्वथा दूध की धुली रही? मैं गहराई में नहीं गया, न जाना चाहता हूँ। मैं तो इतना ही कहूँगा कि जिस मनुष्य का चरित्र स्वच्छ रहा

हो उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ना ही चाहिए। ऐसे मनुष्य की नीति दूध की धुली न सही, पानी की धुली तो होनी ही चाहिए। वह गन्दगी को खुशी-खुशी अपना नहीं सकता।

फिर मैं यह कब कहता हूँ कि जिस दृष्टि से मैं अपने मित्रों को देखता हूँ उसी दृष्टि से दूसरे भी उन्हें देखें। इस बात को अवश्य मानता हूँ कि जिस किसीके साथ मेरा मैत्री-सम्बन्ध जुड़ जाता है, उसके घर की हरेक चीज़ को मैं खिड़कियों व झरोखों से झाँक-झाँककर नहीं देखा करता। खुफिया पुलिस का काम मुझसे नहीं हो सकता; यह स्वभाव के विपरीत है।

घनश्यामदासजी को मैंने समीप से देखा, और उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व और चरित्र ने मुझे खींच लिया। उन्होंने भी मुझपर विश्वास किया। मित्रता का यही तो एकमात्र आधार है। मुझे अपने मैत्री-सम्बन्ध को किसी सभा या न्यायालय में सिद्ध करने नहीं जाना। घनश्यामदासजी के कारण उनके परिवार के सभी छोटों-बड़ों के प्रति स्नेहभाव हो गया। कलकत्ते के श्रीभागीरथमल कानोड़िया के साथ भी मेरा ऐसा ही मैत्री-सम्बन्ध है। संयोग से उनकी भी गणना पूँजीपतियों में होती है। पर मेरे तो कितने ही नाना मत रखनेवाले स्नेही मित्र हैं। उनमें धनी भी हैं, दरिद्र भी हैं; सुधारवादी भी हैं, रूढ़िवादी भी हैं; और प्रगतिशील तथा प्रतिगामी भी हैं। उनके नामों की लम्बी सूची देना अनावश्यक है। ऊपर ये एक-दो नाम तो बाध्य होकर देने पड़े।

परिवार की चर्चा पिछले एक प्रकरण में विस्तार के साथ कर चुका

हूँ, यद्यपि मोह-ममतावश फिर उसी ओर ध्यान जा रहा है। छूटने को चाहा भी, पर उलटे उलझता गया। सोचता हूँ कि यदि कहीं मुझे अपने प्रति श्रद्धा-भक्ति का प्रतिदान मिला होता, तो शायद इस सुनहरे जाल में और अधिक उलझ गया होता। अच्छा ही हुआ कि उत्तर में मैंने प्रायः कुछ उपेक्षा ही पाई। फलतः श्रद्धा-भाजन बनने की आकांक्षा अपने आप दुर्बल पड़ गई। फिर भी स्नेह-भाव भीतर-भीतर उमड़ता ही रहा, जो निश्चय ही मेरी जीवन-यात्रा में एक शुभ और स्वच्छ चिह्न है।

कभी-कभी अपने आस-पास वैर-भाव पनपते देखा और उससे मैं व्यथित हो गया। प्रेम के प्रयोग-पर-प्रयोग सुझाये और किये, पर प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुए। तो भी विश्वास दिन-दिन बढ़ता ही गया कि यदि प्रेम में मोह की मिलावट न हो, तो अन्त में वह वैर पर अवश्य विजय पाता है। प्रेम के अद्‌भुत चमत्कार को देखने के लिए मैं सदैव व्याकुल रहा। अपने परिवार में हो या कहीं भी जब-जब जहाँ वैर-विरोध के विषैले पौदे को पनपते देखा, तब-तब उसकी जड़ें काटने को व्याकुल हो उठा—यह देखते हुए भी कि उसके मूलोच्छेद करने की शक्ति मेरे निर्बल हाथों में नहीं है। आश्चर्य होता है कि इस विष-बेलि को अहंकार का पानी दे-देकर पनपने ही क्यों दिया जाता है। अपने आसपास उसे देखकर या उसकी तीव्र गन्ध पाकर ही मेरा तो दम घुटने लगता है, जैसे आग के बीचो-बीच सड़ायँद के साथ-साथ जल-भुन रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि ऐसा अंतर में छिपी अहिंसा की भावना से होता है या किससे।

और हरिजन-निवास पर अधिक क्या लिखूँ। यह तो प्रतिच्छ

आँखों के आगे रहा है। पूज्य बापू का वह साकार आशीर्वाद है; श्रद्धेय बापा के तप का मधुर फल है। यह बात दूसरी है कि मैं उस पुण्यस्थल से कोई लाभ नहीं उठा पाया। गंगा के तट पर बैठा रहा, फिर भी प्यासा-का-प्यासा!

यह है अबतक का, यहाँतक का मेरा अपना जीवन-प्रवाह। मैं स्वयं भी या कोई दूसरा इस प्रवाह के बारे में कुछ भी राय बनाले, वह तो अपने रस में ऐसा ही बहता आया है, और कौन जाने, कबतक इसी तरह बहता रहेगा।

सूने-विहूने किन्तु सुहावने घाट पर खड़ा हूँ, और देख रहा हूँ प्रवाह पर पल-पल पड़नेवाली अगणित अनित्य संस्कारों की झिलमिल छाया। बस, आज तो इतना ही—बन पड़ा तो फिर कभी आगे और।